अन्धकारवाद

(विद्वत्सङ्गोष्ठी)

प्रकाशक :

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

प्रकाशक :
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
कंसारा बजार, मांडवी-कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५
फोन : (०२८३४) २३१४६३

सम्पादक :
गोस्वामी शरद्

प्रथम संस्करण : वि.सं. २०६६ वल्लभाब्द : ५३२

प्रति : ५००

ग्रन्थप्रकाशन सहाय : रु. २००/

WWW.PUSHTIMARG.NET

मुद्रक :
श्रीवल्लभ बुक मेन्युफेक्चरिंग् कं. लि., ५५/४६ सिटिमील कम्पाउंड्,
कांकरीआ रोड, अमदावाद, गुजरात

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

सेमिनार:

१. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा, गांधीनगर
२. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे
३. वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात
४. पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाप्रणाली, मुम्बई
५. अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा, पुणे
६. सेवा-समर्पण, मुम्बई
७. कार्यकारणभावविचार, वडोदरा-गुजरात
८. प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे
९. अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात
१०. कथायां वा/गुणगान साधना, मुम्बई
११. शरणागति, मुम्बई
१२. पुष्टिभक्तिसाधनामें प्रतिबन्ध
१३. जघन्याधिकार संगोष्ठी
१४. पुष्टिमार्गीय फल-१
१५. World Philosophy Conference, Delhi (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
१६. International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni. of Gujarat)

अध्ययनसत्र:

१. तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली.
स्थान : श्रीवल्लभाचार्य गुरुकुल, चोकी-जुनागढ, गुजरात
२. वेदान्तसार. स्थान : श्रीवल्लभाचार्य गुरुकुल, चोकी-जुनागढ, गुजरात
३. न्यायशास्त्र. स्थान : श्रीवल्लभसुखधाम, कांदीवली, मुम्बई

ग्रन्थप्रकाशन :

<u>साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:</u>

१. प्रवेशिका, लेखक : गो.शरद् (गुजराती)	१०
२. प्रवेशिका लेखक : गो.शरद् (अंग्रेजी)	निःशुल्क
३. पुष्टिप्रवेश-१ लेखक : गो.शरद् (गुजराती)	१०
४. पुष्टिप्रवेश-२ लेखक : गो.शरद् (गुजराती)	१०
५. पुष्टिप्रवेश-१-२ लेखक : गो.शरद् (हिन्दी)	१०
६. पुष्टिपथ, लेखक : गो.शरद् (गुजराती)	
७. पुष्टिपथ, लेखक : गो.शरद् (हिन्दी)	
८. प्रमेयरत्नसंग्रहलेखक : गो.शरद् (गुजराती)	२०
९. Manual of the Devotional Path of Pushti लेखक: गो. शरद्	६५

<u>साम्प्रदायिक विचारगोष्ठीमें प्रस्तुत हुवे</u>
विभिन्न शोधपत्र तथा उनपर हुई विशद चर्चा का संग्रह

१०. वार्तापरिचर्चा	१५

११. साधनाप्रणाली संगोष्ठी (हिन्दी-गुजराती) ५०
१२. अधिकारपरिचर्चा (हिन्दी-गुजराती) १००
१३. पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी (हिन्दी-गुजराती) ५०
१४. शरणागति विचारगोष्ठी (हिन्दी-गुजराती) ५०
१५. शरणागति विचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी(गुजराती) निःशुल्क
१६. सेवा समर्पण (हिन्दी-गुजराती) ५०
१७. जघन्याधिकार संगोष्ठी (हिन्दी-गुजराती) ८०
१८. पुष्टि भक्ति और प्रपत्ति में प्रतिबन्ध (हिन्दी-गुजराती) १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनारमें प्रस्तुत हुवे

विभिन्न शोधपत्र तथा चर्चा का संग्रह (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)

१९. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा २००
२०. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
२१. कार्यकारणभाव विद्वत्सङ्गोष्ठी २००
२२. प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
२३. अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा २००

नित्यस्तोत्रपाठः

२४. पुष्टिपाठावली (हिन्दी) १०
२५. पुष्टिपाठावली (गुजराती)अजिल्द/सजिल्द १०/२०
२६. पुष्टिविधानम् (पाठावली-व्रजभाषा) अप्राप्य
२७. पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, गुज.) अप्राप्य
२८. पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(संक्षिप्तगुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थः

२९. पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०
३०. ComputerCD:www.pushtimarg.net अप्राप्य
३१. Summary of Shuddhadvaita Vangmaya. लेखक : गो.शरद् १५

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थः

३२. पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय १००
३३. पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषा)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका ८०
३४. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) श्रीवल्लभाचार्य विरचित, साधारण/राजसंस्करण ५०/७०
३५. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) श्रीवल्लभाचार्य विरचित, साधारण/राजसंस्करण ८०/१००

३६. श्रीभागवतमहापुराण, चार खण्डमें (गुर्जरभाषानुवाद) ३००
३७. भागवतार्थप्रकरण (तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत) गुर्जरभाषानुवाद अनुवादक : गो.वा. श्रीनानुलाल गांधी १००
३८. विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
३९. गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
४०. गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
४१. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
४२. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५
४३. श्रीकृष्णचरित्र/दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी ८०
४४. श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक : पूर्ववत्. पदच्छेद-अन्वय-शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय-शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण गुजराती अनुवाद सहित ५०
४५. रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
४६. सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
४७. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो, (गुजराती) ७०
गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ महाप्रभु स्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौन्दर्यपद्य, सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र, पञ्चश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद.
४८. विशोधनिका (गुजराती) लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
४९. ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
५०. भक्तिवर्धिनी (गुजराती), विवेचक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
५१. पुष्टिअस्मिता संवर्धक शिविर, भरूच, राष्ट्रीय संमेलन २५
५२. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ[हिन्दी], विवेचक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
५३. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ[गुजराती], विवेचक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
५४. अमृतवचनावली(हिन्दी) प्राचीन-अर्वाचीन-आधुनिक गो.आचार्योंके वचनामृत निःशुल्क
५५. हमकुं इतनी समझ भली : अमृतवचनावली(गुजराती) निःशुल्क
५६. कृष्णाश्रय, टीका : श्रीकल्याणरायजी + गुजराती अनुवाद. ०७
५७. सेवाकौमुदी (नवधाभक्ति), हिन्दी
लेखक : श्रीलालूभट्टजी, व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
५८. पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (गुजराती)
लेखक : श्रीगुसांईजी, व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
५९. षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ (गुजराती)

लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया ५०

६०. षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ (गुजराती)

लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया ५०

६१. आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली का आपसी टकराव निःशुल्क

६२. आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली नो आपसी टकराव गुजराती निःशुल्क

६३. श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण पंचशताब्दिमहोत्सव गुजराती २

चित्र :

१. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य. 9" X 11" (निःशुल्क) पोस्टेज-पेकेजिंग ८

२. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण. 9" X 11" (निःशुल्क) पोस्टेज-पेकेजिंग ८

सहयोग प्रकाशनः

श्रीभागवतसुबोधिनी गुर्जरभाषानुवाद. अनुवादकः गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी

१-११ दशमस्कन्ध अप्राप्य

१२. एकादशस्कन्ध अप्राप्य

१३-१५ तृतीयस्कन्ध अप्राप्य

१६. द्वितीयस्कन्ध अप्राप्य

१७. श्रीगुसांईजी विरचित दशमस्कन्ध टिप्पणी अप्राप्य

१८. Srimad Vallabhacharya, His Philosopohy and Life, Prof. J. G. Shah 100

१९. Srimad Vallabhacharya, His Philosopohy and Religion, Prof. J. G. Shah 300

२०. Sri Vallabhacharya and His Teachings, Dr.Chimanlal Vaidya 100

२१. Doctrines of Vallabhacharya, Ishverbhai S. Amin 100

▶ गोशाला : मांडवी-कच्छ, गुजरात

▶ पुष्टिसाहित्यविक्रय केन्द्र, नन्दचौक, गोकुल

संचालनः श्रीवल्लभाचार्य व्रजसंस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल

▶ छात्रालय (गोकुल): संस्कृतका अध्ययन करते विद्यार्थीओंकेलिये

संचालनः श्रीवल्लभाचार्य व्रजसंस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल

▶ जीर्णोद्धार : तृतीय पुत्र श्रीबालकृष्णजी बैठकजी (विंजाण-कच्छ)

संचालन : श्रीबालकृष्णजी बैठकजी जीर्णोद्धार समिति

▶ छात्रवृत्ति (गोकुल-वाराणसी-पूना)

▶ Encyclopedic CD ROM comprising of entire original Sanskrit writings of Acharyas along with Vraj, Hindi, Gujarati & English literature written on the base of such writings.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्

खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी

खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

२. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

३. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण

खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५

खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

४. प्रकाश-रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ

खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ

खंड ३. द्वितीयाध्याय

खंड ४. तृतीयाध्याय

खंड ५. चतुर्थाध्याय

५. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध

खंड ४. जन्मप्रकरण

खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण

खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण

खंड ७. तामसफलप्रकरण

खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः, उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः, भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः,

शंखचक्रधारणवादः,भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादि-प्रकारवादः,
जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः
शंकानिरासवादः.

१२. पुष्टिविधानम् गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण

१३. सव्याख्यश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

१४. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

१५. वादावली : ब्रह्मवादः, वादकथा, विग्रहवादः, प्रपञ्चवादः, प्रपञ्चसंसारभेदवादः, ब्रह्म-जीव-तदैक्य-स्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वनिरूपणम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितप्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः.

१६. श्रीउदयनग्रन्थावली खण्ड-१

१७. श्रीउदयनग्रन्थावली खण्ड-३

४ क्र. १, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ. हो. ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

प्रकाश्य :

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी: तृतीयस्कन्ध, राजस साधन-फल प्रकरण, सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण, गुण प्रकरण, एकादशस्कन्ध

श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित: वादावली खंड १, गीता टीका, उपनिषत् टीका उत्सवप्रतान-अपराधनिरूपणम् आदि

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

-वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह हिन्दी
-विवेक हिन्दी
-पुरुषोत्तमयोग गुजराती-हिन्दी
-नवरत्नम् गुजराती-हिन्दी
-सिद्धान्तनुं आचमन गुजराती
-पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद गुजराती
-भक्तिवर्धिनी, गुजराती पीपरीया
-श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप हिन्दी
-शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी गुजराती
-धर्मअर्थकाममोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना हिन्दी-गुजराती
-भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार: एक प्रश्नोत्तरी गुजराती
-पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार गुजराती
-रसदृष्टिनी तरफेणमां हिन्दी-गुजराती
-विशोधनिका (चार खंड) गुजराती-हिन्दी
-गृहसेवा और व्रजलीला गुजराती-हिन्दी
-श्रीयमुनाष्टकम् हिन्दी
-सिद्धान्तसूक्ति गुजराती
-सेवाकौमुदी हिन्दी
-नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण गुज-हिन्दी
-सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ गुजराती-हिन्दी

सम्पर्क :
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी, ४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई-५६. फोन: (०२२) २६१४४३२६

एम्.पी.थ्री तथा वीडीओ सी.डी. (२००९ पर्यन्त)

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला)

एम्.पी.थ्री सी.डी :

सर्वोत्तमस्तोत्रम् वर्ष ९५ से २००८ पर्यन्त, कुल ३२ सी.डी.
साधनप्रकरणम् ९८-०८ एम्.पी.थ्री.२३, वी.सी.डी. ०५-०८ कुल१२
पुष्टिविधानम्, ४ सी.डी.
वल्लभवचनामृत ९८-२००१, २००३/४,५,७; कुल १२ सी.डी.
पञ्चश्लोकी, गुजराती, २ सी.डी.
सिद्धान्तमुक्तावली (किशनगढ) ब्रजभाषा
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, गुजराती, १ सी.डी.
सिद्धान्तरहस्यम्, राजकोट, गुजराती, कुल २ सी.डी.
नवरत्नम्, १ सी.डी.
भक्तिवर्धिनी, गुजराती, १ सी.डी.
भक्तिवर्धिनी, हिन्दी २ सी.डी.
अन्तःकरणप्रबोध, १ सी.डी.
सेवाफल, १ सी.डी.
पत्रावलम्बनम्, गुजराती, २ सी.डी.
सिद्धान्तवचनावली, गुजराती, एम्.पी.थ्री. ३, वी.सी.डी. ३२
गोपीगीत, २ सी.डी.
प्रश्नोत्तरी (मुंब,राजकोट,गोंडल,अहमदाबाद,अमरेली,जुनागढ) १ सी.डी.
भगवद्गीता, गुजराती अध्याय ४(अपूर्ण)९, १२, १५; कुल ७ सी.डी.
पुष्टि अस्मिता, गुजराती, १ सी.डी.
गृहसेवा और व्रजलीला, १ सी.डी.
सेवाकौमुदी, गुजराती, जुनागढ, २ सी.डी.
षोडशग्रन्थ पाठ, १ सी.डी.
पत्रावलम्बन, २ सी.डी.
विशोधनिका, २ सी.डी.
वल्लभवेदान्तान्तर्गत भागवतका 'स्थान' १सी.डी.

बालकोंकेलिये
-ब्रह्मवाद, एम्.पी.थ्री. १, वी.सी.डी. २
-सिद्धान्तरहस्य, एम्.पी.थ्री. १
-भक्तिवर्धिनी, एम्.पी.थ्री. १

वीडीओ सी.डी.

सर्वोत्तमस्तोत्रम् १९९९,२००२-०८, कुल १५१ सी.डी. (वर्ष ९५,९७,९८ शीघ्र)
पुष्टिमार्गमें नन्दोत्सव ऐतिहासिक नहीं शाश्वत है
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा पक्षग्रहण, ३ सी.डी.
प्रश्नोत्तरी (गोंडल) १

गोस्वामी श्रीभूषणकुमारजी (मांडवी-गोकुल)
जयपुर प्रवचन १ सी.डी.

गोस्वामी श्रीपंकजकुमारजी (मांडवी-गोकुल)
शिक्षाश्लोकाः राजकोट, १ सी.डी.
प्रमेयरत्नार्णव जगत्-जीव-ब्रह्म, १ सी.डी.

गोस्वामी श्रीयोगेशकुमारजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)
साधनदीपिका, उरण-देवलाली-पूना-कांदीवली ६ सी.डी.
प्रमेयरत्नार्णव जगत्-जीव-ब्रह्म-पुष्टि-अधिकार-सर्वात्मभाव-फल ७ सी.डी.
कृष्णाश्रय सुरत, एम्पीथ्री १, वीसीडी १२
सिद्धान्तमुक्तावली, आणंद

सिद्धान्तरहस्य, राजकोट
चतुःश्लोकी, भरूच
पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रम्, मुंबई
सेवाकौमुदी, हालोल

प्रमेयरत्नार्णव
-जगत्-जीव-ब्रह्म एम्पीथ्री २
-पुष्टि-पुष्टिभक्ति अधिकार एम्पीथ्री ३
-सर्वात्मभाव-फल एम्पीथ्री १

गोस्वामी श्रीशरद्कुमारजी (मांडवी)

बालबोध-चतुःश्लोकी, [एम्पीथ्री १, बीसीडी १०]
सिद्धान्तमुक्तावली, [एम्पीथ्री १]
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, [एम्पीथ्री १, वीसीडी ११, डीवीडी २]
सिद्धान्तरहस्य, [एम्पीथ्री १, बीसीडी ११]
नवरत्न, [एम्पीथ्री १, वीसीडी १०]
अन्तःकरणप्रबोध, [एम्पीथ्री १, वीसीडी १०]
विवेकधैर्याश्रय, [एम्पीथ्री १, डीवीडी २]
कृष्णाश्रय, [एम्पीथ्री १, वीसीडी १०, डीवीडी २]
भक्तिवर्धिनी, [एम्पीथ्री १, वीसीडी १०, डीवीडी २]
संन्यासनिर्णय, [एम्पीथ्री १, डीवीडी २]

धर्म-आत्मधर्म, धर्म-धर्मसम्प्रदाय-गुरु-उपास्य-सिद्धान्त एम्पीथ्री १

प्रमेयरत्नार्णव : -जगत्-जीव-ब्रह्म [एम्पीथ्री ३]
-पुष्टि-पुष्टिभक्ति अधिकार [एम्पीथ्री २]
-सर्वात्मभाव-फल [एम्पीथ्री ३, वीसीडी २१, डीवीडी ४]

बालशिविर (गोकुल), विषय : उच्चारशुद्धि, सामान्य-विशेष धर्म, सम्प्रदाय, देवता, तिथि-पक्ष-मास-ऋतु-उत्सव, जीवात्मा

बालशिविर, हालोल

बालशिविर (बेटशङ्खोद्धार), विषय : कर्मफल-पुनर्जन्म, जीवात्मा, सात्विक-राजस-तामस-निर्गुण, चतुःश्लोकी, कृष्णचरित्र-द्वारकालीला

बालशिविर (नाशिक), विषय : यहूदीधर्म ईसाईधर्म इस्लामधर्म जैनधर्म बौद्धधर्म

अन्य सी.डी.

पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिबिर-१, स्थान : भरूच
शरणागति चिन्तन शिबिर-२, स्थान : हालोल
शरणागति चिन्तन शिबिर-३, स्थान : राजकोट

सी.डी. प्राप्त करनेके स्थान :

(अपेक्षित सी.डी. प्राप्त करनेकेलिये लिखित पूर्वसूचना देनी आवश्यक है)

श्रीमती कल्पनाबेन काणकीया, काणकीया हाउस्, स्वस्तिक सोसायटी, जुहु क्रोस् रोड नं. ४, विलेपार्ले (पश्चिम), मुंबई-५६, फोन :(०२२)२६१३४९४२

पुष्टिअस्मिता संवर्धन केन्द्र, सायं ६ से ८, रजपूतपरा, राजकोट, गुजरात.
फोन : ९४२७४९५१५९

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बजार, मांडवी - कच्छ, गुजरात, ३७०४६५.
फोन : ०२८३४-२३१४६३

प्रकाशकीय

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट (मांडवी-कच्छ) द्वारा सन् मई, २००४ में पूणेमें **अन्धकारवाद** (The nature of darkness) विषयपर समायोजित विद्वत्सङ्गोष्ठीमें प्रस्तुत हुवे आलेखपत्रों एवं उन पर हुई चर्चा को सङ्गोष्ठ्युत्तरलेख सहित ग्रन्थाकारमें प्रकाशित करते हुवे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है.

यहां यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक विज्ञान सहित सुस्थापित भारतीय-अभारतीय प्राचीन-अर्वाचीन आस्तिक-नास्तिक प्रायः सभी दार्शनिक विचारधाराओंने 'अन्धकार'के विषयमें अपना कुछ-न-कुछ अभिप्राय प्रकट किया ही है. किन्तु इस रहस्यपूर्ण विषय पर विभिन्न मतोंकी संकलित प्रस्तुति करनेवाला कोई ग्रन्थ अद्यापि पर्यन्त उपलब्ध नहीं था. अतीव हर्षका विषय है कि इस पुनीत कार्यको करनेका सौभाग्य श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्टको प्राप्त हुवा है. हमें विश्वास है कि इस प्रयाससे तत्त्वबुभुत्सुजनोंको अवश्य हार्दिक प्रसन्नता होगी.

पूर्वमें सामायोजित सङ्गोष्ठीओंकी ही तरह इस सङ्गोष्ठीमें हुवे वक्तव्य एवं उनपर हुई चर्चा का भी आद्योपान्त ध्वनिमुद्रण किया गया था. ध्वनिमुद्रित केसेट्स्की सहायतासे चर्चाको लिपिबद्ध करके सङ्गोष्ठ्युत्तरलेख सहित उनका प्रकाशन किया जा रहे है. सङ्गोष्ठ्युत्तरलेख आचार्यवर्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) लिखित है.

ध्यातव्य है कि चर्चाके समय केसेट् बदलने, अस्पष्ट-अपूर्ण या एक साथ बोलने जैसी परिस्थितिमें संवाद/वक्तव्यके जो अंश श्राव्य नहीं थे उन अंशोंको तत्-तत्स्थानोंमें '...' तीन विरामचिह्नोंसे द्योतित किया गया है.

विशेषमें, सङ्गोष्ठीमें आलेखोंकी प्रस्तुति जिस क्रमसे हुई थी उस क्रमको अध्येताओंके सौकर्यार्थ बदलकर नूतन क्रममें योजित किया गया है.

अन्तमें, इस सङ्गोष्ठीमें सहृदय भावसे सम्मिलित होकर प्रस्तावित विषयपर वैदुष्यपूर्ण आलेखोंकी प्रस्तुति करने एवं चर्चामें भाग लेनेकेलिये हम सभी विद्वज्जनोंके प्रति हृदयसे आभारी हैं. साथ ही साथ सङ्गोष्ठीके आयोजनको सफल बनानेकेलिये सङ्गोष्ठीके अनेकविध कार्योंको अपना कार्य समझकर तत्परतासे हाथमें ले लेनेवाले सहृदयी वैष्णवोंकी सम्प्रदायनिष्ठा भी अविस्मरणीय है.

श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रादुर्भावोत्सव — श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा

वल्लभाब्द ५३२, वि.सं.२०६६ — शरद् गोस्वामी

WWW.PUSHTIMARG.NET

।। विषयानुक्रम ।।

गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण	अन्धकारवादः	१
लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य	तमोवादसङ्ग्रहकारिकाः	१३
	अन्धकारावादका हिन्दीभाषानुवाद	१५
	तमोवादकारिकाका हिन्दीभाषानुवाद	३२
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर	विषयप्रवर्तन	३४
प्रो. वशिष्ठनारायण झा	वक्तव्य	३६
	चर्चा	४५
डॉ. बलिराम शुक्ल	अन्धकारवादः	४९
	चर्चा	५८
	संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्	६३
डो. सच्चिदानन्द मिश्र	अन्धकार भाव है या अभाव?	६७
	चर्चा	८४
	संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्	८८
डॉ. बी. के. दलाई	Concept of Tamas according to Jainism	९३
	चर्चा	१०३
डॉ. के. ई. देवनाथन	विशिष्टाद्वैतिसम्मतम् अन्धकारस्वरूपम्	१०५
	चर्चा	१११
प्रो. प्रह्लादाचार्य	द्वैतसिद्धान्तसम्मतम् अन्धकारस्वरूपम्	११३
	संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्	१३०
प्रो. पारसनाथ द्विवेदी	वाल्लभ-शांकरवेदान्तयोः अन्धारविषये तौलनिको विमर्शः	१३३
	चर्चा	१३७
	संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्	१४४
डॉ. मणि द्राविड	विवरणप्रस्थानदृष्ट्या तमःस्वरूप-विवेचनम्	१५३

	चर्चा	१५९
	संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्	१६५
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर	तमसके विभिन्न स्वरूप और उनकी अनुभूतिओं के बारेमें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार (वाल्लभ दृष्टिकोणसे)	१७२
	चर्चा	२१२
	संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्	२२५
डॉ. पारसनाथ द्विवेदी	वल्लभमतसापेक्षं सौगतमते तमोविमर्शः	२४३
	संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्	२५६
डॉ. अंकित गोस्वामी	Darkness and Its Application In Chemical and Biocamical Process	२७४
	चर्चा	२८२
प्रो. वी. जी. भीडे	The Nature of Darkness From the Viewpoint of Astrophysics	२८७
	चर्चा	२९७

।।अन्धकारवादः।।

(मङ्गलाचरणेन उपक्रमः)

दर्शय नाथ गुहायां तमोवृतायां स्वतः समागत्य।।
मुचुकुन्दइव शयाने मयि कृपयानेहसापि वपुः।।१।।

(तमसो अभावरूपत्वाद् न आवरणरूपत्वम् इति आक्षेपः)

(अभावत्वात्तमस्तावत्स्वानुयोगिविशेषणम्।।
विशेष्यावरणत्वं हि न तस्मादुपपद्यते।।२।।)[१]

ननु इदम् अयुक्तम्, अभावरूपेण तमसा गुहावरणस्य असम्भवदुक्तिकत्वात्. नच *भावमुखप्रत्ययेन तस्य भावरूपत्वं शङ्कनीयं, तस्य भ्रमरूपत्वात्. तादृशप्रत्ययेनापि तस्य सिद्ध्यङ्गीकारे मरुमरीचिकायां जलप्रत्ययेन जलमपि सिद्ध्येत. नच *बाधाभावात् तस्य प्रमात्वमेव* इति शङ्कनीयम्, आकाशनैल्यवद् अप्रयोजकत्वात्.

(षड्विधाभावे अनन्तभावात् तमसो अतिरिक्तपदार्थत्वनिरूपणं भाट्टमतेन)

अत्र भाट्टाः[पा.भे.१] *"तमः तावत् सामान्यविशेषसमवायेभ्यो अतिरिक्तं स्वाश्रयाविषय-लौकिकप्रत्यक्ष-विषयत्वात् वाय्वानीत-चम्पकावय-

---

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

अन्धकारप्रकाशिका

(विषमस्थलटिप्पणी)

मुधा तस्य त्यागो यदिह परिलब्धं ममतया
भवेत् त्वद्भोगार्हं यदितु वरमस्मान्नहि परम्।
प्रधावन् आयातात् कुपितजननीनेत्रभयतो
मदीये हृद्ध्वान्ते तव निलयनायातिगहने।।

१. इह पूर्वपक्षसंग्रहकारिका मद्योजिता अवगन्तव्या(श्या).

वसमवेत-गन्धादिवत्''. ''कर्मणोऽपि अतिरिक्तं, संयोगाद्यसमवायिकारणताभावात्''. ''गुणेभ्योऽपि अतिरिक्तं, द्रव्यासमवेतत्वाद् गगनादिवद्'' इति अनुमानेन द्रव्यातिरिक्तपदार्थभेदसिद्धिः. नच *गुणभेदहेतुः स्वरूपासिद्धः* इति शङ्क्यं, तमसो द्रव्यसमवेतत्वासम्भवात्. ''तमो न दिक्-कालात्म-मनो-व्योम-वायुषु समवेतं, लौकिकचाक्षुषविषयत्वाद् रूपादिवत्''-''न तेजस्समवेतं तेजोऽविषयक-लौकिकप्रत्यक्ष-विषयत्वात् पीतादिवत्''-''न भू-जल-समवेतम् आलोकाजन्य-लौकिकचाक्षुष-विषयत्वाद्'' इत्याद्यनुमानैः द्रव्यासमवेतत्वसाधनात्. नापि क्लृप्तद्रव्यान्तःपाती पृथिव्यादिनवक-विरुद्धधर्माध्यासात्. तथाहि ''न अवनिः गन्धहीनत्वाद्, अशुक्लत्वात् च न उदकं, न तेजः कृष्णरूपत्वाद्, रूपवत्त्वात् च न इतरद्'' इति. एवं पृथिव्यादिवैधर्म्ये रूपवत्त्वाद् द्रव्यान्तरमेव तमः. *ननु इदं समवेतम् असमवेतं वा? न आद्यो, जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति स्पर्शवत्त्वेन हेतुत्वात् तमसः च अस्पर्शत्वात् तदवयवेऽपि स्पर्शाभावानुमानस्य शक्यत्वात्. न द्वितीयः, समवेतस्वरूपद्रव्यस्य अणुत्वनियमेन अप्रत्यक्षत्वापत्तेः* इति चेत् न, द्वितीयनियमे मानाभावात्, तमसो नित्य-द्रव्यत्वाभ्युपगमे लाघवात् च. नित्यद्रव्यस्यैव कल्पनालाघवात्. अन्यथा ध्वंसप्रागभावकल्पने गौरवप्रसङ्गात् नच एवं दिवसेऽपि तच्चाक्षुषापत्तिः तस्य आलोकावव्यंग्यत्वात्. तमोभिन्न-द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव आलोकस्य सहकारित्वकल्पनाद्* इति आहुः.

(षड्विधाभावे अनन्तभावात् तमसो अतिरिक्तपदार्थत्वनिरूपणं भाट्टमतेन)

अत्र भाट्टाः(पा.भे.१) *''तमः तावत् सामान्यविशेषसमवायेभ्यो अतिरिक्तं अशुक्लत्वात् च न उदकं, न तेजः कृष्णरूपत्वाद्, रूपवत्त्वात् च न इतरद्'' इति. एवं पृथिव्यादिवैधर्म्ये रूपवत्त्वाद् द्रव्यान्तरमेव तमः. *ननु इदं समवेतम् असमवेतं वा? न आद्यो, जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति स्पर्शवत्त्वेन हेतुत्वात् तमसः च अस्पर्शत्वात् तदवयवेऽपि स्पर्शाभावानुमानस्य शक्यत्वात्. न द्वितीयः, समवेतस्वरूपद्रव्यस्य अणुत्वनियमेन अप्रत्यक्षत्वापत्तेः* इति चेत् न, द्वितीयनियमे मानाभावात्, तमसो नित्य-द्रव्यत्वाभ्युपगमे लाघवात् च. नित्यद्रव्यस्यैव कल्पनालाघवात्. अन्यथा ध्वंसप्रागभावकल्पने गौरवप्रसङ्गात् नच एवं दिवसेऽपि तच्चाक्षुषापत्तिः तस्य आलोकावव्यंग्यत्वात्. तमोभिन्न-

द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव आलोकस्य सहकारित्वकल्पनाद्* इति आहुः.

(भाट्टैकदेशिमतनिरूपणम्)

तदेकदेशिनस्तु *''छाया चलति'' इति प्रत्ययेन क्रियावत्त्वात्, 'नीलं तमः' इति प्रत्ययेन रूपवत्त्वात्, ''परम् अपरं च'' इति प्रत्ययेन परत्वा-परत्ववत्त्वाद् अनित्यमेव तमः आलोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यं च. तत्समवायिनश्च तमःपरमाणवएव. नच *निःस्पर्शत्वं बाधकम् उक्तम्* इति वाच्यम्, उद्भूतरूपे धूमे अनुद्भूतस्पर्शवद् इहापि अनुद्भूतस्पर्शस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्. नच *गोलकावच्छेदेन धूमीयस्पर्शस्य उपलम्भात् न तत्स्पर्शस्य सर्वत्र अनुद्भूतत्वं तमःस्पर्शस्यतु क्वचिदपि न उपलम्भइति तदनुद्भूतस्पर्शे मानाभावः* इति शङ्क्यं, धूमस्पर्शानुभवस्य भ्रमत्वात्. अन्यथा वज्रनिर्घोषादौ जायमाने हृदयगोलके आघातानुभवात् शब्देऽपि स्पर्शवत्तापत्तिः. अतः पृथिवीत्वेनेव आरम्भकत्वेन स्पर्शवत्त्वेनापि व्याप्तेः आरम्भार्थम् अत्र अनुद्भूतस्पर्शाङ्गीकारे न कोऽपि दोषः. नच *आरम्भकत्वस्पर्शवत्त्वयोः ज्ञप्तौ अन्योन्याश्रयः* इति वाच्यं, 'चलति'इति प्रत्ययेन अन्धकारस्य अनित्यत्वे निश्चिते तेनच आरभ्यत्वे निश्चिते तेन तदवयवेषु आरम्भकत्वज्ञानात्* (इति आहुः).

(केषाञ्चिद् मतम्)

अन्येतु *अनुद्भूतस्पर्शे मानाभावात् प्रमायाः अनारभ्यत्वापत्तेः, जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति मूर्त्तत्वेन हेतुताम् एतदर्थम् आहुः. मनसः आरम्भकत्वे च इष्टम् अभ्युपगच्छन्ति. अतएव पुराणेषु मानसी सृष्टिः योगशास्त्रे च मनःकल्पितं विश्वं स्मर्यते इति प्रमाणयन्ति च. नित्यं द्रव्यान्तरमेव तमः* इति.

(काणादमतम्)

काणादास्तु *तत् न द्रव्यान्तरं, 'तमो'भिधानातिरिक्त-द्रव्याङ्गीकारे[२] आलोककार्यतावच्छेदककोटौ 'तमोभिन्नत्व'निवेशे तमश्चाक्षुषं प्रति आलोका-

---

२.'तमः' इति अभिधानं यस्य तत् तमोभिधानं तच्च अतिरिक्तं द्रव्यं च तमोभिधानातिरिक्तद्रव्यं तस्य अङ्गीकारे इति विग्रहः(स्या).

भावस्य हेतुत्वे च गौरवात्. नच *द्रव्यचाक्षुषं प्रति 'आलोकत्वेन' इति देयम्[पा.भे.२] अतो न दोषः* इति वाच्यं, वैजात्यावच्छिन्ननियामकस्य अशक्यवचनत्वात्. तथाहि–न तावद् विजातीयक्रिया नियामिका. यत्र एकयैव चक्षुष्क्रियया आलोकसंयुक्ते घटे तदयुक्ते च पटे चक्षुस्संयोगद्वयम् उत्पाद्यते, तत्र क्रियावैजात्याभावाद् उभयोः चाक्षुषत्वापत्तेः. नच *तदुत्तरदेशरूपविषयस्यैव नियामकत्वम्* इति वाच्यं, यत्र आलोकसहकृत-चक्षुस्संयोगेन पूर्वं घटचाक्षुषम् उत्पादितम्, अनन्तरं च आलोकनाशः, तत्र विषयनियत-संयोगवैजात्य-सत्त्वात् तदापि घटचाक्षुषापत्तेः. एवं भवन्मते तमश्चक्षुस्संयोगोत्तरं चाक्षुषे जाते ततः आलोकसमवधानेऽपि तमसो नित्यत्वेन तच्चक्षुस्संयोगसत्त्वात् तच्चाक्षुषापत्तेः च. नच *तदानीं तादृशसंयोगनाशात् न दोषः* इति वाच्यं, नाशे हेत्वभावात्.

यत्तु ⁎तमोद्रव्यं न चाक्षुषम् अपितु तामसेन्द्रियान्तरग्राह्यं, नच *अधिष्ठानाभावे तत्कल्पनम् अशक्यम्* इति शङ्क्यं, चक्षुःश्रवसाम् एकगोलके इन्द्रिय३वद्, अत्रापि चक्षुरिन्द्रियगोलके तस्यापि शक्यकल्पनत्वात्. चक्षुरन्वयानुविधानेन तथा निश्चयात्. नच *एवं सति आलोक-समवधानकालेऽपि तमसि तामसेन्द्रियसंयोगसत्त्वेन तमसः तामसप्रत्यक्षापत्तिः, तमसो अनित्यत्वाभ्युपगमेन आलोके तन्नाशेन अदोषाद्⁎ इति. तत् न विचारसहं, तमस्तामसत्वावच्छिन्नं प्रति तामसेन्द्रियसंयोगहेतुतायाः, तथाविधेन्द्रियान्तरस्य, तमोद्रव्यस्य, तत्प्रागभावध्वंसानां च कल्पनेन अतिगौरवग्रासात्. क्रियावतो रूपवतो महतो द्रव्यस्य आलोकजन्य-चाक्षुषविषयत्वनियमेन तथाविधकल्पनायाः अशक्यत्वात् च. तस्मात् तमो न द्रव्यं किन्तु उद्भूतानभिभूतरूप-प्रकृष्टमहत्तेजः-सामान्याभावएव. तथाच सूत्रं "**द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावः**[पा.भे.३] **तमः**"(वैशे.सू.५।२।१९) इति, '**निष्पत्तिः**'[४] =सामान्यविशेषसमवायाः[पा.भे.४], '**भा**'=उक्तविधं तेजो, '**वैधर्म्यं**'=भेदः. तथाच "द्रव्यादिषट्कभेदाद् उक्तविधतेजोऽभावः तमः" इति

३.'श्रवणेन्द्रियवद्' इति अर्थः इति (ख) पाठीयपादटिप्पण्यां तथापि 'इन्द्रियद्वयवद्' इति पाठो मूले कादाचित् स्याद् इति सम्भाव्यते(श्या).

४.अविज्ञातकर्तृकप्राचीनवृत्तौ सूत्रपाठः "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः" इति. एतस्यां

सूत्रार्थः. अत्र अनुद्भूतरूपचक्षुरात्मक-तेजसः तमस्यपि तत्त्वाद् अव्याप्ति-वारणाय 'उद्भूतं'पदम्. वालुकाप्रविष्ट-रविरश्मि-सत्त्वाद् अव्याप्तिवारणाय 'अनभिभूत'पदम्. तेजःपरमाण्वादिसत्त्वाद् अव्याप्तिवारणाय 'प्रकृष्टमहत्'पदम्. वस्तुतस्तु, प्रमात्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावः तमः. नतु पूर्वोक्ताभावो गौरवात्. प्रमात्वञ्च अनुगतप्रतीतिसाक्षिकजातिः इति. नच *चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगस्य हेतुत्वात् तदभावे तमश्चाक्षुषानुपपत्तिः* इति वाच्यं, तेजःसामान्याभावाद्यतिरिक्त-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव आलोकस्य सहकारि-त्वाभ्युपगमाद्⁎ इति आहुः.

(एतद्विषये प्रत्यक्तत्त्वदीपिकाकारमतम्)

अत्र प्रत्यक्तत्त्वदीपिकाकारः ⁎क्षितेः तावद् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्काराख्य-चतुर्दशगुणकत्वेन, सलिले गन्धराहित्येऽपि सस्नेहसाहित्याद् उक्ततावद्-गुणकत्वेन, आत्मनः च संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-भावना-संस्काराख्यैकादश-गुणकत्वेन, वायोः च रूपद्रवत्वराहित्याद् उक्तनवगुणकत्वेन, मनसः स्पर्शराहित्याद् उक्ताष्टगुणकत्वेन, व्योम्नः शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागाख्य-षड्गुणकत्वेन, दिक्कालयोः शब्दस्यापि राहित्यात् सङ्ख्यादिपञ्चगुणकत्वेन अविनाशित्वेन च, तेषु तमसो अन्तर्भावाङ्गीकारे तावद्गुणकत्वप्रसङ्गात् न एतेषु अन्तर्भावः. नापि गुणेषु, नीलप्रतीत्या रूपे अन्तर्भावे तत्सहचरित-गन्धादिगुणान्तरस्यापि उपलब्धिप्रसङ्गात्. सलिलतेजसोः शुक्लत्वात् च. नभोनभस्वतोरपि रूपवत्त्वात्(अरूपत्वात्) च. नापि कर्मणि संयोग-विभाग-समवायित्वाभावात्. नापि सामान्य-विशेष-समवायेषु, तेषां व्यक्त्याश्रयसम्बन्ध्युपलब्धि-सापेक्षोपलब्धिनः तत् तमसः आधारभूतानां व्यक्त्याश्रयसंबन्धिनां च उपलम्भाद् अनुलम्भप्रसङ्गात्. नापि अभावे 'तमाल-

---

वृत्तावपि "निष्पत्तिश्च सामान्यविशेषसमवायतेजोव्यतिरिक्ताः भावाः" इति ग्रन्थकृद्भिरपि अयमेव पाठोऽत्र अनुसृतो भाति. अन्यथा सूत्रार्थस्तु "द्रव्यगुणकर्मणां यः उत्पत्तिप्रकारः तस्माद् वैधर्म्यात् तमः तेजोऽभावे दृष्टिगोचरो भवति" इत्येवमपि सम्भाव्यते(श्या).

श्यामं तमः' इति रूपवत्त्वप्रतीतेः. एवं क्लृप्तेषु अनन्तर्भावाद् द्रव्यान्तरमेव तमः. नच *द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगस्य सहकारित्वात् तदभावे चक्षुषा जायमानं तमोज्ञानं निमीलितनयनस्य "तमः पश्यामि" इति प्रत्ययवद् अभिमानमात्रम्* इति वाच्यं, चेतनव्यवहारस्य ज्ञानपूर्वत्वनियमात् तदभावे तादृशव्यवहारबाधापत्तेः(पा.भे.५). नच *शौक्ल्य-ज्ञानाभावे पटादौ नीलव्यवहारवद् आलोक-ज्ञानाभाव-विषयक-विषयज्ञानमेव तादृश-व्यवहार-हेतुः* इति वाच्यं, तस्य अचाक्षुषत्वेन "नीलं तमः" इति चाक्षुष-व्यवहारानुपपादकत्वात्. तस्माद् आलोकविरोधिनः तमस आलोका-भावव्यंग्यत्वात् तमोज्ञानम् आलोकनिरपेक्ष-चक्षुषा जायमान- मपि न भ्रमः, सामर्थ्यस्य कार्यगम्यत्वात्. अन्यथा आलोकाभावस्यापि रूपवदभावतया आलोकनिरपेक्ष-चक्षुरग्राह्यत्व-प्रसङ्गात्. अभावग्रहस्य(पा.भे.६) सर्वत्र योग्यानुप-लब्धि-सहकृत-प्रतियोगि-ग्राहक-सामग्रीग्राह्यत्व-दर्शनात्. आलोकविरोधि-तया आलोकनैरपेक्ष्यस्य प्रकृतेऽपि तौल्यात्. नच *आलोकाभावस्यापि तमोव्यञ्जकतया अपेक्षणीयत्वे तावतैव 'तमः'पदसार्थक्याद् अनर्थकं तस्य द्रव्यान्तरकल्पनम्* इति वाच्यं कल्पनाभावात्. प्रत्यक्षसिद्धे तमसि तद्ग्रहस्य प्रमात्वाय अत्र उद्योगस्य तेन अपर्यनुयोज्यत्वात्. नच *अस्य ज्ञानस्य भ्रमत्वम्* इति वाच्यं, बाधकप्रत्यक्षान्तराभावात्. अनुमानं बाधकम् इति चेत् न, प्रत्यक्षविरोधे तस्य बाधितत्वात्. नच *मीलितनयनस्य चक्षुर्व्यापाराभावेऽपि तमसः उपलम्भात् तत् चाक्षुषमेव न भवति* इति वाच्यं, तत्रापि पक्ष्मपटलान्तवर्तितमसः चक्षुर्व्यापारादेव उपलब्धेः. नच रूपवदन्तरग्रहप्रसङ्गः, तत्र आलोकस्य सहकारित्वात्. नच *इन्द्रियाणाम् अन्तःप्रवृत्यदर्शनात् न इदं साधीयः* इति वाच्यं, पिहितकर्णपुटस्य श्रोत्रेन्द्रियव्यापारादेव प्राणघोषश्रवणात्. नच *श्रोत्रेन्द्रियस्य स्वसमवेतशब्दग्राहकत्वात् न व्यापारवत्त्वम्* इति वाच्यं, तस्य बहिरपि प्रवृत्तिदर्शनात्. अन्यथा "सुरसरीत्तीरे शब्दः" इति देशप्रतीति-बाधापत्तेः. नच *गन्धाभावे तद्व्याप्तं नीलरूपमपि न स्याद्* इति वाच्यम्, अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यां गन्धादिव्याप्तस्यापि गन्धाभाववति वायौ प्रतीतिबलेनैव अङ्गीकारवद् इहापि तथा नीलरूपस्य उपगन्तुं शक्यत्वात्. नच *पाकजानुष्णाशीत-स्पर्शस्यैव गन्धादिव्याप्तत्वं न इतरस्येति अदोषः* इति वाच्यम्, इहापि पाकजनीलरूपस्यैव तद्व्याप्तत्वमिति दोषसाम्यात्. नच

पाकजनीलरूपमेव असिद्धम् इति वाच्यं, सद्भावग्राहिणः प्रत्यक्षस्य उभयत्र तौल्यात्. नच *"तमो रूपरहितं स्पर्शरहितत्वाद् आकाशवद्" इति अनुमानविरोधात् तमसि रूपमेव नास्तीति वृथैव इयं चिन्ता* इति वाच्यं, रूपग्राहकप्रत्यक्षविरोधे हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्. अन्यथा "वायुः स्पर्श-रहितो रूपरहितत्वाद् आकाशवद्" इति साधनेन वायावपि रूपापत्तेः दुर्वारत्वात्. तस्मात् न अभावरूपं किन्तु मनोवद् अस्पर्शपरमाण्वारब्धं तमः* इति.

(सिद्धान्तनिरूपणे द्रव्यान्तरतानिरासः)

न तद् द्रव्याद्यसौत्रत्वाद् नान्यो नामादिभेदतः।।

'माये'त्युक्तेः पुराणे[५] स्याद् मायाकार्यान्तरं तमः।।३।।

यद् इदं द्रव्यान्तरत्वं तमसः उपगतं तद् अनालम्बितमेव. भगवता बादरायणेन जैमिनिना च स्वशास्त्रे अनुक्तत्वात्. पुराणादिष्वपि सृष्टिप्रक्रियादौ द्रव्यत्वेन न तदुक्तेः. नच *सूत्रकारस्य लौकिकपदार्थशोधनाय अप्रवृत्तत्वात् तदनुक्तिः न दोषाय* इति वाच्यं, तथा सति विरोधाभावात् काणाद-स्मृत्युक्ताङ्गीकारेऽपि अदोषात्. अथ शिष्टापरिग्रहसूत्रादौ तन्मतदूषणाद् इदमपि न आद्रियते; तर्हि, नियतपदार्थवादोऽपि अनादरणीयइति व्यर्थएव दशम-द्रव्यत्वप्रवादो, युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि आदरणीयत्वात्. *ननु अस्तु एवं तथापि समवायिकारणत्वाद् गुणाश्रयत्वात् च द्रव्यत्वम् आद्रियते* इति चेद्, मैवम् आरम्भकसिद्धेः आरभ्यसिद्ध्यधीनत्वात् प्रतियोगि-प्रतिबद्ध-प्रतीकतयापि क्रियावत्त्वादिप्रतीतिनिर्वाहे तदारभ्यतायाएव वादकवलितत्वेन आरम्भकासिद्धौ समवायितायाः दुर्वचत्वात्. गुणाश्रयत्वेन साधनेऽपि पृथिव्याम् अनिवेशं वदता नीलरूपातिरिक्तगुणानङ्गीकाराद् आद्यक्षणे तदभावेन तस्यैव असिद्ध्या द्रव्यत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्. अतो भट्टानुसरणं सुहृदादि(पा.भे.७)-याचितक-मण्डनवद्[६] आडम्बरमात्रमेव.

५.भाग.पुरा.२।९।३३. ६.'सुहृदादियाचितकमण्डनवद्' इति "अस्याः मुखश्रीप्रतिबिम्बम् एवं जलात् च ताताद्, मुकुरात् च मित्राद् अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचिद्" इति न्यायेन अन्येभ्यः याचिताभरणधारणेन धारकस्य किं माहात्म्यम् इति तद्वद् आडम्बरैकपर्यवसायिवचनम् इदम् इति तात्पर्यम्. "याञ्चया आप्तं याचितकम्" (अम.को.२।१०।४) इति(स्वा).

(तमसः पृथिव्याम् अन्तर्भावस्य निरासः)

यत्तु "नीलरूपत्वात् पृथिव्याम् अन्तर्भावः" कैश्चिद् उच्यते, तदपि असङ्गतं सामान्यलक्षणानाक्रान्तत्वेन "न पृथिवी निर्गन्धित्वाद्" इति प्रतिपक्षेण तद्बाधात्. नापि अदर्शनेन अनुद्भूतगन्धस्य अशक्यवचनत्वात् पाकाप्रसिद्ध्या पाकजानुष्णाशीतस्पर्शस्यापि तथात्वाद् इति.

(तमसो नीलरूपत्वम् इति कन्दलीकारमतविमर्शः)

यत्तु कन्दलीकारः *"नीलं रूपमेव तमः" ( ) इति आह, तदपि न, तदापि पृथिवीगुणत्वस्यैव वाच्यत्वे अञ्जनादिनैल्यवत् तेजःसमवधानेऽपि तच्चाक्षुषापत्तेः अन्यथा अनाधारत्वेन गुणत्वव्याघातात् तद्व्याप्यरूपत्वस्य अशक्यवचनत्वात् च.

(तेजोऽभावत्वनिरासः)

एवम् अभावत्वमपि असङ्गतमेव, कोशेषु "अन्धकारो अस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमो, ध्वान्ते गाढे अन्धतमसं, क्षीणे अवतमसं, तमो विष्वक् सन्तमसम्" (अम.को.१।८।३) इत्यादौ तन्नाम्नां, तदवान्तरभेदनाम्नां च पाठात्, "अविद्या 'अहं'मतिः स्त्रियाम्" (अम.को.१।५।७) इतिवत् "तेजोऽभावो अतेजो अप्रभा" इत्याद्यपाठात् च. तेजोऽभावत्वे अवान्तर-नामपाठवद् एतन्नामपाठप्रसङ्गात्, तद्वदेव भेदान्तराकथनप्रसङ्गात् च. किञ्च प्रतियोगितदभावयोः सर्वत्र भावाऽभावविरोधएव न अन्यः. तेजस्तमसोस्तु वध्यघातविरोधः, "तेजसा नष्टं तमः" इति प्रतीतेः. "यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषं तमो विहन्याद् नतु तद् विधत्ते" (भाग.पुरा.११।२८।३४), "यद् बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा" (भाग.पुरा.१०।५१।३०) इति. सृष्टौ "तेजसा अपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापनं तमः" (भाग.पुरा.३।२६।२०), प्रलयेऽपि "हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते" (भाग.पुरा.११।३।१४) इत्यादिपुराणप्रयोगात् च. "अह्नाय तावद् अरुणेन तमो निरस्तम्" ( ) इति वाक्येऽपि प्रयोगात् च. "लोकालोकं तथा अतीत्य विवेश सुमहत्तमः" (भाग.पुरा.१०।८९।४८) इत्यादौ प्रवेशपरिमाणयोः कथनात् च.

(छायायाः तमोभेदत्वनिरासः)

किञ्च छायायाः तमोभेदत्वकथनं जरताम् अत्यसङ्गतं, "दीपमञ्चकयोः छाया बोधिच्छाया तथा निशि तथा नीचजनच्छाया हन्ति पुण्यं पुराकृतम्" ( ) इत्यादिषु प्रतियोग्यन्तरकथनात् चाण्डालादिच्छायास्पर्शे प्रायश्चित्तकथनात् च. नच *"छायाद्यनातपे कान्तौ"[७] इति कोशाद् आतपाभावएव छाया* इति वाच्यम्, अनेकार्थत्वात् तथोक्तेः. अन्यथा एतद्विरोधप्रसङ्गात्. "छायाप्रत्याह्वयाभासाः असन्तोऽपि अर्थकारिणः" (भाग.पुरा.११।२८।५) इत्यत्र असत्त्वकथनविरोधात् च. छायाभागं...त्[८] च इति दिक्.

(तमसः सिद्धान्त्यभिमतं स्वरूपम्)

अतो द्वितीयस्कन्धे भगवता "ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः" (भाग.पुरा.२।९।३३) इति कथनात् मायापरिणामविशेषरूपं भावातिरिक्त-पदार्थान्तरमेव तमः. तच्च तेजोऽभावे मायया मनुष्यादीन् प्रत्येव जन्यते. न सर्वान् प्रति. अतएव उलूकबिडालादयः तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति न तमः. अतएव वैशेषिकदर्शनस्य उलूकरूपिणा कणादेन कृतत्वात् तस्य तमश्चाक्षुषाभावेन तत्सूत्रे "भाभावः[(पा.भे.८)] तमः" इति उक्तिरपि युज्यते. तथा अस्मदादिदृष्टीनां तमोवृतत्वात् तमसएव ग्रहो नतु विषयान्तरग्रहः. तथा तद्दृष्टेः कोमलत्वाद् बलवत्तेजसा प्रतिघातः तदभावे च सुखेन तेषां विषयग्रहः. नच अस्माकमपि तच्चाक्षुषाय कार्यकारणभावान्तरापेक्षा, चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वव्यवधानादीनां प्रतिबन्धकतायाः क्लृप्तत्वेन सर्वसम्मतत्वेन च कल्पनाभावात्.

(तमसः आवरकत्वम्)

तमसः आवरकत्वस्य च "तमसा च आवृता दिशः" (भाग.पुरा. १०।

७.द्रष्टव्यः : "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बम् अनातपः"(अम.को.३।३।१५७)

(ख्या).८.सर्वेष्वपि आदर्शेषु त्रुटितैव पंक्तिः उपलभ्यते(ख्या).

८०।३३) इत्यादिपुराणप्रसिद्धत्वात्. व्यवधानाभावविशिष्ट-विषयचक्षुः-संयोगत्वेन चाक्षुषत्वेन यः कार्यकारणभावः चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति अनावृतत्वेन वा या घटादौ विषयता ततएव सर्वनिर्वाहात्. एवञ्च विषयालोकसंयोग-तदभावयोः कारणकोटौ अप्रवेशेन प्रत्युत लाघवं ज्ञेयम्. नच *एवं सति गृहादौ त्रसरेणुचाक्षुषापत्तिः* इति वाच्यं, तुल्यत्वात्. नच *तत्र विलक्षणालोकसंयोगाभावात् न तथा* इति वाच्यं, गृहादौ छायारूपाल्पतमसा त्रसरेण्वावरणस्य सम्भवदुक्तिकत्वात्. नच *एवं सति गाढतेजसि तच्चाक्षुषापत्तिः तौल्यात्. तेजसैव आवरणस्य शक्यवचनत्वात् च. नच *तेजोऽभावस्यैव व्यवधायकत्वं लाघवाद् अङ्गीकार्यम्* इति वाच्यं नीलप्रतीतिबाधापत्तेः. नच *सो भ्रमः* इति वाच्यं, तथापि विषयसापेक्षत्वात् तदाकाङ्क्षायां भावाभावान्यतरस्य तत्त्वेन वक्तुम् अशक्यत्वात्, तादृशभ्रमविषयत्वेन विषयताख्यपदार्थान्तररूपस्य तमसः सिद्धेः अप्रत्यूहत्वात्. *ननु भ्रमस्य विशिष्टबोधरूपत्वेन विशेषणज्ञानजन्यत्वात्, प्रकृतेऽपि भ्रमो विशेषणज्ञान-विशष्यभानसामग्री-विशेषणविशेष्या-संसर्गाग्रहरूपैः नीलज्ञान-चक्षुःसंयुक्तविशेषणता-नीलतेजोऽभावासंसर्गाग्रहैरेव सेत्स्यतीति न नीलतमोरूपविषयताभ्युपगमः आवश्यकः* इति चेत्, मैवं विशेषणीभूत-नीलज्ञानस्य चाक्षुषरूपत्वे पूर्वेक्तयुक्त्या तद्विषयस्य तमसः आवश्यकत्वात्(पा.भे.९). स्मरणरूपत्वेऽपि तस्य संस्कारजन्यत्वात् तेजोऽभावे तद्वति सुधाधवलितगृहादौ च संस्कारोद्बोधकस्य अनुभूतनीलसदृशस्य विषयतारूपनीलान्तरस्य(पा.भे.१०) नीलसादृश्यस्य च अभावे संस्कारानुद्बोधे स्मरणस्यापि अशक्योदयात्. तदुदयार्थमपि संस्कारोद्बोधकस्य तस्य तत्र आवश्यकत्वात्. अदृष्टस्य उद्बोधकत्वेऽपि दृष्टसामग्रीं विना तस्य अकिञ्चत्करत्वात्. दृष्टसामग्रीघटकत्वेनापि तस्य उपेक्षणात्. उपनीतभानरूपत्वेऽपि उपनायकस्य स्मरणस्य उदयार्थं पूर्वोक्तयुक्त्या तस्य अपेक्षितत्वात्. एतेनैव स्मर्यमाणारोपस्यापि प्रत्युक्तत्वात्. चाक्षुषोपनीतभानस्य अनुभूयमानारोपस्य च पूर्वोक्तयुक्तिभिरेव दत्तोत्तरत्वात्.

(प्राभाकरैकदेशिमतविमर्शः)

यत्तु प्राभाकराः *तेजोज्ञानाभावएव तमः, सत्यपि तेजसि तदज्ञाने

तमःप्रत्ययाद्* इति आहुः, तत् फल्गु, ज्ञानाभावज्ञानस्य मानसत्त्वात्, 'नीलं तमः' इति चाक्षुषव्याघातात्. "तेजोऽभावम् उपलभामहे" इति अनुव्यवसायानुपपत्तेः च.

(सिद्धान्तेन निष्कर्षः)

तस्मात् मूलशक्तेः मायायाः कार्यभूतम् आवरणात्मकम्[१] अर्थान्तरमेव तमः इति निश्चयः.

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाम्बुजचेतसा।।
सुबोधिन्युक्तमार्गेण तमस्तत्त्व समर्थितम्।।३।।

इति श्रीवल्लभाचार्यमतवर्ति-श्रीमद्वल्लभनन्दन-चरणनलिन-परागप्राप्त-सकलसिद्धेः पीताम्बरतनुजपुरुषोतमस्य कृतौ अवतारवादावल्यां नवमो अन्धकारवादः समाप्तिम् अगात्

श्रीरस्तु

---

१. *ननु तमसो मायाकृतावरणात्मकत्वे मध्ये तमोव्यवधाने सति पश्चाद्वर्तिनः आलोकदेशावस्थितस्य पदार्थस्य प्रत्यक्षं कथम् उपपद्येत?* इति चेद् अत्र एवम् अवगन्तव्यम् : यद्देशे मायया तमोजननं तद्देशएव विद्यमानानां रूपवद्द्रव्याणाम् अनुपलब्ध्या, मध्ये तमोव्यवधानेऽपि आलोकवद्देशावस्थितरूपवद्द्रव्याणान्तु तमोव्यवधानविशिष्टोपलब्ध्या च तमोरूपवद्द्रव्ययोः समानदेशावस्थितयोरेव आवरकावरणीयभावो नान्यथा. अतएव क्वचित् तमःप्रकाशयोः तारतम्ये तमोनिवारणाक्षमस्यापि प्रकाशस्य तमोदेशावस्थितरूपवद्द्रव्येण साकं संयोगे सति तन्मात्रप्रकाशनेन तद्वस्तुग्रहणे न बाधः, प्रकाशाधिकतमसएव रूपवत्पदार्थावरकत्वनियामकत्वाद् इति सर्वं समञ्जसम्(श्या).

मायायाश्च धवायैव माधवाय समर्पितम्।
क्षमन्तां साधवः सर्वं मातृदोषतमस्कृतम्।।

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन श्याममनोहरेण विरचिता 'अन्धकारप्रकाशिका'ख्या विषमस्थलटिप्पणी समाप्ता

पाठभेदावली

१.'भेदाः' इति मु.पा. २.'द्रयम्' इत्येव सर्वेषु मुद्रितामुद्रितेषु आदर्शेषु उपलभ्यते तथापि दुरूहार्थकत्वं तस्य आलक्ष्य अस्माभिः स्वमत्या 'देयम्' इति पाठः उट्टंकितः. यदितु 'द्रयम्' इत्यस्यैव पाठस्य साधुत्वं तदा तमश्चाक्षुषं प्रति आलोकाभावस्य द्रव्यचाक्षुषं प्रति आलोकस्य एवं कारणताद्वयकल्पनायां न दोषः इति आशयः कल्पनीयः. ३.'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भावाभावः तमः'' इति सर्वेष्वपि कादि-घान्तपाठेषु एवमेव. तथापि न्यायकन्दल्यभिमतः पाठः ''द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावः तमः'' इति तदनुरोधात् संशोधितः. अग्रेऽपि ''उक्तविधं तेजः'' इत्यस्मात् पूर्वं 'भाव'पदापेक्षया 'भा'पदसार्थक्यानुरोधादपि. ४.''निष्पत्तिः सामान्यविशेषसमवायाभावाः'' इति मु.पा. शोधितः पाठस्तु ख-घ पाठानुरोधात्. ५.'तादृशव्यवहारबाधापत्तेः' ग पाठे नोपलभ्यते. ६.''अत्र अवग्रहस्य'' इति मु.पा. ७.'हृदादियाचित...' इति मु.-ख पाठयोः. ८.'भावाभावः' सर्वेष्वपि पाठेषु तथापि औचित्यानुरोधात् संशोधितः. ९. 'आवश्यकत्वात्' इति ख पाठे, 'आवरकत्वाद्' इति मु.पाठस्तु अशुद्धएव आभाति. १०.'नीलान्तरस्य' इति ख. 'नीलतरस्य' इति मु.पाठस्तु अशुद्धः प्रतिभाति.

अन्धकारवादीयपरिशिष्टम्

इह जिज्ञासूनाम् अध्येतॄणां बोधाय महामहोपाध्यायेन पण्डितरत्नेन लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्येण प्रणीतात् मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिकात् तमोवादसङ्ग्रहकारिकाः भृशं कार्तज्ञ्येन सह प्रदीयन्ते–

(१)

तमः खलु चलं नीलं बहुलं विरलं परम्।
अपरं च महद् दीर्घं ह्रस्वं चेति प्रतीयते।।
कदाचिदपि कस्यापि नैव बाधोऽत्र दृश्यते।।
प्रभामण्डलवच्चेदं द्रव्यमित्येव वैदिकाः।।

(२)

पृथिव्याएव भेदोऽयं तमस्स्याद् इति केचन।
प्रकृतेरेव भेदस्स्याद् इति वेदान्तिनो विदुः।।
आलोकेनोत्सारितत्वात् विनष्टत्वादथापि वा।
अभिभूतत्वतो वापि तन्मध्ये नोपलभ्यते।।
विषयाच्छादकत्वन्तु तमसो नहि युक्तिमत्।
तमोव्यवहितालोकस्थितनानार्थदर्शनात्।।
अतो मत्यादिदृष्टीनां दृश्यसम्बन्धमात्रतः।
दर्शनप्रतिघातित्वं स्वभावात् तमसि स्थितम्।।
वायू रूपेण रहितः स्पर्शेन सहितो यथा।
तथा रूपेण रहितं स्पर्शेन सहितं तमः।।

(३)

गुरूणान्तु मते तेजोहीनाधिकरणं तमः।
ग्राहकात्मोपलब्धेश्च नीलरूपस्मृतेरपि।।
''नीलं तम'' इति ज्ञानं भेदाग्रहनिबन्धनम्।
आलोकक्रिययेव स्यात् 'चलति'प्रत्ययोऽपिच।।

(४)

''तेजोऽभावः तम'' इति काणादकिरणावलिः।
अन्धसासाधारणं रूपज्ञानाभावं विदुः परे।।

आरोपितं निरालोके देशे मालिन्यवत्तले।
''नीलं रूपं तम'' इति सिद्धान्तः कन्दलीकृतः।।

(५)

अणवः सर्वशक्तित्वात् तमश्छायातपात्मना।
अभ्राणीव प्रतीयन्त इति प्राहुरिहार्हताः।।

(६)

निरधिष्ठान-विज्ञानवादि-वैभाषिकादयः।
केशोण्ड्रकादिविज्ञानं भ्रम इत्यभिमन्वते।।

(७)

भूच्छायादर्शनं लोके तमोदर्शनमुच्यते।
इत्युक्तवानपि विधिविवेके किल मण्डनः।।
एवंरूपः तमस्तत्त्वे विकल्पः परिदृश्यते।
निरूप्यते यथा यच्च तत्तथा व्यवतिष्ठते।।

(सान.रह.श्लो.वा.२१).

।।अवतारवादावली।।

नवम

।।अन्धकारवाद।।

(मंगलाचरण द्वारा गन्थोपक्रम)

करुणा कर, हे नाथ, पधारो और दरसाओ स्वयं स्वरूप।।
तमसे आवृत गुहामें मैं हु शयननिरत मुचुकुंद-सरूप।।१।।

(तमस् अभावरूप होनेसे आवरणरूप नहीं माना जा सकता ऐसा आक्षेप)

(तमस् अभावरूप होनेके कारण
जहां भासित होता वहां अपने अनुयोगीका विशेषण बन कर ही।।
अतः अपने विशेष्यका आवरण
उसे मानना उपपन्न नहीं हो पाता है।।२।।)[१]

तमस्के अभावरूप होनेके कारण उसके द्वारा गुफाको आवृत कहना या मानना उचित या सम्भव नहीं लगता है. ऐसा भी कहा नहीं जा सकता कि अन्धकारका आभास कुछ होनेके रूपमें होता है नकि न होनेके रूपमें इसलिये उसे भावरूप मानना चाहिये, क्योंकि ऐसी प्रतीति भ्रान्तिके वश होती है. ऐसी प्रतीतिके कारण उसे भावरूप माननेपर तो मरुभूमिमें रेतीमें भी जलके होनेकी प्रतीतिके वश वहां मरुभूमिमें भी जल होनेकी बात स्वीकारनी पड़ेगी. मरुभूमिमें जलका होना प्रतीतिके स्थल तक जानेपर जैसे बाधित हो जाता है, वैसे ही अन्धकारकी प्रतीति भी बाधित नहीं होती है, अतः ऐसी प्रतीतिके प्रमारूप होनेकी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आकाशके नीले होनेकी प्रतीति भी भी कभी बाधित नहीं होती और उसी तरह अंधकारकी प्रतीति भी बाधित न होती हो, तबभी उसे भ्रान्ति मानना ही उचित है.

(छह प्रकारके भाव पदार्थ या चार प्रकारके अभाव किसी में भी अन्धकारका

१.यहां पूर्वपक्षकी संग्रहकारिका उपलब्ध न होनेके कारण सम्पादक द्वारा योजित है(श्या).

अन्तर्भाव शक्य न होनेसे उसे अतिरिक्त पदार्थ माननेका भाट्टोंका पक्ष)

भाट्टोंका इस बारेमें यह मत है कि तमस्‌को सामान्य विशेष या समवाय रूपी भाव पदार्थ तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि आश्रयके बारेमें न हो ऐसे लौकिक प्रत्यक्षका विषय बनता होनेसे, जैसे वायु द्वारा उड़ाये गये चम्पा आदिके पुष्पोंके अवयवोंमें समवेत गन्ध आदिका प्रत्यक्ष गन्धसमवायी चम्पाके बारेमें नहीं होता. अन्धकारको कर्मरूप पदार्थ भी माना नहीं जा सकता है क्योंकि वह संयोगादिका असमवायी कारण नहीं बन पाता. इसी तरह गुणोंसे भी अतिरिक्त उसे मानना पड़ता है क्योंकि जैसे आकाश कहीं समवेत नहीं होता वैसे ही अन्धकार भी किसी द्रव्यमें समवेत नहीं होता है. इन अनुमानोंके आधारपर अन्धकार स्वीकृत द्रव्योंसे अतिरिक्त कोई भिन्न ही पदार्थ सिद्ध होता है.

अन्धकारके किसी भी द्रव्यमें समवेत न होनेके कारण उसके गुण न होनेकी बात असंभव नहीं है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अन्धकारका किसी भी द्रव्यमें समवेत होना सिद्ध नहीं हो पाता है. दिशा काल आत्मा मन आकाश या वायु में अन्धकारको समवेत नहीं माना जा सकता है क्योंकि अन्धकार नीलेरूपवाले अन्यान्य पदार्थोंकी तरह आंखोंसे दिखलायी देता है. अन्धकारको तैजस् द्रव्यमें भी समवेत माना नहीं जा सकता है क्योंकि अन्धकारका प्रत्यक्ष तैजस् द्रव्यके बारेमें न होनेवाले लौकिक प्रत्यक्षका विषय होता है, पीत आदि वर्णोंकी तरह. अन्धकारको भूमि या जल में समवेत गुण भी माना नहीं जा सकता क्योंकि अन्धकार आलोकसे न पैदा होनेवाले लौकिक चाक्षुष प्रत्यक्षका विषय बनता होनेसे. इस तरहके अनुमानोंके आधारपर अन्धकार किसी भी द्रव्यमें समवेत गुण माना नहीं जा सकता है. यों स्वीकृत नौं द्रव्योंके धर्मोंसे विरुद्ध धर्मोंवाला होनेके कारण अन्धकारका अन्तर्भाव उन नौं द्रव्योंमें नहीं माना जा सकता है. गंधरहित होनेके कारण अन्धकारको भूमि नहीं माना जा सकता. शुक्ल वर्णका न होनेके कारण उसे जल भी माना नहीं जा सकता. काले रंगका होनेके कारण उसे तेजोरूप द्रव्य भी माना नहीं जा सकता. काले रंगवाला होनेके कारण उसे वायु भी नहीं माना जा सकता. इस तरह पृथिवी आदि

सभी द्रव्योंसे विपरीत धर्मवाला होनेपर भी और साथ ही साथ रंगरूपवाला भी होनेके कारण अन्धकारको द्रव्यान्तर मानना ही उचित लगता है.

इस विषयमें अन्धकारको अभाव माननेवालोंद्वारा यह प्रश्न उपस्थापित किया जा सकता है कि अन्धकार कहीं समवेत होता है या नहीं? अन्धकारको समवेत इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि जितने भी जन्य द्रव्य होते हैं, उन्हें छू कर अर्थात् स्पर्श द्वारा जाना जा सकता है. जबकि अन्धकारका न तो अवयवीके रूपमें और न उसके अवयवोंका ही स्पर्शानुभव कभी होता है. अतएव यदि अन्धकारको असमवेत द्रव्य मानते हैं तो उसे अणुपरिमाण भी मानना पड़ेगा और इसी कारणसे उसे अप्रत्यक्ष भी मानना पड़ेगा.

इसके समाधानतया यह निवेदनीय है कि जो असमवेत द्रव्य होता है वह अणुपरिमाण होनेसे अप्रत्यक्ष ही होता है, ऐसे नियमका स्वीकार आवश्यक नहीं लगता. अतः अन्धकारको नित्य द्रव्य मान लेनेपर विचारलाघव भी है. अन्धकारको कल्पनालाघवके तर्कके आधारपर नित्य द्रव्य न माननेपर अन्धकारके अनेक ध्वंसाभावों और प्रागभावों की कल्पना करनेपर तो ऐसी मान्यतामें कल्पनागौरव दोष प्रकट होगा. नित्य द्रव्य माननेपर तो दिनके उजालेमें भी अन्धकार आंखोंसे दिखलायी देना चाहिये, ऐसी शंका भी की नहीं जा सकती, क्योंकि जहां प्रकाश हो वहां अन्धकार प्रकट नहीं हो पाता. अन्धकारसे भिन्न द्रव्योंके चाक्षुष प्रत्यक्षमें ही आलोकको सहकारी कारण माना जाता होनेसे.

(भाट्टोंके एकदेशी किसी चिन्तकका मत)

भाट्टोंके कुछ एकदेशी कहते हैं कि "छाया चलती है" ऐसी प्रतीतिके आधारपर अन्धकारके क्रियावान् होनेके कारण, "तमस् नीले रंगका है" ऐसी प्रतीतिके कारण रूपवान् भी होनेके कारण, "यह पर अन्धकार है और यह अपर अन्धकार है" ऐसी प्रतीतिके आधारपर परत्वापरत्वगुणवाला भी होनेके कारण, तमस् एक ऐसा अनित्य भावपदार्थ सिद्ध होता है, जिसे

देखनेके वास्ते नयनोंको प्रकाशकी अपेक्षा न हो. ऐसे इस तमस्‌के समवायी उसके परमाणु होते हैं. यदि अन्धकार अनित्य द्रव्य हो तो सभी अनित्य द्रव्योंका छुआ जा सकता होनेसे अन्धकार भी वैसा ही होना चाहिये, यह नियम मानना आवश्यक नहीं. क्योंकि उद्‌भूतरूपवाली धुंआमें जैसे स्पर्शगुण उद्‌भूत नहीं होता, वैसे ही नीले रंगवाले अन्धकारमें भी स्पर्शगुणके अनुद्‌भूत होनेका स्वभाव सोचा जा सकता है.

आंखोंके गोलकोंमें धुंएका भी स्पर्श अनुभूत होता है. एतावता उसके स्पर्शगुणको सर्वत्र अनुद्‌भूत नहीं माना जा सकता. जबकि अन्धकारके स्पर्शगुणवाले होनेका अनुभव तो कहीं भी नहीं होता. अतः अन्धकारमें अनुद्‌भूत स्पर्शगुण होनेकी बात मानी नहीं जा सकती है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये. क्योंकि धुंएके स्पर्शका अनुभव भ्रान्तिरूप होता है. विविध अनुभूतिओंमें प्रमा और भ्रान्ति का प्रभेद न करनेपर तो बद्दलोंमें बिजली चमकनेके समय होती गर्जनाका भी हृदयगोलकमें आघात अनुभूत होता होनेसे शब्दको भी स्पर्शगुणवान् स्वीकारना पड़ेगा. अतः पृथिवीमें जैसे स्पर्शगुण होता है, वैसे ही जो द्रव्य कार्यके आरम्भक होते हैं उनमें स्पर्शगुण तो होता ही है. अतः स्पर्शवान् होनेके अर्थमें भी सभी आरम्भक द्रव्योंमें अनुद्‌भूत स्पर्शगुणवाले होनेके व्याप्तिनियमके अंगीकारमें कोई दोष दिखलाई नहीं देता. ''जो–जो द्रव्य कार्यके आरम्भक होते हैं वे स्पर्शगुणवाले भी होते हैं'' इस तरहकी व्याप्तिको घड़नेपर ज्ञप्तिमें आत्माश्रय दोषकी आपत्ति कही नहीं जा सकती है. क्योंकि ''अन्धकार चलता हुवा दिखलायी पड़ता है'' ऐसी प्रतीतिके वश अन्धकार अनित्य है ऐसा निश्चित होनेपर उसे आरभ्य द्रव्य माना जा सकता है और अन्धकार आरभ्य है यह निश्चित होनेपर अन्धकारके अवयवोंका उसका आरम्भक माना जा सकेगा.

(अन्य किन्हींका मत)

अन्य कुछ अन्धकारमें अनुद्‌भूत स्पर्श होता है, ऐसा न मान पानेके कारण, अन्धकारको अनारभ्य मानते हैं. अतः जो भी जन्य द्रव्य होता है उसका कोई न कोई मूर्त द्रव्य कारण होता ही है. मनको भी ये आरम्भक

द्रव्य मानते हैं. पुराणोंमें, अतएव, मानसी सृष्टिके प्रकट होनेका उल्लेख मिलता है. इसी तरह योगशास्त्रमें भी मनःकल्पित विश्वका उल्लेख मिलता है और उसे प्रमाणिक माना गया है. अतः ये एकदेशी अन्धकारको नित्य द्रव्यान्तर मानते हैं.

(वैशेषिक मत)

वैशेषिकोंका कहना है कि अन्धकारको द्रव्यान्तर नहीं माना जा सकता. क्योंकि 'तमो'नामक अतिरिक्त द्रव्यको अंगीकार करनेपर, आलोकके जितने भी कार्य हों उनके साथ ''तमस्‌से भिन्न होनेकी'' शर्त जोड़नी पड़ेगी. और यों अन्धकारके चाक्षुष प्रत्यक्षके बारेमें आलोकके अभावको हेतुके रूपमें जोड़नेपर अनावश्यक कल्पनागौरव होगा. अतः ऐसा कहना भी उचित नहीं है कि द्रव्यके चाक्षुष प्रत्यक्षके कारणके रूपमें प्रकाशके रूपमें प्रकाशको कारणतया जोड़नेपर कोई दोष नहीं आवेगा, क्योंकि किसी विजातीय वस्तुको कारणके आवश्यक धर्मके रूपमें जोड़ना अशक्य बात लगती है. जैसेकि कोई विजातीय क्रिया नियामक बन नहीं सकती. क्योंकि कहीं एक ही चक्षुकी क्रियाद्वारा आलोकसे जुड़े हुवे और अंधेरेमें अवस्थित पट का एक चक्षुके साथ दो संयोग उत्पन्न होते हैं. और हम देख सकते हैं कि यहां दो विजातीय क्रिया होती नहीं अतः एक ही चाक्षुष प्रत्यक्ष उत्पन्न होना चाहिये था (परन्तु घटका प्रत्यक्ष तो हो जाता है पर पटका प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं हो पाता). यह तो कहा नहीं जा सकता कि चक्षुसे संयुक्त विषयके देशके बाद आते देशमें रहा विषय नियामक बन जायेगा, जहां आलोकके साथ चक्षुके संयोगसे पहले घटका चाक्षुष प्रत्यक्ष उत्पन्न हुवा हो और बादमें आलोकका नाश हो जाये वहां विषयद्वारा नियत विजातीय संयोग तो होता है तब भी घटका चाक्षुष प्रत्यक्ष उत्पन्न होने लगेगा. इसी तरह अन्धकारको नित्य माननेवालोंके मतमें अन्धकार और चक्षु के संयोग होनेके बाद चाक्षुष प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता माननेपर बादमें आलोकके विद्यमान रहते हुवे भी अन्धकारके नित्य होनेके कारण चक्षुका उसके साथ संयोग बना रहना चाहिये. अतः अन्धकारका प्रत्यक्ष भी होना चाहिये. ऐसा भी कहा नहीं जा सकता कि तब अन्धकारके साथ चक्षुका

संयोग नष्ट हो जाता होनेसे ऐसी कठिनाई उपस्थित ही नहीं होगी, क्योंकि ऐसे इस संयोगके नाशका हेतु दिखलायी नहीं देता.

कुछ लोगोंका सोचना है कि चाक्षुष प्रत्यक्षका गोचर न हो कर तमोद्रव्य किसी तामस इन्द्रियसे ग्राह्य बनता है. ऐसी तामस इन्द्रियका अधिष्ठान कहां खोजने जाना ऐसी आपत्ति करनी अनुचित है क्योंकि चक्षु इन्द्रियसे सुननेवाले जीवको एक ही नेत्रगोलकमें दो इन्द्रियां मानी जाती है. उसी तरह यहां भी हमारी चक्षु इन्द्रियके गोलकमें एक तामस इन्द्रिय और अवस्थित रहती हुयी मानी जा सकती है. आलोक-आलोकवर्ती पदार्थ और अन्धकार दोनोंको देख पानेवाली चक्षु इन्द्रिय एक साथ होती हैं ऐसा सोच लेना चाहिये. यहां किसीको ऐसी शंका हो सकती है कि तब तो आलोककी विद्यमानतामें भी तामस इन्द्रियके भी होनेके कारण तामस प्रत्यक्ष होना चाहिये. तमस्‌को अनित्य मान लेनेपर आलोकद्वारा उसका नाश भी होता मान लेनेपर कोई दोष नहीं रह जाता, ऐसा कहना परन्तु युक्तियुक्त नहीं है. तमस् या तामस जैसा कुछ भी हो उसकी सिद्धि तामस इन्द्रियके साथ संयोगके कारण होती है, ऐसी इन्द्रियान्तरकी कल्पना, ऐसे तमोरूप द्रव्यान्तरकी कल्पना, उसके प्रागभावों और प्रध्वंसाभावों की कल्पना यों कितनी अधिक अतिगौरवग्रस्त कल्पनाओंको करना पड़ता है. जोभी क्रियावान् रूपवान् महत्परिमाणवाला द्रव्य हो उसका आलोकसे पैदा होनेवाले चाक्षुष प्रत्यक्षका विषय होना नियत होता है. अतः कल्पनाये अशक्य लगती हैं.

अतः तमस्‌को द्रव्य न मान कर "उद्भूत या अनभिभूत ऐसे प्रचुर महान् तेजका सामान्याभाव" मानना ही उचित लगता है. "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावः तमः" (वैशे.सू.५।२।१९) इस सूत्रमें भी ऐसा ही कहा गया है. यहां 'निष्पत्तिः'[२]=सामान्य विशेष और समवाय, 'भा'=उक्त प्रकारवाला तेज, 'वैधर्म्य'=भेद. अतः "द्रव्यादि छहोंसे भिन्न होनेके कारण यथोक्त तेजोऽभावरूप तमस् होता है" ऐसा अर्थ सूत्रद्वारा अभिप्रेत समझना चाहिये. इसमें अवधेय बात यही है कि अनुद्भूतरूपवाला चक्षु इन्द्रियात्मक तेजस् तो तमस्‌के साथ भी रह सकता होनेसे जो अव्याप्तिदोष आता है उसके वारणार्थ 'उद्भूत' पद जोड़ना आवश्यक होता है. मरुभूमिकी वालुकामें भी सूर्यकी किरणें प्रविष्ट हो जाती होनेसे वहां अव्याप्तिके निवारणार्थ 'अनभिभूत' पद अपेक्षित होता है. तेजस्‌के भी परमाणु आदि तो होते ही हैं अतः वहां अव्याप्तिके निवारणार्थ 'प्रचुर'-'महत्' पदोंको जोड़ना आवश्यक है. वस्तुतः तो किसी तरहकी प्रमाका न होना तमस् है नकि पूर्वोक्त अभाव क्योंकि उनमें कल्पनागौरव होता है. कुछ अनुभूतिओंमें साधारणतया अनुगत होनेवाली प्रतीतिके साक्ष्यके आधारपर प्रमा होना एक सामान्यधर्म है. नच प्रत्येक चाक्षुष प्रत्यक्षमें आलोकका संयोग हेतु होता है अतः आलोकके अभावमें तमस्‌को चाक्षुष कैसे माना जा सकता है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये. क्योंकि तेजस्‌के सामान्याभाव आदिसे भिन्न जो चाक्षुष प्रत्यक्ष होते हैं उन्हींमें आलोकको सहकारी माना गया है.

२.अविज्ञातनामवाले कर्ता द्वारा रचित प्राचीनवृत्तिमें सूत्रपाठः "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् अभावः तमः" इति. इसकी विवृतिमें भी "'निष्पत्ति'=तेजस्‌से भिन्न सामान्य विशेष और समवाय भावपदार्थ समझने चाहिये" ऐसा कहा गया है.(सम्पा.).

(इस विषयमें 'प्रत्यक्तत्त्वदीपिका'कारका मत)

'प्रत्यक्तत्त्वदीपिका'कारका कहना है कि पृथिवीमें, रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व गुरुत्व द्रवत्व संस्कार, नामक चौदह गुण होते हैं. जलमें यद्यपि स्वयं उसका गन्धगुण नहीं होता फिरभी स्नेहगुण तो होता ही है अतः उसमें भी चौदह ही गुण होते हैं. आत्मामें संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म भावना संस्कार नामक ग्यारह गुण होते हैं. वायुमें रूप द्रवत्व के अलावा उक्त नौं गुण होते हैं, मनस्‌में स्पर्शगुण नहीं होता पर अवशिष्ट आठ गुण होते हैं, आकाशमें शब्द संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग नामक छह गुण होते हैं. अविनाशी होनेके रूपमें दिशा और काल में शब्द नहीं होता परन्तु अवशिष्ट संख्या आदि पांच गुण होते हैं. इनमें तमोद्रव्यका अन्तर्भाव स्वीकारनेपर यथायथ इतने गुण होना अनिवार्य होनेसे इनमें अन्तर्भाव माना नहीं जा सकता. इसी तरह गुणोंमें भी अन्तर्भाव माना

नहीं जा सकता क्योंकि नीले रंगकी प्रतीति तथा इस गुणके साथ रहनेवाले गन्ध आदि गुणोंकी उपलब्धि अनिवार्य होनेसे. जल और तेजस् तो शुक्ल होते हैं उनमें भी अन्तर्भाव शक्य नहीं. नीले रंग होनेके कारण अन्धकारका वायु और आकाश में भी अन्तर्भाव शक्य नहीं उनके रंगरहित होनेके कारण. अन्धकारका अन्तर्भाव कर्मके भीतर भी माना नहीं जा सकता है क्योंकि कर्ममें संयोग विभाग और समवायित्व होता है पर अन्धकारमें वे नहीं होते. सामान्य विशेष या समवाय में भी अन्धकारका अन्तर्भाव शक्य नहीं. क्योंकि ये जिस आश्रयभूत व्यक्तिमें होते हैं उनकी उपलब्धिके पश्चात् ही उपलब्ध होते हैं, जबकि, अपने आधारभूत व्यक्ति आश्रय या सम्बन्धी के उपलब्ध होनेपर अन्धकार अनुपलब्ध होनेके बजाय उपलब्ध होने लगेगा. इसी तरह ''अन्धकार तमालके जैसा श्याम'' होता है ऐसे रंगके अनुभूत होनेके कारण अभावमें भी अन्धकारका अन्तर्भाव शक्य नहीं है. यों स्वीकृत किसी भी द्रव्यमें अन्धकारका अन्तर्भाव शक्य न होनेसे इसे द्रव्यान्तर मानना पड़ता है.

एक आशंका यह होती है कि द्रव्योंके चाक्षुष प्रत्यक्षमें आलोकसंयोगको सहकारिकारण माना गया होनेसे आलोकके अभावमें चक्षुसे प्रकट होनेवाला तमोज्ञान आंखोंको मीचनेपर कुछ भी न दीखनेके कारण अंधेरेकी तरह दीखने लगता अभिमानमात्र ही होना चाहिये, परन्तु यह धारणा उपपन्न नहीं होती क्योंकि प्रत्येक चेतनव्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है. अतः ज्ञानके बिना होता व्यवहार बाधित हो जायेगा. ऐसे भी कहा नहीं जा सकता कि जब किसी पट आदि वस्तुओंमें शुक्ल रंग दिखलायी नहीं देता तब वहां नीले होनेकी प्रतीति होने लगती है. अतः आलोकज्ञानके अभावके साथ होता विषयज्ञान ही नीले रंगके ज्ञानका हेतु बनता है. क्योंकि ऐसा ज्ञान तो अचाक्षुष होता है सो ''नीला तमस्'' इस तरहके चाक्षुष व्यवहारका वह उपपादक हो नहीं पायेगा. अतः आलोकविरोधी तमस् आलोकाभावसे व्यंग्य होनेके कारण तमोज्ञानको आलोकनिरपेक्ष चक्षुसे पैदा होनेपर भी उसे भ्रम नहीं माना जा सकता, जितनी भी सामर्थ्य हों उन्हें उन-उन कार्योंके उत्पन्न होनेपर यथाकार्य स्वीकारना पड़ता है. अन्यथा आलोकाभावको भी रूपवान्के अभाव होनेके कारण आलोकनिरपेक्ष चक्षुसे अग्राह्य माननेका

प्रसंग उपस्थित होगा. अभावका ग्रहण सर्वत्र ग्रहणयोग्य पदार्थकी अनुपलब्धिके साथ प्रतियोगीकी ग्राहिका सामग्रीसे ग्राह्य देखा जाता है. आलोकविरोधी होनेके कारण आलोकनिरपेक्षता प्रकृते विषयमें भी समान ही है.

यदि कोई यहां ऐसी शंका करे कि जब आलोकाभावको तमस्का अभिव्यंजक मान ही लिया तब कल्पनालाघवके विचारसे उतने भरसे काम न चला कर अतिरिक्त 'तमस्'द्रव्य मानना निरर्थक कल्पना लगती है. इस शंकाके समाधानतया यह कथनीय है कि तमस् वैसे तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है. उस प्रत्यक्षको प्रमाके रूपमें सिद्ध करनेका ही यह उद्योग है अतः वैसे पर्यनुयोगको यहां अवकाश नहीं है. यदि पूछा जाये कि इस ज्ञानको भ्रमरूप क्यों नहीं मान लिया जाता? तो उत्तर यह है कि बाधक कोई अन्य प्रत्यक्ष तो होता नहीं है. अनुमानको ही बाधक मानना हो तो प्रत्यक्षके विरोधके कारण तो अनुमान स्वयं बाधित हो जायेगा. यदि कहा जाये कि नेत्रव्यापारके बिना आंखें मिची होनेपर भी अन्धकार दिखलायी देता होनेसे अन्धकारको चाक्षुष मानना ही अनुचित है, तो इस बारेमें एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि पलकोंके भीतर भरा अन्धकार तब आंखोंको अपने देखनेके व्यापारवश दिखलायी देने लगता होगा. पलकोंके भीतर जैसे अन्धकार दिखलायी देता वैसे ही अन्य भी रूपवान् वस्तु दिखलायी देनी चाहिये ऐसी आशंका व्यर्थ है, क्योंकि बाह्य वस्तुओंके दर्शनमें आलोकका सहकारी होना आवश्यक है. अतएव इन्द्रियोंकी तो अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तो होती नहीं है अतः पलकोंके भीतर भरे अन्धकारके दर्शनकी बातको नकारना नहीं चाहिये क्योंकि बंद कानोंके भीतर भी प्राणोंका घोष सुनायी देता होनेसे श्रोत्रेन्द्रियोंका अन्तर्मुखी व्यापार भी स्वीकारना पड़ता ही है. श्रोत्रेन्द्रियमें कर्णशष्कुलीरूप आकाश होनेसे स्वयं उसमें समवेत शब्दोंका ग्रहण होता है नकि कोई व्यापारवश, ऐसी आपत्ति भी अप्रासंगिक है. क्योंकि बाहर भी श्रोत्रेन्द्रियकी प्रवृत्ति दिखलायी तो देती ही है. अन्यथा ''सुरसरीके तटपर शब्द हो रहा है'' ऐसी शब्दके देशकी प्रतीति बाधित हो जायेगी. जहां गन्धगुण नहीं होता वहां नीलरूप भी नहीं हो सकता है ऐसी व्याप्तिके आधारपर ऐसी

अनुभूतिको भ्रान्ति मानना भी उचित नहीं है, अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवीमें होता है जो गन्धादिगुणोंसे व्याप्त होनेपर भी वायुमें भी उपलब्ध तो होता ही है. अतः प्रतीतिबलके वश जैसे वहां अंगीकार किया जाता है, ऐसे ही यहां भी नीलरूपको स्वीकार लेना चाहिये. यदि कहा जाये कि पाकज अनुष्णाशीत स्पर्श ही गन्धादिसे व्याप्त होता है दूसरे नहीं. अतः कोई भी दोष नहीं, तो यह कथन भी उचित नहीं है. यहां भी तब ऐसा सोचा जा सकता है कि पाकज नीलरूप ही गन्धादि गुणोंसे व्याप्त होता है सारेके सारे नील आदि गुण नहीं. पाकज नीलरूप जैसा तो कुछ भी होता ही नहीं, ऐसे भी कहा तो नहीं जा सकता. क्योंकि पाकज नीलगुणके होनेके प्रत्यक्ष तुल्य ही होते हैं. ''तमस्‌ रूपरहित होता है स्पर्शरहित होनेके कारण आकाशकी तरह'' ऐसे अनुमानसे विरुद्ध जाती होनेसे तमस्में रूप होता ही नहीं. अतः यह सारा चिन्तन वृथा लगता है, ऐसी युक्ति नहीं देनी चाहिये. क्योंकि नीले रूपका ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षसे विरुद्ध होनेके कारण यह हेतु खुद कालात्ययापदिष्ट है. अन्यथा ''वायु स्पर्शरहित होता है रूपरहित होनेके कारण आकाशकी तरह'' ऐसे अनुमानके बलपर वायुमें भी रूपापत्ति दुर्वार सिद्ध होगी. अतः अन्धकारको अभावरूप नहीं किन्तु मनस्‌की तरह स्पर्शरहित परमाणुओंसे आरब्ध तमस्‌को मानना चाहिये.

(सिद्धान्तका निरूपण और द्रव्यान्तरताका निरसन)

तमस्‌को द्रव्यादि माना नहीं जा सकता,

सूत्रोंमें कहीं उसका निरूपण मिलता न होनेके कारण.

और न उसे प्रकाशका अभाव ही माना जा सकता है,

वैसा नाम कहीं भी उपलब्ध न होनेके कारण।।

पुराणोंमें इसे 'माया' कहा गया होनेसे

इसे मायाका एक कार्यान्तर जानना चाहिये।।३।।

तमस्‌का जो द्रव्यान्तर होना माना वह तो निराधार लगता है. भगवान् बादरायणने या जैमिनिने अपने शास्त्रोंमें कहीं भी ऐसा प्रतिपादन नहीं किया है. पुराणादिमें जहां सृष्टिके उत्पन्न होनेकी प्रक्रिया निरूपित हुयी हैं,

वहां भी द्रव्यके रूपमें तमस्‌की उत्पत्ति दिखलायी नहीं गयी है. यदि कहा जाये कि सूत्रकार लौकिक पदार्थोंके चिन्तनार्थ प्रवृत्त नहीं हुवे हैं अतः तमस्‌के उत्पन्न होनेका वर्णन नहीं मिलता. तब तो विरोध जहां न हो ऐसे वैशेषिक ग्रन्थोंमें प्रतिपादित पदार्थोंके भी अंगीकारमें कोई दोष नहीं होना चाहिये. यदि ''शिष्टापरिग्रहात्...'' ब्रह्मसूत्रमें इस मतको अस्वीकार किया गया होनेसे दूषणीय मानना हो तो उनका नियत पदार्थवाद भी अनादरणीय मानना चाहिये. फिर क्यों व्यर्थ दशम द्रव्य होनेकी बात स्वीकारनी चाहिये? वैसे तो युक्तिसिद्ध तो कोई भी बात माननेमें कोई आपत्ति होनी ही नहीं चाहिये. यदि कहा जाये कि समवायिकारण होनेके कारण गुणाश्रय होनेके कारण द्रव्य मानना आवश्यक लगता है. तो वह अयुक्त है क्योंकि आरम्भक पदार्थकी सिद्धि आरभ्य पदार्थके सिद्ध होनेपर होती है. अतः प्रतियोगीके साथ प्रतिबद्ध होनेवाली प्रतीतिवाली होनेके कारण अन्धकारके क्रियावान् होनेकी प्रतीतिके निर्वाहमें अन्धकारके आरभ्यद्रव्य होनेकी कथा वादकवलित हो जाती है. आरम्भकके भी असिद्ध होनेके कारण समवायिता कह पाना शक्य नहीं लगता. इसी तरह गुणाश्रय होनेके रूपमें भी अन्धकारको भावद्रव्य सिद्ध करनेके प्रयासमें पृथिवीमें उसका अन्तर्भाव न माननेवालोंने नीलरूपसे अतिरिक्त गुणोंको तो माना नहीं है. सो आद्यक्षणमें उसका अभाव होनेके कारण गुणाश्रयता ही जब सिद्ध न होती हो तब द्रव्यत्व कैसे सिद्ध होगा? अतः इस विषयमें भाट्टमतका अनुसरण मित्रोंसे उधार लिये आभूषणोंसे स्वयंको सजानेकी आडम्बरवाली मनोवृत्ति लगती है.

(तमस्‌का पृथिवीमें अन्तर्भावका विमर्श)

कुछ चिन्तक नीले रंगका होनेके कारण तमस्‌का पृथिवीमें अन्तर्भाव मानते हैं. वह भी संगत नहीं लगता, पृथिवीका सामान्य लक्षण गन्धवान् होना अन्धकारमें विद्यमान न होनेके कारण. ''अन्धकार पृथिवी न हीं हो सकता गन्धहीन होनेके कारण'' ऐसे प्रतिपक्ष द्वारा बाध भी शक्य होनेसे. गन्धकी अनुपलब्धिकी व्याख्या अनुद्भूतगन्ध गुणके आधारपर सम्भव नहीं, अशक्य होनेके कारण. अन्धकारका पाक भी शक्य न होनेसे, पाकज अनुष्णाशीतस्पर्शकी भी कथा ऐसी ही समझ लेनी चाहिये.

(नीला रंग ही तमस् होता है कन्दलीकारके ऐसे मतका विमर्श)

कन्दलीकार नीला रंग ही तम होता है ऐसा कहते हैं. वहां भी उसे पृथिवीका ही गुण मानते हैं तो अञ्जन आदि जैसे नीले द्रव्यकी तरह प्रकाशपातन होनेपर भी अन्धकारका चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये. अन्यथा आधाररहित माननेपर तो गुण होना ही निरस्त हो जाता है. अतः जो गुण ही न हो उसे रंग कैसे कहा जा सकेगा?

(तेजस् द्रव्यके अभावरूप होनेका निरास)

इसी तरह अन्धकारका तेजोऽभावरूप होना भी संगत नहीं लगता है. कोशोंमें उसके अनेक **''अन्धकार ध्वान्त तमिस्र तिमिर तमस्. गाढ़ अन्धकारके 'अन्धतमस', क्षीण अन्धकारके 'अवतमस', चारों और फैले अन्धकारके 'सन्तमस'''** (अम.को.१।८।३) इत्यादि नाम अन्धकारके अथवा उसके अवान्तर भेदोंके दिये हैं. इन अनेक नामोंके अन्तर्गत 'तेजोऽभाव' नाम मिलता नहीं है. जैसे **''अविद्या 'अहं'मति''** (अम.को.१।५।७) मिलता है वैसे कहीं भी ''तेजोऽभावो अतेजो अप्रभा'' इत्यादि पाठ उपलब्ध नहीं होता. यदि अन्धकार तेजोऽभाव होता तो तेजोऽभावके वाचक नामोंके अन्तर्गत कमसे कम 'अन्धकार' या 'तमस्' जैसे कोई नाम होने चाहिये थे. इसी तरह अन्य भी भेद अन्धकारके कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती. एक और बात यह है कि प्रतियोगी और उसके अभाव के बीच सर्वदा एकदूजेके भाव या अभाव होनेका ही विरोध होता है, अन्य कुछ नहीं. तेजस् और तमस् के बीच जबकि वध्यघातकभाव विरोध प्रतिपादित हुवा है, ''तेजके द्वारा तमस्को नष्ट किये जानेपर'' ऐसी प्रतीति होती है. भागवतमें भी अतएव ऐसा उल्लेख मिलता है कि **''भानु उदित हो कर पुरुषके नयनोंमें तमस्को खतम कर देता है''** (भाग.पुरा.११।२८।३४), **''प्रदीपकी प्रभाकी तरह गुहामें भरे अन्धकारको आप खतम कर रहे हो''** (भाग.पुरा.१०।५१।३०) इति. सृष्टिके निरूपणमें भी **''अपने प्रस्वापनरूप तमस्का पान भगवान्ने अपने तेजद्वारा किया''** (भाग.पुरा.३।२६।२०), प्रलयके निरूपणके प्रसंगमें भी **''ज्योतिका रूप तमस्द्वारा हर लिये जानेपर वह वायुमें लीन हो जाती है''**

(भाग.पुरा.११।३।१४) इत्यादि प्रयोग पुराणोंमें उपलब्ध होते हैं. **''दिन प्रकट करनेको अरुणने तमस्का निरसन किया''** ( ) इस वाक्यमें भी इसी तरहका प्रयोग उपलब्ध होता है. **''लोकालोकसे आगे बढ़ कर सुमहान् तमस्के भीतर प्रवेश किया''** (भाग.पुरा.१०।८९।४८)इत्यादि वचनोंमें अन्धकारको प्रवेशयोग्य और परिमाणवाला भी कहा गया है.

(छायाको क्या अन्धकारका अवान्तर प्रभेद माना जा सकता है?)

एक बात यह और है कि छायाको कुछ वृद्धपुरुष अन्धकारका अवान्तर प्रभेद मानते हैं. वह तो अति असंगत लगता है, **''रात्रीमें दीप और मञ्चक की छाया बोधिच्छाया तथा नीचजनोंकी छाया पूर्वकृत पुण्यका नाश कर देती है''** ( ) इत्यादि वचनोंमें तेजोद्रव्यसे अतिरिक्त प्रतियोगियोंके भी उल्लेख मिलते होनेसे तथा चाण्डाल आदिकी छायाके स्पर्शसे प्रायश्चित्तका भी विधान मिलता होनेसे. एक शंका यह उठायी जा सकती है कि **''छाया' आदि पद अनातप तथा कान्ति के वाचक होते हैं''** इस तरहके कोशगत उल्लेखके कारण आतपाभावको 'छाया' कहा जाता है. ऐसा विधान, परन्तु, पदोंकी अनेकार्थताके वश है. अन्यथा विरोधप्रसंग उभरेगा. **''छाया प्रत्याह्वय आभास असत् होनेपर भी अर्थक्रियाकारी बनते हैं''** (भाग.पुरा.११।२८।५) इस वचनमें असत्त्वकथनसे अन्यथा विरुद्ध बात होगी.

(सिद्धान्तीको अभिमत तमस्का स्वरूप)

अतः द्वितीयस्कन्धमें जैसा भगवान्ने कहा है कि **''अर्थके बिना जो प्रतीत होता है और जो आत्मामें प्रतीत नहीं होता उसे आत्माकी माया समझनी चाहिये. जैसे आभास और तमस् होते हैं''** (भाग.पुरा.२।९।३३) इस कथनके आधारपर अन्धकार मायाका परिणामविशेष भावातिरिक्त पदार्थान्तर ही होता है. तेजस्के न होनेपर माया तमस्को मनुष्य आदिके प्रति प्रकट करती है, सभीके प्रति नहीं. अतएव उल्लु या बिल्ली की आंखें प्रकाश न होनेपर केवल तेजस्का अभाव ही गृहीत करती हैं,

अन्धकार नहीं. अतएव वैशेषिक दर्शन भी उलूकरूप धारण कर कणाद ऋषिने प्रकट किया है अतः उन्होंने तमस्को चाक्षुषतेजके अभावके रूपमें ही गृहीत किया, नकि अन्धकारके रूपमें. अतएव "भाभावः तमः" (यथापूर्वोक्त) यह उक्ति भी युक्त लगती है. इसी तरह क्योंकि हमारी दृष्टि अन्धकारसे घिरी हो तब हमें तमस् ही गृहीत होता है और कोई विषय नहीं. उसी तरह उल्लु या बिल्ली की आंखें, क्योंकि कोमल होती हैं, अतः प्रकाश यदि प्रबल हो तो उनका प्रतिघात हो जाता है. अन्यथा सुखेन उन्हें विषय दिखलायी देतें हैं. उनके चाक्षुष प्रत्यक्षमें जिस तरहका कार्यकारणभाव काम करता है, उस नियमको हमें हमारे चाक्षुष प्रत्यक्षके कार्यकारणभावमें बीचमें लाना अपेक्षित् नहीं, क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्षके उत्पन्न होनेमें दूरत्व व्यवधान आदि प्रतिबन्धक होते हैं ऐसा स्वीकारा गया है. ऐसा सर्वसम्मत होनेके कारण किसी भी तरहकी कल्पना करनेकी अपेक्षा ही नहीं है.

(तमस्का आवरक होना)

तमस्का आवरक होना भी **"तमस्से दिशायें आवृत थी"** (भाग.पुरा.१०।८०।३३) इत्यादि पुराणवचनोंमें प्रसिद्ध है ही. विषय और चक्षु के बीच किसी तरहके व्यवधानके बिना दोनोंका संयोग होनेपर चाक्षुष प्रत्यक्ष पैदा होता है. अतः प्रस्तुत कार्यकारणभाव सारे चाक्षुष प्रत्यक्ष रूपी कार्यके प्रति होता है. इसी तरह विषयके आवृत न होने पर घट आदि विषय प्रकाशित होते हैं, इस तरहकी अनुभवविषयता द्वारा ही सारी बातोंका निर्वाह हो जाता है. यों विषय और आलोक के संयोगको और उस संयोगके अभावको कारणकोटिमें प्रवेश न देनेसे प्रत्युत कल्पनालाघव ही होता है. यहां ऐसे कहा नहीं जा सकता कि तब तो घर आदिमें त्रसरेणुओंका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये, तुल्य होनेके कारण. विलक्षण आलोकके साथ संयोग घटित न होनेके कारण त्रसरेणुओंका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसे भी कहा नहीं जा सकता है. क्योंकि घर आदिमें छायारूप अल्पतमस् के द्वारा त्रसरेणुओंका आवरण कहा-सोचा जा सकता है. यदि सच ऐसा ही होतो प्रचुर आलोकमें त्रसरेणुओंका प्रत्यक्ष होना चाहिये, ऐसी भी आपत्ति भी अनावश्यक है क्योंकि वहां तेजस् द्वारा त्रसरेणुओंका आवरण शक्य है ऐसा

कहा जा सकता है. इतनी क्लिष्ट कल्पना करनेके बजाय एक तेजोऽभावको व्यवधायक मान लेनेमें लाघव होगा ऐसा अंगीकार भी उचित नहीं, क्योंकि तब नीले रंगकी जो प्रतीति होती है वह बाधित हो जायेगी. नीले रंगकी प्रतीतिको भ्रम भी माना नहीं जा सकता है क्योंकि भ्रम भी मान लें तब भी यथोचित विषयकी अपेक्षा बनी ही रहेगी, और उस भ्रमके विषयको भाव या अभाव के बीच दोमें से एक भी कह पाना शक्य न होनेसे, वैसे भ्रमके विषय होनेके रूपमें 'विषयता' नामक पदार्थान्तर रूपी तमस्की सिद्धि बिना किसी भी दोषसम्भानाके सिद्ध हो जायेगी.

एक शंका यहां यह उठ सकती है कि भ्रम होनेपर उसे विशिष्ट बोधरूप मानना पड़ेगा, और तब उसे विशेषणके ज्ञानसे उत्पन्न होता भी मानना पड़ेगा. प्रकृत प्रसंगमें भी भ्रमकी सिद्धि विशेषणज्ञान, विशष्यके भानकी सामग्री, विशेषण और विशेष्य के संसर्गका अगृहण, नीले रंगका ज्ञान, जो विषय हमारी चक्षुके साथ जुड़ पाया हो उसके विशेषणतया नीले रंगका ज्ञान, नील और तेजोऽभाव के बीच संसर्गाग्रह आदि अनेक कारणसामग्रीओंके कारण शक्य हो पायेंगी. ऐसी स्थितिमें नीलतमोरूपा विषयताको स्वीकारना आवश्यक नहीं लगता है.

इस आपत्तिके परिहाररूपेण यह अवधेय है कि विशेषणीभूत नीलज्ञान यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप हो तो पूर्वेक्तयुक्तिके अनुसार उसका विषय तमस् तो होना ही चाहिये. यदि उसे स्मरणरूप भी मानते हैं तब भी स्मरण तो संस्कारवश उत्पन्न होता है और तेजस्के अभाव होनेके कारण तेजोऽभाववाले सफेद चूनेसे पुते घर आदिमें नीले रंगके संस्कारोंको उभारनेवाले पूर्वानुभूत नीले रंगके जैसे विषयतारूप कोई दूसरा नीला रंग सोचना पड़ेगा. नीले रंग जैसा वहां कुछ भी न हो तो नीले रंगका संस्कार ही उभर नहीं पायेगा स्मरण भी हो नहीं पायेगा. अतः स्मरणके उदित होनेको पूर्वानुभूत विषयके संस्कारोंका उद्बुद्ध होना आवश्यक होता है. ऐसी स्थितिमें यदि अदृष्टको भी उद्बोधक मानने तैयार हो जायें तब भी दृष्टसामग्रीके बिना अदृष्ट भी अकिञ्चित्कर ही सिद्ध होगा. अदृष्ट भी अन्ततः

तो दृष्ट सामग्रीके घटकतया अपेक्षित होनेसे उपेक्षणीय लगता है. पूर्वानुभूत विषयका अधुनानुभूयमान विषयतया उपनयनद्वारा उत्पन्न होनेवाले नीले रंगका उपनीतभान मानने उद्यत हो जायें तब भी उस नीले रंगके उपनायक स्मरणके उदयार्थ पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार अनेकविध अपेक्षा तो रहेंगी ही. इसीसे स्मर्यमाणका आरोपका भी समाधान मिल जाता है. पूर्वानुभूत चाक्षुष प्रत्यक्षका भी उपनीत भान माननेपर और अनुभूयमानका आरोप की भी पूर्वोक्त युक्तिओंसे उत्तर तो दे दिया गया है.

(प्राभाकर एकदेशीके मतका विमर्श)

प्रभाकरके अनुगामी तेजोज्ञानके अभावको तमस् मानते हैं वह तेजस्‌की विद्यमानतामें भी उसके ज्ञान न होनेपर तमःप्रतीति होती है, अतः ऐसा कहना चाहते हैं. यह तो व्यर्थकी कल्पना है ज्ञानाभावका ज्ञान तो मानस होता है और ''तमस् नीले रंगका है'' यह ज्ञान तो चाक्षुष होता है. अनुव्यवसाय भी यहां तेज नहीं है ऐसा ही होता है नकि तेजस्‌का ज्ञान नहीं है ऐसा अनुव्यवसाय होता है.

(सिद्धान्तानुसारी निष्कर्ष)

अतः मूलशक्ति मायाका कार्यभूत आवरणात्मक[३] तमस् कोई अर्थान्तर है इतना निश्चित होता है.

श्रीवल्लभके चरणकमलमें चित्त लगा कर।।
सुबोधिनी-अनुसार तमस्‌को समझाया है।।३।।

इस तरह श्रीवल्लभाचार्यमतवर्ती श्रीमद्वल्लभनन्दनके चरणनलिनोंके
परागद्वारा सकल सिद्धिओंको पानेवाले
श्रीपीताम्बरात्मज पुरुषोतमकी कृतिमें अवतारवादावलीमें
नवम अन्धकारवाद समाप्त हुवा
श्रीरस्तु

३.यहां एक शंका उभरती है कि तमस्‌को मायिक आवरणरूप माननेपर बीचमें तमोव्यवधान हो पर उस तमोदेशके पश्चाद्वर्ती देशमें आलोक और विषय के संयोग होनेपर ऐसी वस्तुका

प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये था नयनोंमें अन्धकाररूप आवरणके विद्यमान होनेके कारण. इस विषयमें यों समाधान खोजा जा सकता है कि जिस देशमें माया द्वारा पुरुषके नयनोंमें तम उत्पन्न किया गया हो उसी देशमें अवस्थित रूपवान् द्रव्योंकी अनुपलब्धि होती है. बीचमें तमोव्यवधान होनेपर भी आलोकवाले देशमें अवस्थित द्रव्योंकी तमोव्यवधानविशिष्ट उपलब्धि हो सकती है. चन्द्रसूर्योपरागमें भी ऐसा ही तो होता है. अतः तमस् और रूपवाले द्रव्यों के समानदेशमें अवस्थित होनेपर ही मायिक आवरण-आवरणीयभाव स्वीकारना चाहिये अन्यथा नहीं. अतएव कहीं तमस् और प्रकाश के बीच तारतम्य होनेपर तमोनिवारणमें अक्षम प्रकाश भी तमोदेशमें अवस्थित रूपवाले द्रव्यके साथ संयोग होनेपर केवल उसी द्रव्यका प्रकाशन करते हुवे भी मिलता होनेसे इस तरहके निरूपणमें कोई बाधा नहीं आती. प्रकाशकी मात्रासे अधिक मायाद्वारा निर्मित होनेपर ही तमस् रूपवाले पदार्थोंका आवरक बन पाता है[श्या].

तमोवादकारिकानुवाद

जिज्ञासु अध्येताओंको इस विषयमें तमस्के तुलनात्मक स्वरूपका बोध हो पाये तदर्थ महामहोपाध्याय पण्डितरत्न श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य द्वारा प्रणीत मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक में से तमोवादसंग्रहकारिका उनके प्रति अपनी कृतज्ञता द्योतित करते हुवे यहां उद्धत करना चाहुंगा–

(१)

तमस् चलनक्रियावाला नीला बहुत या विरल पर।
अपर या महान् अथवा दीर्घ ह्रस्व भी प्रतीत होता है।।
किसी भी पुरुषके इस तरहके अनुभव
कभी बाध तो होता नहीं है।।
अतः वैदिकोंका कहना है कि तमस् प्रभामण्डलकी तरह होता है।।

(२)

तमस् पृथिवी का ही रूपान्तर है ऐसा कुछ लोग कहते हैं।
वेदान्ती इसे प्रकृतिका अवान्तर प्रभेद मानते हैं।।
आलोक द्वारा दूरात्सारित होता होनेसे अथवा
विनष्ट होनेके कारण भी।
अथवा अभिभूत हो जानेके कारण भी बीचमें उपलब्ध नहीं होता।।
तमस्को रूपवाले विषयोंका आच्छादक मानना
युक्तिसंगत नहीं लगता।
क्योंकि तमोव्यवहित आलोकस्थित
नाना अर्थ दिखलायी देते ही हैं।।
अतः मनुष्योंकी दृष्टिके दृश्यके साथ हो पानेवाले सम्बन्धमें।
दर्शनकी क्रियामें प्रतिघाती होना तमस्में स्वभावगत होता है।।
रूपरहित होनेपर भी वायु जैसे स्पर्शके सहित होता है।
उसी तरह तमस् स्पर्शरहित रूपसहित हो सकता है।।

(३)

प्रभाकर गुरुके मतमें तेजोरहित अधिकरण तम होता है।
ग्राहक आत्माके उपलब्ध होनेके कारण और

नीले रंगकी स्मृतिके कारण भी।।
''तम नीला है'' ऐसा ज्ञान दोनोंके बीच रहे
भेदके गृहीत न हो पानेके कारण होता है।
तमस्में चलनक्रिया
आलोकको चलनक्रियाके कारण प्रतीत होती है।।

(४)

वैशेषिकोंकी किरणावलीमें तमस्को तेजोऽभाव माना गया है।
दूसरे कुछ तमस्को अन्धजनोंको जैसे
रूपज्ञान नहीं होता वैसे ही
नेत्रवानोंको रूपज्ञान न होना अन्धकारका स्वरूप मानते हैं।।
आकाशमें जैसे मलिनता प्रतीत होती है
वैसे ही निरालोक देशमें आरोपित तमस्का भान होता है।
कन्दलीकारका कहना है कि नीला रूप ही तमस् होता है।।

(५)

जैनोंके अनुसार तमस्के भी सर्वविध शक्तिवाले
अणु या पुद्गल होते हैं
इनके अनेक प्रभेद तमस् छाया आतप होते हैं।
ये बद्दलोंकी तरह प्रतीत होते हैं।।

(६)

निरधिष्ठान–विज्ञानवादि और वैभाषिकादि।
केशोण्ड्रकादिके विज्ञान जैसा इसे भ्रम मानते हैं।।

(७)

भूमिकी छायाके दर्शनको लोकमें तमोदर्शन कहा जाता है।
ऐसा मण्डनमिश्र विधिविवेकमें कहते हैं।।
इस तरह तमस् तत्त्वके बारेमें बहोत सारे विकल्प दिखलायी देते हैं।
जिस तत्त्वका जैसा निरूपण किया जाये
वैसी उस तत्त्वकी व्यवस्था अनुभूत होने लगती है।।
(मान.रह.श्लो.वा.२१).

विषयप्रवर्तन

गो. श्रीश्या. म.

अन्धकारवादके ऊपर चर्चागोष्ठीका आयोजन करनेके पीछे मेरा प्रमुख प्रयोजन यह था कि इससे पहले ख्यातिवाद पर चर्चा की थी. उसमें वाल्लभमतमें अन्यख्यातिका स्वरूप यह निर्धारित हुवा था कि "पुरोवस्थितविषयात् अन्यस्य कस्यचिद् भानम् अन्यःख्यातिः". इस पर विस्तृत विचार हुवा था. ...जैसे कि श्रीपारसनाथ द्विवेदीजीने कहा कि विषयता है. विषयता सारी वाल्लभ मतमें अन्यख्याति है वह अन्यख्यातिवादकी चर्चामें निर्धारित हो गया था. अन्धकार भी एक विषयता है. तब फिर अन्यख्यातिवादमें इसकी गतार्थता होनी चाहिये थी. फिर भी गो. श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने स्वतन्त्र एक अन्धकारवाद क्यों लिखा यह प्रश्न स्वयं मेरेलिये पीडाजनक था. इसलिये मैने सोचा कि इस विषयको सेमिनारके मल्टिडायमेंशन्में डिस्कस् करके देख लें तो स्पष्ट होगा.

और सबसे सन्तोषजनक और आनन्दजनक बात यह समझमें आयी कि अन्धकारको तेजोभावरूप सिवा न्याय-वैशेषिकोंके किसीने नहीं माना है.

बलिराम शुक्ल : वैज्ञानिक कहते हैं.

गो. श्या.म. : नहीं. वैज्ञानिक तो तेजोभावको आईडियल् कहते हैं, रियल् नहीं मानते हैं. वो 'आईडियल्' शब्द रियालिटिके विरुद्ध वापर रहे थे.

...तो ये प्रश्न जब सता रहा था तो अन्धकारवादकी पृष्ठभूमिमें मैने यह सोचा कि कहीं-न-कहीं गो. श्रीपुरुषोत्तमचरणोंका तात्पर्य अन्धकारको अन्यख्यातिसे पृथक बताना होना चाहिये. अन्यथा तो यह अनावश्यक था! इतना बड़ा व्यायाम क्यों करना!

जब यह सोचा तो मुझे यह बात भी समझमें आयी कि

अन्यख्यातिवादके घटक तत्त्व आच्छादन और अन्यथाप्रतीति हैं. उसमें आच्छादन तो अज्ञानसे गतार्थ हो जायेगा. पर जब व्यामोहिका मायाको अन्यथाप्रतीतिहेतुभूता कह रहे हैं तब हम लप्प-धप्प अन्यथाख्यातिमें जा रहे हैं कि नहीं! यह एक प्रश्न पैदा होता है. इसकी विस्तृत चर्चा मैने अपने अन्यख्यातिवाद और अन्यथाख्यातिवाद की चर्चाकी टीकामें की है. तब मुझे यह प्रतीत हुवा कि जो बात गो. श्रीपुरुषोत्तमचरण कहना चाह रहे थे वो पूरी तरह कह नहीं पाये हैं. इसलिये इस दिशामें कुछ और प्रयास करना चाहिये.

इस दिशामें सोचने पर प्रतीत हुवा कि तमस्का जो स्वरूप गो. श्रीपुरुषोत्तमचरणने प्रतिपादित किया है केवल उतना ही स्वरूप नहीं हो सकता है, कुछ ओर भी स्वरूप तमस्के होने चाहिये. क्योंकि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण प्रायः सर्वत्र आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, मायिक इस तरहसे निरूपण करते हैं. इस परसे मुझे यह प्रतीत हुवा कि तमस् एक ऐसा विशिष्ट मायिक पदार्थ है कि जो अन्यख्यातिसे गतार्थ नहीं है. अब उसकी अगतार्थता कहांसे आती है? असत्तासे आती है. अन्यख्यातिके सम्बन्धमें गो. श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि असत् ख्याति नहीं है. पर अन्धकारमेंगो. श्रीपुरुषोत्तमचरणोंके हृदयमें असत्ख्यातिकी कली खिल रही है ऐसा मुझको लग रहा है. यहां असत्ख्याति हो रही है. इसी लिये इस वादको पृथक्तया लिखना पड़ा. जब असत्ख्याति स्वीकारते हैं तो पूरी सैद्धान्तिक सङ्गति चरमरा रही है. इसलिये मैने तमस्के तीन ओर रूप यहां योजित किये कि तमस् आधिभौतिक भी है, आध्यात्मिक तमस् भी है, आधिदैविक भी है और मायिक तमस् भी है जिससेकि उसकी असत्ताका प्रतिपादन अच्छी तरहसे किया जा सके. इस सारी चर्चागोष्ठीके आयोजनके पीछे मेरा यह प्रयोजन था. ये कितना सच और सफल हुआ वो तो परमात्मा जानें, श्रीवल्लभाचार्यचरण जानें.

ANDHAKARAVADA

प्रो. वशिष्ठ नारायण झा

After reading Andhakaravada of Purushottamacharana, I tried to understand in following format.

What is important is to develop a methodology of understanding. The tradition did that. We developed certain methodology to inquire anything that appears before me, that becomes the member of my universe of experience. So whatever is an element of the universe of my experience to enquire into its form and reality part of it, it's functions with which I will interact, what could be the methodology? The starting point always has been our experience. Experience, again, not private experience but public experience. What I mean is that if I say that "this is a mike", you also say that "this is a mike". Then if I enquire but this mike, it no longer remains enquiring into an object which is the member of my universe. It is the member of the universe of all. So this is public. So experience is the starting point. Experience is found ....experience and there is inconsistency in experience. So consistency verses inconsistency. How to account for there this search starts. The word is presented before me in a particular form with the particular name. If I want to get it I go near it and if I find exactly the same structure which was revealed before me by the knowledge by the cognition then I say that my behavior is consistent. Because all functional expectations will be fulfilled only after that. If I see a chair here and if I want to sit I know that a chair can hold me then the cognition reveals that there is a chair in front of me and I go and sit. It is consistent behavior in the sense that the knowledge presented before me a chair which has the function of holding me an I get the chair and I sit on it and it holds me. So this is a way of verification that there is an objective reality and that is verified in this way. So this methodology has been followed in the tradition in all the systems. So the starting point is Anubhava. Anubhava is divided in to two categories : Yathartha and Ayathartha. Yatharth to explain consistency, Ayathartha to explain inconsistency.

The tradition has also developed an idea to define what is yathartha. अबाधितज्ञानविषयत्वम्. If something X is a content of a cognition which is not followed by any contradiction or a contradictory cognition. So X is real because X is a content of a cognition which is not followed by another cognition which denies that it is X. This is a contradictory cognition : बाधकज्ञान. So if बाधकज्ञान does not follow then earler Jnana remains Abadhita, uncontradicted. Therefore अबाधितज्ञानविषय is to be treated as real or satya. So, विषयनिष्ठं सत्यतम्. So the reality of the objectivity has to be analyzed in terms of this kind of parameter that it is an object of kognition which is not followed by another cognition which denies the existence of X. So saying that it is not X. So this is विषयगतं याथार्थ्यम्, विषयगतसत्यत्वम्. Opposite will be the if there is a cognition which has led to inconsistent behavior that means it is a बाधितज्ञानविषयत्वम्. So this अयाथार्थ्य is in the object because it is not an object of the cognition which is not followed by a cognition which contradicts the object of the earlier cognition. So this is विषयगतं याथार्थ्यम्. So X is real or unreal can be deduced on the basis of this methodology developed by Indian shastrakaras of all schools.

Another is that how to say that Jnana is satya or asatya?

E.g. naiyayika says that if jnana is satya then how to ...rise that a particular cognition is true or false? तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञाननिष्ठं याथार्थ्यम्. So तद्वति तत्प्रकारकत्वं that will be the criteria that if a cognition reflect something call 'X', remember that whole universe appears before me with a structure and in that structure if that is identified then there is consistency and if in that structure if that is not identified then there is inconsistency. This is our experience. So if some kind of a super structure, we call it 'Prakara', if I say "this is a chair" this cognition has reflected a structure of the type chairness. It has a locus. And the locus and the located are related by a relationship. So a sambandha and the chairness, i.e. samanya or jati or universal. So there is universal, relationship and the locus of that universal. This is a structure. Whenever language presents universe before you then always it is presented in this form. If it is not presented in this form then we are not aware of its nature and therefore neither the desire to get it or the desire to get rid of it or to remain indifferent about it, nothing can happen.

One element is universal. If that universal is presented by the cognition in its own locus it may be that it is presented in other locus because of other disturbing factors. E.g. रजत-शुक्ति. After seeing conch shell if I say "this is silver" then silverness is appearing not in its own locus but in the locus other then its own locus. So तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्. Therefore the methodology of testing that whether a cognition is true or false is developed by the tradition by this kind of formulation that तद्वति तत्प्रकारकत्वं is the taste to taste that certain cognition is true and तदभाववति तत्प्रकारकत्व is the taste to teste some cognition is false. So after deciding that a cognition is true or false I can come at the point that whether the content

of the cognition is true and false.

Now, in the context of अन्धकार, right from vaisheshika sutra, this text has critically examined whatever thinking has gone on up till 17th century. This is the beauty of this text.

The starting point is anubhava. इह गुहायाम् अन्धकारः. There are two positions : whether अन्धकार is absence of light or is it something positive. Before doing so it is necessary to examine that whether anubhava that i have is it yathartha or ayathartha. "इह गुहायाम् अन्धकारः" is it not the case that I also get the same anubhava or whosoever sees in a cave and he finds that there is darkness. Santence is the verbalization of cognition. We have to decode it. After decoding it we get the cognition. Now whosoever visits a cave where there is no light then he comes out with this kind of sentence that "इह गुहायाम् अन्धकारः". So it is not a subjective experience. But it is an objective experience. Because everybody comes out with the same kind of experience. So it is certain that the cognition is true one. Here we are talking about human beings. Because, some examples of such animals are given who can not see in the day time and can see at night. So, human experience is not contradicted when someone comes and says that इह गुहायाम् अन्धकारः. This is a public experience, a true experience and therefore, starting point must be here. What does this cognition reflect? It reflects there is entity called darkness. There is a term 'अन्धकार' which refers to some entity, which is cognized by the knower.

Now if I take the position that अन्धकार is Abhava that Nyaya-Vaisheshika school holds that it is तेजोऽभावः i.e. absence of light. If

it is absence of light then absence is a category. The whole universe is categorized in two categories : positive entity and another negative entity. These are not अलीक. This is not something which is imagined. It is not constructed. It is very much real. So abhava is very much real as bhava. Now where should I put it? Should अन्धकार be put in to bhava or should I put it in to abhava category? Vaisheshika and Naiyayikas say that it should be put in to abhava category? Immediately the question arises that when you say 'Abhava', when do you know abhava? can you know abhava without the knowledge of Pratiyogi? When you enter in to the cave, do you know it as absence of light ? Because many absences are there. Absence of flower, house, tree etc. So how do you know that you are seeing absence of light? Because unless you say you have knowledge of pratiyogi, the counter positive, you can not have knowledge of abhava. So, the knowledge of अन्धकार now depends on the knowledge of Tejas. Now the question is that whether we see the अन्धकार as absence of Tejas? I may see. You ask everybody. Does everybody see in the same way? So प्रतियोगी ज्ञान is necessary.

Similarly, अनुयोगी ज्ञान is also necessary. Because abhava must be known somewhere. So आश्रय ज्ञान should also be there. Unless there is ashraya, locus, you can not say that there is abhava. Abhava is a सप्रतियोगिक पदार्थः. Being so प्रतियोगि and अनुयोगि ज्ञान is necessary.

The next question is, O K, there is अन्धकार, if it is abhava then which kind of अभाव? Is it dhvansa? Or is it प्रागभाव? Or is it अत्यन्ताभाव? If it is अत्यन्ताभाव it can not be produced. It is already there. If it is प्रगभाव, OK, it has no beginning though it has an end. If

it is ध्वंस then again it has a beginning ...end. So all these questions have been raised. And then in what form this abhava should be identified with अन्धकार those questions have to be asked. Therefore, one primary question is that what is the source of ...if I say अयं घटः. If I see a pot then I know that what is the source of pot. Then again I go for its utpatti. So the one question that is to be raised is that how is the darkness created. Is it created at all or it is not created. If it is created what is the source of creation that has to be mentioned. So wherefrom this darkness has com. And therefore you can find that all the positions have been mentioned here as an enquire in to the source of अन्धकार.

Another is the ज्ञप्ति. Epistemology of अन्धकार. How do I know it? What should be the process of perception through which I should know अन्धकार? So, उत्पत्ति and ज्ञप्ति is also discussed here.

Another thing is that there is line here कन्दलीकार says "नीलरूपं तमः". But in कन्दली टीका this line is not found. Little contemparory Udayanacharya says that रूप is not अन्धकार but where the रूप is अरोपित, and that is अन्धकार. That is अभाव is अन्धकार. And that goes with the statement of Nyaya-Vaisheshika system. So तेजोभावः तमः. नीलिमा is भ्रान्ति.

What I found is that if this is to be discussed and a cognitive analysis is to be presented of the अन्धकारवाद, then perhaps, we have to attend following areas. E.g. I do not know, Purushottamacharan himself says that "भावातिरिक्तपदार्थान्तरमेव". Now what are the categories of the universe? Bhava is one category. Abhava is an entity or not? One model is that the whole universe is

categorized in to two : Bhava and Abhava. What is the model of Purushottamacharan for categorizing the whole universe? Purushottamacharan has refuted that अन्धकार can not be included in abhava. It can not be included in bhava either. And then he says that "भावातिरिक्तपदार्थान्तरमेव". Is this a third category of entity? This is the question I am raising to get and answer and to learn something more about Purushottamacharan's analysis.

Another point is about छाया. What is the physical status of shadow? In shadow there is visibility. In अन्धकार there is no visibility. But if you see Kandalikara or Kiranavali then shadow is one of the verity of अन्धकार. So lot of thought has go on. And latest one we find in this text.

Another point is of linguistic type. Vallabha Vedant is mainly based on Shastra. And therefore, of and on you find that the text recourse to shastra. Either of Veda or Bhagavata or of any other. Even Amarkosha has been taken recourse to show that e.g. Avidya doesn't mean विद्याया अभावः, ज्ञानाभावः. This is opposite to the Nyaya-Vaisheshika methodology. Nyaya-Vaisheshika methodology is that if perception fails then anumana is advanced. And by anumana if conclusions are drowned and if they are corroborated by shastra because it is अस्तिकदर्शन, its not नास्तिक. But the beginning point, the methodology is different.

Before concluding my suggestions are the following. This can not be discussed in isolation. As you can see, even in physical science, the idea of darkness can not be discussed without considering the theories of creation, cosmology. It can not be discussed

without epistemological considerations. . It can not be discussed in isolation. And therefore a holistic approach is necessary and that is the approach of our tradition. Therefore what we do is a concept of reality is to be developed. We are preparing sets of elements. So which element go in which set this what we are doing. So if an analysis is presented in this way that the whole universe is presented in three categories : भाव, अभाव or भावाभाव category. I do not know that. So if this kind of categorizations are made then perhaps understanding and discussion will be more deeper and deeper. This is what our tradition does.

Another thing is the source of plurality. We can not deny, even the idealist can not deny plurality. Because plurality is our experience which is not followed by any contradiction. So what is the explanation of plurality? Where from this plurality emerged? So these things must be kept in mind while discussing अन्धकार vada.

Then presuppositions. Every system call it Advaitavedanta or Vallabhavedanta or Nyaya whatever system. Within the system there explanations are thorough. No contradiction at all. But when they are in dialogue with other systems, then problem arise. How to resolve those problems. Basic presuppositions are to be attacked.

Now clearly there are three positions: one there are positive entities i.e. Bhava as Mimamsakas hold. Abhava as Nyaya-Vaisheshikas hold. And one more, whether it is ज्ञानरूप.

Now where from the अन्धकार came? Source must be gone in to. Because all the views are there. अन्धकार is nitya is there.

अन्धकार is anitya is also there.

And finally I say, we are not using laboratory, we are doing epistemological enquiry. So what is the process through which we cognize अन्धकार also should be discussed.

These are the questions which need to be gone in to deeper level in order to get a clarity and better understanding and batter intuition, better insights to develop this theme.

चर्चा

ANDHAKARAVADA

प्रो. वशिष्ठ नारायण झा

एस्. वी. बोकिल : Shell we accept cognition as direct perception of an object? Or de we have that perception indirectly? We have perceived the object directly or indirectly what exactly is the position of Naiyayika? Because they do accept that there is no direct contact between the indriyas, the sensessions, and the self who knows. There is a manas which bring about that kind of इन्द्रियसन्निकर्ष. If that is the case, how to understand this kind of cognition? This will mean that I can not perceive the object directly. And then I think that the Buddhist have very rightful objection to this simply that you can not know the object what it is. You will have to simply confined yourself to you own ideas, your own vruttis. If that is so who shell we defend realism.

व. ना. झा : This is a question always put to Naiyayika. My answer is it is not indirect perception. The entire process through which perception arises in me, I am the perceiver. So we know who the perceiver is. He is a locus in which the perception is going to occur through direct relationship. How? आत्मा मनसा संयुज्यते. Perception is a cognition in which the object is revealed. So a kind of illumination is going to take place of the object of that cognition. So this is perceptual cognition. Any cognition is like that but this is a direct one. So आत्मा मनसा संयुज्यते मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियं अर्थेन these are

all direct, no indirect one. So the knower through mind, through senses is going to come in to contact to the object and the illumination of that object is going to occur in the knower. So this is direct perception and therefore, the reality of the objective perception is not disturbed at all.

एस्. वी. बोकिल : wouldn't the Naiyayika process of perception limit their realism. They will have to say that only those objects are real which I am able to see directly. What about those objects which are there?

व. ना. झा : No. We don't say that.

एस्. वी. बोकिल : They may not take that position. But the way you start with the explanation of perception, that is the consequence.

व. ना. झा : E.g. again, it is not possible for the human being to have a perception of the whole universe. Then how to say that the universe is real. For that there is another methodology to do that. Even that is achieved. And therefore, a perceiver excellence is postulated. So there is a perceiver, in his perception the whole universe also can be an object. And therefore the universe can be real. So perception is always direct in the Nyaya system.

बलिराम शुक्ल : Modern physics has discovered so many elements and they have proved. So what about the darkness. Is it any element? Is it discovered?

तु. ह. दाते : They are trying to experiment it. And they are...

बलिराम शुक्ल : What type of experiment?

तु. ह. दाते : Experiment is rather perceptive. ...

व. ना. झा : Prof. Date, can we equate darkness with black matter?

तु. ह. दाते : We call 'Dark Matter'. There are elements which are

named and scientists are trying to get concrete understanding of those small ...suppose we take atom. Before inventing atom, it was dark. Now atom is further divided in to electrons, protons etc. So before inventing electrons etc. there was dark matter. Like that the things are gone to Planks level. i.e. 10^{-28}. That smallness. Bellow that what is there, minus forty.

व. ना. झा : What is the nature of that matter?

तु. ह. दाते : That is not known.

बलिराम शुक्ल : Scientists have defined matter. Is that definition applicable to Andhakara?

तु. ह. दाते : Not applicable. It is only imaginary.

के.ई.देवनाथन् : You said that the dark matter can not be seen. But whether it is positive entity or negative entity is not clear. It is said that because light does not reached in massive areas so many galaxies are not visible. It means darkness is negative entity. Absence of light is darkness according to science?

गो. श्या. म. : I think it is other way round. Tejas does not reaches there that is not the case. Tejas does not come from it. Whenever tejas reaches to a black hall it gets absorbed.

तु. ह. दाते : That's right.

व. ना. झा : There are several stars and much more quantity of light. But that light does not reach in so much of a space...

गो. श्या. म. : Even if it reaches there it absorbs entirely. And it doesn't reflect it.

तु. ह. दाते : Devanthacharya's idea is when we say the sky is dark, why it is dark? Because the light coming from other stars, they are not coming, they are diverted to somewhere.

Therefore darkness is there.

व. ना. झा : So there is no light.

के.ई.देवनाथन् : Light of the whole galaxy is not matching with the area which is not covered. The area is more. That is why we call it Tamas. Then what I understand is it ends with the theory of Naiyayika i.e. absence of light.

व. ना. झा : But suppose I take Prabhakar position. What is abhava? Bhava only! घटाभाववद् भूतलम्. भूतलमेव. So only at the time of verbalization I need an entity call 'andhakara'. But in reality it is only bhava, not abhava. So either you take Prabhakar position and tray to understand physical scientists position. Or you take Nyaya position of Abhava or you take Vallabha position.

अन्धकारवादः

डो. बलिराम शुक्ल

तमसः तेजोभावरूपत्वं नैयायिकैः स्वीकृतम् अस्ति. भाट्टानां तत्रास्ति विप्रतिपत्तिः. तेषां मते तमसः द्रव्यत्वं स्वीकृतम् अस्ति. अतएव मुक्तावलिकृता प्रश्नो अयम् उपस्थापितः. ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो न उक्तम्? इति. तमसः ग्रहणं प्रत्यक्षप्रमाणेन भवतीति न तत्र प्रमाणान्तरान्वेक्षणप्रयासः. चक्षुरिन्द्रियेण तमसः गृहणं भवति, तस्य द्रव्यत्वात्. संयोगसन्निकर्षेण तस्य ग्रहणं भवतीति भाट्टानाम् आशयः. तस्य द्रव्यत्वं कथम् इति प्रश्ने रूपवत्वात् कर्मवत्वाच्च द्रव्यत्वम् इति ते वदन्ति. तथाच तमो द्रव्यं, रूपवत्वाद् इति अनुमानं तमसो द्रव्यत्वे प्रमाणम्.

न च तमसि रूपसत्वे मानाभावः श्याम-शार्वरं तमः इति प्रतीत्यैव तत्सिद्धेः इति वाच्यं, तस्याः भ्रमत्वात्. अतः द्वितीयम् अनुमानम् उपस्थापितं - तमः द्रव्यं, गतिमत्त्वात् इति. न च अत्र स्वरूपासिद्धिः इति वाच्यम्. चलति छायेति प्रतीत्या कर्मवत्त्वसिद्धेः.

अत्र अयं पूर्वपक्षः "नीलं तमः" इति प्रतीतिवद् अस्याः प्रतीतेरपि भ्रमत्वं कुतो न भवितुम् अर्हति? इति चेद्, न, वह्न्यादितेजसि औपाधिकरक्तादिरूपभ्रमस्य सर्वसिद्धतया रूपवत्ताप्रतीतौ भ्रमत्वकल्पन-सम्भवात्. क्रियावत्ताप्रतीतौ न तत्सम्भव क्वापि तादृशप्रतीतौ भ्रमत्वादर्शनात्. न च वेगवद्ग्र(?)...यानस्थितस्य पुरुषस्य स्थिरे वृक्षादौ भ्रमरूपा क्रियावत्ता प्रतीतिदर्शनात् कर्मवत्ताप्रतीतेरपि भ्रमत्वम् इति वाच्यम्. यतो हि तत्र भ्रान्तपुरुषनिष्ठ-दोषस्यैव क्रियावत्ता-भ्रमजनकत्वेन क्लृप्तत्वात्, भ्रमविशेष्य-समीपवृत्त्युदासीनपदार्थनिष्ठक्रियारूपदोषस्य क्रियाभ्रमजनकत्वेन कुत्रापि अकल्पनात् न अत्र प्रतीतेः भ्रमत्वकल्पनसम्भव इति.

अस्तु, चलति छायेतीत्यादिप्रतीत्या तस्य द्रव्यत्वं परन्तु तस्य

स्वीकृतेषु नवद्रव्येषु कुतो न अन्तर्भावः इति चेद्, न, तमः गन्धशून्यत्वात् न पृथिवी, गन्धवत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम्. तमसि प्रत्यक्षेण न कोपि गन्धः अनुभूयते. अतः गन्धशून्यत्वहेतुः न स्वरूपासिद्धः.

अत्र गन्धशून्यत्वाद् इत्यस्य प्रतियोगि-व्यधिकरण-समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावः इति अर्थो ग्राह्यः. अन्यथा उत्पत्तिकालीनघटे, संयोगसम्बन्धावाच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाववति घटे च गन्धसत्त्वात् व्यभिचारः इति.

एवमेव तमः जलाद्यष्टद्रव्यातिरिक्तं द्रव्यं नीलरूपवत्त्वात् स्नेहाद्यभाववत्त्वाच्च इति अनुमानेन तस्य जलाद्यष्टद्रव्यातिरिक्तत्वं सिध्यति. अतएव उक्तं लीलावतीकृता

"तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्,
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्मात् नवेभ्यो भेत्तुमर्हति"

ननु द्रव्यचाक्षुषं प्रति आलोकसंयोगस्य कारणत्वाद् आलोकसत्त्वे तमसः चाक्षुषापत्तिः इति चेद्, न, तमोभिन्नद्रव्यचाक्षुषत्वावाच्छिन्नं प्रति एव संयोगसम्बन्धेन आलोकस्य कारणत्वात्.

अत्र नैयायिकाः आवश्यकतेजोऽभावत्वेन उपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्. तेजोभावएव तमः इति न्यायमतम्.

ननु तेजोऽभावस्तमः इत्यत्र किं तेजः सामान्याभावः 'तम'शब्दार्थः उत तद्विशेषाभावः ? न आद्यः. गाढतमस्यपि तमःप्रतीत्यनुपपत्तेः. सर्वदैव सर्वत्र तेजःपरमाणूनां सत्त्वात्. न द्वितीयः, सौरालोकसत्त्वेऽपि यत्किञ्चित् तेजोऽभावसत्त्वे तमःप्रत्ययापत्तेः. अतः प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतानभिभूत-रूपवत्-तेजस्त्वावच्छिन्नाभावएव तमः. तेजसः त्रसरेणुसत्त्वेऽपि तमःप्रतीतेरनुभवात् तेजस्त्रसरेणौ महत्त्वसत्त्वेपि प्रकृष्टत्त्वाभावात् न दोषः. अन्धकारे चक्षुरादिरूपे तेजसि सत्त्वेऽपि तस्य उद्भूतरूपवत्त्वाभावात्. हिरण्यादिरूपतेजसत्त्वेऽपि तमः

प्रतीतिसत्त्वात् अनभिभूतरूपवत्त्वस्य निवेशः सुवर्णरूपं तेजसि अभिभूतरूपवत्त्वसत्वात् न दोषः. एवञ्च तादृशतेजोभावस्य तमस्त्वस्वीकारे न कापि अनुपपत्तिः.

ननु अन्धकाराभावएव तेजः इति किं न स्याद् इति चेद्, न, उष्ण-स्पर्शभास्वरशुक्लरूपबुद्धेः अनुत्पत्तेः. उष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकतया तेजस्त्वजातिसिद्धे न तमोभावः तेजः इति.

ननु तमसः तेजोभावत्त्वे रूपवत्ताप्रतीतिः कथम्? अभावे रूपाभावाद् इति चेत्, न, तस्याः भ्रमरूपत्त्वात्. न च चलतीति प्रत्ययसिद्धिप्रमारूप-कर्मवत्ताप्रतीत्या तस्य द्रव्यत्वं सिद्ध्यति इति न वाच्यं, तस्यापि भ्रमत्वस्वीकारात्. न हि द्रव्ये अन्योपाधिकी कर्मवत्ताप्रतीतिः इति वाच्यम्. न च उत्तरकाले बाधाभावात् न तस्याः भ्रमत्वम् इति वाच्यम्. प्रतीतेः भ्रमत्वं तत्रैव स्वीक्रियते यत्र उत्तरकाले बाधज्ञानं भवति. यथा शुक्तौ "इदं रजतम्" इति ज्ञान "नेदं रजतम्" इति बाधज्ञानेन बाध्यते तथा "चलतीति छाया" इति ज्ञानं "छाया न चलति" इति बाधज्ञानेन न बाध्यते. अतः तस्य भ्रमत्वं न वक्तुं शक्यम्, उत्तरकाले बाधनिश्चयाभावेऽपि भ्रमत्वस्वीकारे घटादिविषयकानां प्रतीतीनामपि भ्रमत्वकल्पनापत्त्या शून्यवादापत्तेः.

अतः दूषणान्तरं तमसः अतिरिक्तद्रव्यत्वे अनन्तावयवादिकल्पनागौरवं च स्यात्.

अस्य अयम् अभिप्रायः. धूमो यदि वह्निव्यभिचारीस्याद् वह्निजन्यो न स्याद् इति तर्केण व्यभिचारज्ञानप्रतिबन्धवत् तमो यदि द्रव्यं स्यात् तर्हि क्लृप्तानन्तावयसमवेतं स्याद् इति तर्केण द्रव्यत्वज्ञानप्रतिबन्धसम्भवात् क्रियावत्त्वहेतुनाऽपि न तस्य द्रव्यत्वसिद्धिः.

न चैवं धूमेनापि वह्न्यनुमितिः न स्यात्. यतो हि वह्निः यदि पर्वतवृत्तिः स्यात् तर्हि अक्लृप्तानन्तावयवसमवेतः स्याद् इति तर्केण

वह्न्यनुमितिप्रतिबन्धसम्भवः इति न वाच्यम्. प्रत्यक्षसिद्धमहानसीय-वह्न्यारम्भकपरमाणूनां क्लृप्तत्वात्. न च महानसीयवह्न्यारम्भकपरमाणूनां क्लृप्तत्वेऽपि पर्वतीयवह्न्यारम्भकपरमाणूनाम् अक्लृप्तत्वात् उक्ततर्कासम्भव इति वाच्यं, महानसीय-वह्न्यारम्भक-परमाणुभिरेव पर्वतीयवह्न्यारम्भे बाधकाभावाद् इति. तमःपरमाणूनां क्वापि अक्लृप्तत्वात्. न च तमसः असमेवतद्रव्यत्वमेव स्वीकार्यम् इति वाच्यं, निरवयवत्वे तस्य नाशासम्भवात्.

तमसः भिन्नद्रव्यत्वे अनन्तावयवादिकल्पनागौरवं तु सम्भवत्येव.

किञ्च तमसः अतिरिक्तानित्यद्रव्यत्वे प्रश्नो अयं जागर्ति तमः परमाणवः स्पर्शवन्तः तद्रहिताः वा? नाद्यः अनुपलम्भात्. नान्त्यः अस्पर्शवतो द्रव्यारम्भकत्वानुपपत्तेः. स्पर्शवत्परमाणूनामेव द्रव्यारम्भकत्वम्. न च तमः परमाणवः स्पर्शवन्तएव तमसस्तु निस्पर्शः उत्पद्यत इति वाच्यम्, स्पर्शवदारब्धस्य स्पर्शवत्त्वनियमात्. नो चेत् पृथिव्यादीनामपि कदाचिद् अस्पर्शवत्त्वप्रसङ्गः. न च अदृष्टवशादेव न तत्र स्पर्शउत्पद्यते इति वाच्यम्. दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्. अदृष्टस्य कारणत्वस्वीकारे एकजातीयादेव परमाणोः क्षित्यादिभेदेन चतुर्धा कार्याणि अदृष्टभेदेन सञ्जायते इति किं वा न कल्प्यते? तस्मात् तमःपरमाणवः न स्पर्शवन्तः. एवञ्च स्पर्शवतामेव द्रव्यारम्भकत्वनियमात् न तमसः परमाण्वारब्धत्वं तदभावाच्च न सावयवत्वम्. सावयवत्वाभावाच्च न अनित्यद्रव्यत्वम्. "नष्टो अन्धकारः" इति प्रामाणिकप्रतीत्या न तस्य नित्यद्रव्यत्त्वम् इति.

नीलरूपमेव तमः इति कन्दलीकाराणां मतम्. तेषाम् अयम् अभिप्रायः. तमः यदि तेजोभावरूपं स्यात् प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोगिग्रहसापेक्षग्राहकं स्यात्. अभावबुद्धिं प्रति प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात्. नच एवं यस्य जन्मान्धस्य कदापि सौरतेजसः प्रत्यक्षं नास्ति सोऽपि तमसः तमस्त्वेन अनुभवति. नचैवं घटाभावादिप्रत्यक्षम् अदृष्टघटस्य पुरुषस्य सम्भवति. तस्मात् तमः आरोपितं नीलरूपमेव.

किञ्च मध्याह्ने दूरगगनभागव्यापिनीलिमा प्रतीयते. तत्र च न स तेजोऽभावः तत्र तस्या भावात् तेजसः सत्वात्. न तत्र किञ्चिद् नीलरूपवद्द्रव्यं तत्र अस्ति, बाधितत्वात्. तस्मात् तादृशनीलरूपाश्रयाकाशएव अभ्युपेयः. तच्च न सम्भवति, प्रमाणविरुद्धत्वात्. किन्तु तत्र तदारोपितनीलरूपमेव इति वाच्यम्.

एवञ्च यदा चक्षुरश्मयो दूरम् उन्मुखयाताः अधोमुखैः प्रबलैः सूर्यरश्मिभिः परिवर्तन्ते तदा स्वीयगोलकमेव पश्यन्तः तद्गतमेव नीलरूपं बाह्यत्वेन जानन्ति ततश्च गगननीलम् इति प्रतीतिः जायते. इति मम पितृचरणाः न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याः टिप्पण्याम्.

एवञ्च यत्तु आरोपितनीलरूपं तमः इति यद् कन्दलीकारेण उक्तं तत् न समीचीनम्. इह अन्धकारः इति प्रतीतेः भ्रमत्वापत्तेः. तमो नीलं न नीलिमा इति प्रत्ययाच्च.

न्यायलीलावतीकाराणां मते तमसः भावान्तरमेव. तैः तस्य द्रव्यान्तरत्वं नैव स्वीकृतम्. यथा च उक्तं "तमस्तु भावान्तरं निषेधत्वेन अनवभासमानत्वात्. बाधकाभावेन च आरोपानुपपत्तेः. आलोकाभावे चाक्षुषत्वं नास्ति इति बाधकम् इति चेद्, न, तस्य आलोकाभावव्यञ्जकत्वात्, अन्यथा आरोपानुपपत्तेः. भावत्वे यदि द्रव्यान्तरत्त्वे नवैव इति व्याघातः. अद्रव्यान्तरत्वन्तु सर्ववादिनिषिद्धम्. अथ गुणानां चतुर्विंशतिव्याघातः इति मेयान्तरमेव तमः".

अत्रैव संग्रहश्लोकः "नाभावो भाववैधर्म्यात् नारोपो बाधहानितः, द्रव्यादि षट्कवैधर्म्याज् ज्ञेयं मेयान्तरं तमः".

अत्र लीलावतीकाराणाम् अयम् आशयः. तमसः अभावरूपता स्वीकर्तुं न शक्या, भावत्वेन अप्रतीयमानत्वात्. तमसः प्रतीतिः निषेधत्वेन न भवति. एवञ्च भावत्वेन प्रतीयमानत्वात् तस्य अभावे अन्तर्भावः न कर्तुं शक्यः. प्रतीतिव्यवहाराभ्याम् अर्थसिद्धिः इति न्यायेन भावतयाप्रतीयमानत्वात् भावान्तरमेव तमः. नीलं तमः इति प्रतीतौ शुक्तिकायां रजतत्ववत् तेजोभावे

आरोपितस्यैव नीलरूपस्य भानं भवति इति वक्तुं न शक्यम्. यतो हि यथा शुक्तौ ''इदं रजतम्'' इति ज्ञानं ''नेदं रजतम्'' इति बुध्या बाध्यते तथा ''नीलं तमः'' इति ज्ञानं ''नेदं नीलम्'' इति बुध्या न बाध्यते. अतः आरोपितरजतवद् आरोपितस्य नीलस्य भानं न स्वीकर्तुं शक्यम्. तैः द्रव्यचाक्षुषं प्रति आलोकस्य कारणत्वं न स्वीक्रियते. तमसः आलोकाभावव्यञ्जनीयत्वमेव. तेषां मते आलोकाभावः तमसः व्यञ्जकः. नतु आलोकाभावएव तमः. तमोविशेष्यक-नीलरूपप्रकारक-ज्ञानस्य भ्रमत्वस्वीकारेऽपि तत्प्रत्यक्षं प्रत्यपि आलोकस्य कारणत्वात् आलोकसत्त्वे तत्प्रत्यक्षापत्तिः अतः आलोकाभावसहकृतचक्षुरेव तमःप्रत्यक्षं प्रति कारणम् इति वक्तव्यम्. तस्य भावत्वेऽपि द्रव्यान्तरत्वस्वीकारे नवैवेति व्याघातः स्यात्. स्वीकृतेषु द्रव्येषु यथा न अन्तर्भाव तथाच उक्तमेव.

इदानीं वाल्लभीयानां मतं विचार्यते. द्वितीयस्कन्धभागवते ''ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि, तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः'' इति कथनात् मायापरिणामविशेषरूप-भावातिरिक्त-पदार्थान्तरमेव तमः इति कथनेन पुरोषोत्तमगोस्वामिभिः मायापरिणामविशेषरूप-भावातिरिक्त-पदार्थान्तरत्वमेव स्वीकृतम्. तस्य पर्यालोचनम् अनन्तरं क्रियते. प्रथमतः तमसो तेजोऽभावत्वनिराकरणं यद् श्रीगोस्वामिपादैः कृतं तत् परामृश्यते.

अमरकोषे ''तन्नाम्ना तदवान्तरभेदानां पाठे तेजोऽभावो अतेजो अद्रव्य इत्यादिरूपनिषेधात्मक-नामाग्रहणात् तमसः न तेजोऽभावत्वम् इति. तत् न समीचीनं प्रतिभाति. कोषेषु व्यवहारे प्रचलितानां नाम्नां तेषां पर्यायाणामेव वर्णनं भवति. पदार्थस्य शास्त्रीयसिद्धान्तितस्वरूपम् आदाय तेषां नामग्रहणं न भवति. यथा अमरकोषे पृथिव्याः पर्यायशब्दानां वर्णनं कुर्वता उक्तम् अस्ति ''भूर्भूम्यचलानन्तारसाविश्वम्भरा स्थिरा'' इत्यादि सर्वेऽपि जानन्ति. ज्योतिषशास्त्रदृष्ट्या पृथ्वी स्थिरा नास्ति. व्यवहारे पृथिवी स्थिरा उच्यते. शास्त्रे पृथिवी स्थिरा नास्ति. अतएव केनापि कविना श्रीरामकृतशिवधनुषभङ्गप्रसङ्गे उक्तम् अस्ति ''पृथ्वी स्थिराभवभुजङ्गमधारयैनाम्'' इति.

अतः शास्त्रीयसिद्धान्तविषये कोषस्य प्रामाण्यं न अस्माभिः स्वीकृतम्.

इदं सत्यं यत् सर्वत्र अन्धकारः तमः इत्यादिरूपा प्रतीतिः भवति परन्तु शास्त्रीयदृष्ट्या तादृशप्रतीतेः विषयः तेजोभावएव. तेजोभावे भावत्वम् आरोपितमेव अस्ति. न्यायमते अभावस्य अवस्तुत्वं नैव स्वीकृतम्. तस्य 'नञ्'पदजन्यप्रतीतिविषयत्वरूपपदार्थत्वमेव तेजोभावरूपपदार्थे भावत्वस्य आरोपस्वीकारे बाधाभावात्.

एवमेव ''किञ्च प्रतियोगि-तदभावयोः सर्वत्र भावाभावविरोधएव न अन्यः तेजस्तमसोस्तु वध्य-घातकविरोधः तेजसा नष्टं तमः इति प्रतीतेः'' इति यद् उक्तं गोस्वामिपादैः तदपि न रोचते अस्मभ्यम्. न्यायमतेन प्रतियोगि-तदभावयोः सर्वत्र न भावाभावविरोधः 'कुत्रचिद् प्रतियोगि-तदभावयोः सहानवस्थानलक्षण-विरोधोऽपि भवति. यथा घटतदत्यन्ता-भावयोः सहानव-स्थालक्षणविरोधः तथैव घट-तद्प्रागभावयोः वध्यघातक-भावलक्षणविरोधोऽपि भवतिः. घटोत्पत्यनन्तरं घटप्रागभावो नश्यति. अतएव विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् इति प्रागभावस्य लक्षणं नैयायिकैः कृतम्. घटोत्पत्यनन्तरं ,घटप्रागभावः नश्यत्येव. अतः भानोः उदयानन्तरं भानोः प्रागभावः नश्यत्येव. अतः तेज-तदभावयोः वध्यघातकभावस्वीकारे न किमपि बाधकम् इति.

तमसो अभावरूपत्वे न आवरणरूपत्वम् इति यः आक्षेपः कृतः सोऽपि न समीचीनः. प्रथमतः इदं विचारणीयं किं नाम आवरणम्? संयोगविशेषः सम्बन्धविशेषो वा? न आद्यः, द्रव्ययोः संयोगनियमात् तेजोभावरूपस्य तमसः न गुहायां संयोगः. ''मायापरिणामविशेषरूपाभावातिरिक्त-पदार्थान्तररूपं तमः'' इति ये वाल्लभीयाः वदन्ति तेषां मतेऽपि संयोगरूपावरणं न भवितुम् अर्हति. सम्बन्धविशेषे तु स्वरूपसम्बन्धः तेजोऽभावेन साकं गुहायाः सम्बन्धस्वीकारे न किमपि बाधकम्.

किञ्च, तमसि तु आलोकक्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिन्येव कर्मवत्ता प्रतीतिदोषजन्यत्वाद् भ्रमरूपा तथैव तेजोऽभावे आवरकत्वप्रतीतिरपि भ्रमरूपा. अतएव गुहायां तमोवृत्तायाम् इति लाक्षणिकोपचारमात्रम्.

ननु एवमपि कथम् अभावे भावधर्मारोपः इति चेत्, न, दुःखाभावे सुखत्वारोपस्य दृष्टत्वात्, भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तोहम् इति प्रत्ययात्.

यच्च उक्तं, "व्यवधानाभावविशिष्टविषयचक्षुःसंयोगत्वेन चाक्षुषत्वेन यः कार्यकारणभावः चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति अनावृतत्वेन वा या घटादौ विषयता ततएव सर्वनिर्वाहात्. एवञ्च विषयालोकसंयोग-तदभावयोः कारणकोटौ अप्रवेशेन प्रत्युत लाघवं ज्ञेयम्" तदपि न समीचीनम्, व्यवधानसत्वे विषयचुक्षुःसंयोगएव न भवति. चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति विषयचक्षुःसंयोगस्यैव कारणत्वात्. कारणतावच्छेदककोटौ व्यवधानाभाववैशिष्ट्यनिवेशे प्रयोजनाभावात्. किञ्च विशेष्य-विशेषणभावयोः विनिगमनाविरहात् कार्यकारणभावबाहुल्यं स्यात्. व्यवधानाभावविशिष्टचक्षुसंयोगः कारणं अथवा चक्षुसंयोगविशिष्टव्यवधानाभावः कारणम् इति अत्र विनिगमनाविरहात् कार्यकारणभावानन्त्यप्रसङ्गः. एवमेव चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति अनावृतविषयस्य कारणत्वमपि न कल्पनीयं, प्रयोजनाभावात्. प्रत्यक्षविषयस्य कारणत्वेन वा उपपत्तेः.

अन्धकारे चाक्षुषप्रत्यक्षापत्तिवारणाय आलोकसंयोगस्य पृथक्कारणत्वमेव कल्प्यते. अनावृतविषयस्य कारणत्वे वाय्याद्यावृतस्यापि घटस्य अप्रत्यक्षत्वापत्तिः स्यात्.

किञ्च सिद्धान्तेन यः निष्कर्षः श्रीपुरुषोत्तमगोस्वामिभिः प्रतिपादितः सोऽपि समीचीनः न प्रतिभाति. यथा च उक्तं "तस्मात् मूलशक्तेः मायायाः कार्यभूतम् आवरणात्मकम् अर्थान्तरमेव तमः" अत्र मूलशक्तित्वेन मायायाः गृहणं कृतं वाल्लभैः. कस्य इयं शक्तिः? इति जिज्ञासायां भगवतः परमेश्वरस्य मूला शक्तिः इति वदन्ति वाल्लभीयाः. यथा च उक्तम् न्यायकोषकारेण "भगवच्छक्तिविशेषः" इति वाल्लभीयाः मन्यन्ते (न्यायकोष पृ. ६५२). अस्माकं मते कार्यमात्रंप्रत्येव ईश्वरेच्छायाः कारणत्वात् मायायाः कार्यभूतत्वं वस्तुमात्रे सत्त्वाद् अतिव्याप्तिः. अतः आवरणात्मकत्वं निवेशितम्. आवरणात्मकत्वमपि वाय्वादिष्वपि सत्वाद् अर्थान्तरत्वं लक्षणे निवेशितम्.

एवञ्च मायात्वावच्छिन्नकारणता-निरूपित-कार्यताशालित्वे सति अवारणात्मकत्वे सति अर्थान्तरत्वं तमः इति लक्षणम्. अर्थान्तरत्वम् इत्यस्य को अर्थः? क्लृप्तपदार्थभिन्नत्वमेव. तद् लक्षणं प्रकृषोद्भूतानभिभूतमहत्त्ववत्तेजोऽभावेऽपि संगच्छतएव.

आवरणात्मकत्वं यदि प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वरूपं तदा मायात्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यताशालित्वे सति चाक्षुषप्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वे सति क्लृप्तभावपदार्थभिन्नत्वम् इति वाल्लभीयानां लक्षणं पर्यवस्यति. तच्च तेजोभावेऽपि संघटतएव.

चर्चा

अन्धकारवादः

डॉ. बलिराम शुक्ल

के. ई. देवनाथन : अस्माभिः ह्यः उक्तं पृथिवीत्वं तमसः तत्तु श्रुत्यनुसारेण उक्तम्. "यत् कृष्णं तदन्नस्य" इति श्रुतिः कार्ष्ण्यं पृथिव्याः असाधारणधर्मः इति. तच्च कार्ष्ण्यम् अबाधितनीलप्रत्ययविषयः. एवञ्च तया रीत्या अस्माभिः पृथिवीत्वं साधितम्. पृथिवीत्वे साधिते प्रश्नः अस्माभिरेव उत्थापितः गन्धवत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम् इति वेदान्तदैशिकैः कथितम् अस्ति. तस्य विरोधो भवति इति. तस्य कथमपि समन्वयः कृतः. अतः पाषाणदृष्टान्तः न अभवत्. पाषाणेऽपि गन्धवत्त्वं साधयन्ति नैयायिकाः. प्रथमं पृथिवीत्वं संसाध्य गन्धवत्त्वं साधयति. यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यम् इति व्याप्त्या अत्र पञ्चानुमानानि सन्ति. तत्र पृथिवीत्वं स्थापयित्वैव अनन्तरं गन्धवत्त्वं साधितम्. परन्तु भवद्भिः अस्य समाधानन्तु न उक्तम्. अनीलं तमः. नीलं तमः इति प्रतीतिः जायते. कस्यापि पुरुषस्य "नेदं रजतम्" इति वत् "अनीलं तमः" इति उत्तरकालीनः बाध...तया नास्ति...

बलिराम शुक्ल : अतः नैल्यस्य निषेधः न कृतः. अतः द्वितीयम् अनुमानं उपस्थापितम्. तत्र तादृशनिषेधो नास्ति इति कृत्वैव द्वितीयम् अनुमानम् उपस्थापितम् अस्ति.

के. ई. देवनाथन : अयं तर्कः भवद्भिः उक्तः. "धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात्" तत्र तावत् एतादृशतर्कः द्रव्यत्ववादिभिः न उच्यते. द्रव्यत्ववादिभिः अतिरिक्तद्रव्यत्वन्तु न उच्यते. पृथिव्याम् अन्तर्भावः उच्यते. भवद्भिः एवं प्रदर्शितम् अस्ति "तमो यदि द्रव्यं स्यात् तैः क्लृप्तद्रव्यान्तर्भूतं स्यात्". तादृशरीत्या अस्माभिः. अस्माभिः अन्तर्भूतत्वम् इष्यते.

बलिराम शुक्ल : भाट्टाः न इच्छन्ति. भवतां मते नास्ति.

के. ई. देवनाथन : अनन्तरं अयं प्रश्नः कृतो वर्तते, न्यायसिद्धान्तदीपेपि कृतः, अत्रापि कृतः. स्पर्शवदद्रव्यस्यैव आरम्भकत्वं भवति इति प्रश्नः. तत्तु आरम्भवादे भवति, सत्कार्यवादे अयं प्रश्नः न भवति. वेदान्तदेशिकैः उक्तम् "न वयम् असत्कार्यवादिनः" अत्रैव प्रकरणे.

बलिराम शुक्ल : येषां मते तद् उपस्थापितः ये भाट्टाः न सत्कार्यवादिनः.

के. ई. देवनाथन : भवद्भिः नैयायिकैरपि विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः अङ्गीकृतएव. वयन्तु नैयायिकसमीपस्थाः.

बलिराम शुक्ल : वयं यद्यपि शाङ्करानुयायिनः परन्तु शाङ्करवेदान्तात् तु अत्यन्त...

के. ई. देवनाथन : नैयायिकास्तु स्वतन्त्राः. पूर्वं स्वतन्त्रनैयायिकाः आसन्. अनन्तरं नैयायिकाः केचित् सिद्धान्तम् अङ्गीकृत्य ग्रन्थं लिखितम्. अस्तु. अन्ते लिखितम् अस्ति मायात्वावच्छिन्नकारणता-निरूपितकार्यताशालित्वे सति आवरणात्मकत्वे सति अर्थान्तरत्वं तमसो लक्षणम् इति. तल्लक्षणन्तु बहु श्लाघ्यं वर्तते. परन्तु मायात्वावच्छिन्ना कारणतानिरूपित कार्यता किं धर्मावच्छिन्ना? आलोकाभावत्वावच्छिन्ना इति वा?

बलिराम शुक्ल : आलोकाभावत्वावच्छिन्ना.

के. ई. देवनाथन : अलोकाभावस्य तु कार्यत्वं नास्ति, अत्यन्ताभावत्वात्.

बलिराम शुक्ल : एतेषां मते अभावत्वावच्छिन्ना कार्यता न ग्राह्या, अभावनिष्ठा कार्यता ग्राह्या. ध्वंसनिष्ठा कार्यता भवितुम् अर्हति. ध्वंसनिष्ठा कार्यता सामान्यधर्मा न भवति. अतः धर्मावच्छिन्नस्य निवेशः न कृतः मया.

सच्चिदानन्द मिश्र : तस्याः कार्यतायाः सामान्याभावः कथम्?

के. ई. देवनाथन : सामान्याभावः न भवति.

बलिराम शुक्ल : सामान्याभावः न उक्तम्. तेजोभावः इत्येव उक्तम्.

के. ई. देवनाथन : कार्यताशाली यदि सामान्याभावः तर्हि तस्य कार्यत्वं नास्ति. यदि तत्र आलोकाभावमात्रवृत्ति कश्चिद् धर्मः कार्यता-वच्छेदकतया स्वीक्रियते तदा अनुपपत्तिः अस्ति. ईश्वरेच्छायाः कार्यसामान्यं प्रति कारणत्वं स्वीक्रियते, विशेषकार्यं प्रति नैयायिकैः

कारणत्वं न स्वीक्रियते. एवन्तु असाधारणकारणत्वे पर्यवस्यति.

बलिराम शुक्ल : किं?

के. ई. देवनाथन : माया ईश्वरेच्छा...

बलिराम शुक्ल : एतेषां मते न.

के. ई. देवनाथन : तत् अस्माकम् इष्टम् इति ... तल्लक्षणम् प्रकृष्टोद्भूत...

बलिराम शुक्ल : अस्माकम् इष्टमेव. एवमेव लक्षणं भवति तेषां मते. अस्माकं लक्षणन्तु तादृशं नास्ति तेजोभावस्य. परिष्कारे कृते सति एतादृशं लक्षणं भविष्यति.

प्रह्लादाचार्य : नैयायिकानामपि तल्लक्षणम् इष्टम् वा?

बलिराम शुक्ल : लक्षणम् इष्टं नास्ति तमसः. तमसः तेजोभावरूपत्वमेव. तल्लक्षणं तेजोभावेपि आगच्छति. लक्षणं पर्यवस्यति.

प्रह्लादाचार्य : वाल्लभसिद्धान्ते मायात्वावच्छिन्ना या कारणता...

बलिराम शुक्ल : 'माया' पदेन भगवदिच्छा क्रियते चेत् तद् अस्माकं मतेपि समीचीनं स्यात्.

प्रह्लादाचार्य : न हि. तत्रैव वदामि. वाल्लभसिद्धान्ते मायात्वावच्छिन्ना या कारणता भवति सा समवायिकारणता वर्तते. अथवा उपादानकारणता. न हि नैयायिकैः उपादानकारणता अङ्गीक्रियते ईश्वरेच्छायाः, निमित्तकारणता अङ्गीक्रियते.

बलिराम शुक्ल : तत्रैव प्रश्नः. परिणामपदेन कीदृशः?

प्रह्लादाचार्य : अतः मायात्वावच्छिन्ना कारणतानिरूपितकार्यताश्रयत्वं यल्लक्षणम् अङ्गीक्रितये वाल्लभैः तदेतल्लक्षणं नैयायिकानाम् इष्टमेव इति वक्तुं न शक्यते.

बलिराम शुक्ल : इष्टमेवेति वक्तुं न शक्यते. इदं लक्षणं पर्यवस्यति इति उक्तम्.

प्रह्लादाचार्य : न हि, पर्यवसानं न भवति.

बलिराम शुक्ल : किम्?

के. ई. देवनाथन : तैस्तु मायात्वावच्छिन्ना कारणतानिरूपितकार्यता इत्येव उक्तम्. कारणतावच्छेकसम्बन्धस्य निवेशः न कृतः. उपादानत्वं तैः स्वीक्रियते. एतैस्तु न स्वीक्रियते. अतः तुल्यता नास्ति इति ते स्वीकुर्वन्ति. परन्तु पंक्ति एवम् अस्ति अस्माकं मतेपि सङ्गच्छते अतः

मया काचित् जिज्ञासा कृता. असाधारणकाणत्वम् इच्छायाः नास्ति किल नैयायिकमते. साधारणकारत्वमेव.

प्रह्लादाचार्य : साधारणकारत्वमेव. अतएव निमित्तकारणत्वम्.

के. ई. देवनाथन : उपादानत्वन्तु नास्ति.

बलिराम शुक्ल : यदि उपादानत्वं तेषाम् अभिप्रेतं ...

गो. श्या. म. : इसमें एक स्पष्टीकरण करना चाहूंगा कि मायाको जब

बलिराम शुक्ल : हमारे यहां तो माया कोई चीज ही नहीं है. फिर भी यदि आपके मतको लेकर हमारे अनुसार ऐसा लक्षण बन सकता है. उसपर विचार करना चाहिये.

गो. श्या. म. : इसी सन्दर्भमें एक स्पष्टीकरण करना चाहता हूं कि जब सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाको कारण माना जाता है वो कारण ... जैसे भगवानकी द्वादशविध शक्तियोंमें इच्छा एक अलग शक्ति है जिससे माया भी गवर्न होती है. सर्वभवनसामर्थ्य भगवानका सामर्थ्य है. वो भी गवर्न होता है भगवदिच्छासे. सो इच्छारूपा एक अलग शक्ति है जिसको हम मायाके साथ ईक्वेट् नहीं करते हैं.

के. ई. देवनाथन : वो अलग ही है. जो इच्छा जगत्कारणमें उपयोगिनी है वो अलग है. जो इच्छा मायाशब्दित है जिसे मोह उत्पन्न होता है वो अलग है.

गो. श्या. म. : वो अलग है. दोनोंको एक नहीं करना चाहिये. मैने वह वचन भी आलेखमें उद्धृत किया है.

बलिराम शुक्ल : ईश्वरेच्छा माया ऐसा भागवतमें है.

गो. श्या. म. : महाप्रभु वल्लभाचार्य स्पष्ट करते हैं कि भगवानमें अनन्तविध शक्तियां हैं. उनमेंसे कतिपय शक्तियोंका परिगणन शास्त्रने किया है. ''विष्णोर्वीर्याणि कै इह प्रवोचः यः पार्थिवानि इममे रजांसि''. कतिपय शक्तियोंका परिगणन किया है. मगर उन परिगणनामें इच्छा एक अलग शक्ति है, सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया एक अलग शक्ति है और व्यामोहिका माया एक अलग शक्ति है.

बलिराम शुक्ल : इच्छारूपा शक्तिको 'माया' कहा गया है कि नहीं? भागवतमें कहा गया है.

गो. श्या. म. : देखना पड़ेगा. आप सन्दर्भ दिखायेंगे तो मैं कह सकूंगा. पारिभाषिक अर्थमें वो सब अलग-अलग हैं.

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्या. म.

मूर्तिमन्न्यायागमरूपैः श्रीमद्भिः बलिराममहोदयैः *"कोशेषु व्यवहारे प्रचलितानां नाम्नां तेषाञ्च पर्यायाणामेव वर्णनं भवति"* इति यद् उक्तं तत्तु नूनं तथ्यमेव तथापि *"प्रतीतिव्यवहाराभ्याम् अर्थसिद्धिः"* इति प्रतिपादयता श्रीबलिराममहोदयानां मते प्रतीतिव्यवहारौ तावद् अर्थसाधकाविति लोकप्रसिद्धप्रतीतिव्यवहारमूलकानि यानि च नामानि लोकवाग्व्यवहारे प्रयुज्यन्ते तेषां संग्रहस्तु कोशेषु न भवति इति वक्तुं युक्तं किमु? सति चैवं तेजोऽभाववाचकनामाभावः तावद् तथाविधप्रतीतिव्यवहारयोः लोके असिद्धत्वख्यापको कुतो न भवेद्? इति कोशोक्तपर्यायाणां लोकसिद्धप्रतीति-व्यवहाराभावज्ञापकलिंगत्वम् आदरणीयमेव. तत्तच्छास्त्रेषु तु तथाविधलोकसिद्ध-प्रतीतिव्यवहारतो अन्यथाभूतान्यपि स्वरूपाणि लोकप्रसिद्धप्रतीतिव्यवहार-वाच्चीभूतनामकानां पदार्थानां प्रतिपाद्यन्ते. तादृक्स्वरूपबोधकनाम्नां तत्पर्याणां च तत्तच्छास्त्रीयेषु 'मीमांसाकोशः'-'न्यायकोशः' इत्येवमादिकोशेष्वेव प्रसक्तिः इति अन्यदेतद्. नच तत्र कापि विप्रतिपत्तिरपि, नहि आंग्लभाषीयकोशेषु पृथिव्याकाशयोः 'विष्णुपत्नी'-'विष्णुपदं''नामाभावे विचारणीयम् नाम किञ्चित्; तथापि, शास्त्रैकवेद्यस्यापि विष्णोः उभयेन सह सम्बन्धस्य अस्मद्देशीयलोकसिद्धयोः प्रतीतिव्यवहारयोः अस्मदीयकोशेषु नामोपलम्भस्य गमकत्वं केन वारयितुं शक्यम्?

समानयोगक्षेमतया *"गगनेऽपि यद् नैल्यं प्रतीयते तत्र न तावत् नैल्यस्य संयोगरूपः सम्बन्धः सम्भवति अद्रव्यत्वात्, नापि समवायरूपो नैल्यस्य सत्वापत्तेः, तेजोभावविशिष्टगगनस्वरूपसम्बन्धोऽपि न, सूर्यचन्द्रतारकादिरश्मीनां तत्र अभिव्याप्तेः अंगीकारात्. ततश्च कारणतावच्छेदककोटौ व्यवधानाभाववैशिष्ट्यनिवेशो प्रयोजनाभावाद्"* इति यद् उक्तं तत्र **''प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यापि कार्यमात्रं प्रति कारणत्वं''** तु न्यायमते समभ्युपेतमेवेति स्वारूढशाखोच्छेदकल्पं हि विधानं प्रतिभाति.

अथ 'अधिष्ठानारोप'रूपतास्वीकारे तु आवरणावरणीयभावसम्बन्धस्य वाल्लभमतेऽपि कल्पयितुं शक्यत्वमेव.

इह तेजस्तदभावयोः सहानवस्थानरूपविरोधस्तु चन्द्रसूर्ययोः खण्डग्रासात्मके उपरागे तमःप्रकाशयोः सहावस्थानेन विरुद्ध्यतएव. तथैव वध्यघातकभावरूपः सम्बन्धोऽपि भागवतीयेन **"यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो हि अर्कांशभूतस्य च चक्षुषः तमः"** (भाग.पुरा.१२।४।३२) इति पद्येन विरुद्ध्यते, स्वप्रदर्शितस्य स्ववध्यत्वनियमाभावेऽपि स्वीयांशावरकत्वेन तमस्त्वोपदेशात्. नच एतत्पद्योक्तन्तु तमस्स्वरूपं वाल्लभमतेनापि विरुद्धमेव इति वाच्यं, वध्यघातकीभूतयोः मूषकमार्जारयोः मृगव्याघ्रयोः देवदानवयोरिव वा विषशरीरयोरपि वध्यघातकभावं न प्रागभाव-तत्प्रतियोगिवद् नियतः, किमुत अन्यथैव उभयविधवचनयोः उपलभ्यमानत्वात्. नहि अबुभुक्षितौ मार्जारव्याघ्रौ मूषकमृगयोः नियमेन व्यापादनपरौ भवतः. नापि विषभक्षणमपि शरीरिणोः सर्वदा मरणएव हेतुः भवति. तस्माद् औपचारिकएव प्रागभावतत्प्रतियोगिनोः वध्यघातकभावो, नियमेन स्वप्रतियोगिनिवर्तकतया अभिप्रेतत्वात्. श्रीभागवतपुराणवचनानुसारेण तादृशी अनियतिस्तु तमस्तदभावयोर्हि उभयविधवचनोपलम्भाद् अतादृश्येव. ततश्च *"तमसि आलोकक्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधायिनी कालिमा भ्रमरूपा"* इति उक्तिस्तु वाल्लभानां मते इष्टापादनरूपैव, मायया नैल्यगुणप्रकाशक्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं तेजोऽभावानुयोगि-स्थलावरकत्वादि-धर्माभासापूर्वकमेव दृष्टं, नृचक्षुषि तमोरूपव्यामोह-जननांगीकारात्.

वाल्लभवेदान्ते मायायाः चातुर्विध्यं खलु स्वीकृतम् :

१.सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया आनन्दात्मकस्य भगवतः स्वाभाविकी शक्तिः.

२.विविध-नाम-रूप-कर्मोपादानात्मिका जडजगदुपादानरूपा सच्चिदानन्दब्रह्मणः सदंशरूपा प्रकृतिः.

३.योगमाया भगवदवतारकालिक-दिव्यलीलोपयोगिनी शक्तिरूपा.

४.जीवेषु देहेन्द्रियाद्यध्यास-शुक्तिरजतादिभ्रान्ति-प्रतिबिम्बान्ध-काराद्यन्यथाभानादि-जननोपयोगिनी व्यामोहकशक्तिरूपा.

यद्यपि प्रक्रियोपदेशपरकेषु ग्रन्थेषु क्वचिदपि अविमृष्टापि न जातु अस्वीकर्तुं शक्या हि 'माया'पदस्य **"प्रज्ञानामानि उत्तराणि एकादश"** (निरू.१।३) इत्यत्र उक्ता प्रज्ञापरपर्यायरूपता. भवति इह भगवतः सर्वज्ञस्य प्रज्ञापि असर्वज्ञानां जीवानां व्यामोहनाय

अत्यद्भुतैव. यस्मात् स्वतोहि उत्कृष्टतरस्य प्रज्ञा स्वस्य व्यामोहनाय भवत्येव. भवति तावद् नैयायिकानामपि अतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भव-दोषरहित-पदार्थलक्षणोत्प्रेक्षिका प्रज्ञा न किमु तदितरेषां शास्त्रचिन्तकानां व्यामोहनायैव.

तस्मात् सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया, सर्वज्ञस्य भगवतः प्रज्ञारूपा माया च इति द्वे माये कार्यमात्रं प्रति कारणताम् आवहन्त्यौ न तमोनिष्ठकार्यतानिरूपित-कारणतावच्छेदकतावत्यौ भवतः इति वाल्लभानां प्रक्रियाः. यातु पुनः अविद्यारूपा व्यामोहिका माया तयैव तमसो जननम्. तस्मात् शुक्लमहोदयोदितं यद् *"मायात्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यताशालित्वम्"* इति लक्षणम् तदपि नादुष्टं मन्ये. अथवा 'व्यामोहकमाया' इति विशेषणम् अत्र निवेशनीयं तेन तयाहि नृचाक्षुषसंवेदनोपरक्तमतिव्यामोहेन अन्धकारोत्पत्तिः इति अंगीकारे तेजोऽभावरूपतायाः हि असिद्धत्वेऽपि आविर्भावतिरोभावापरपर्यायतया भावाभावयोः अभ्युपगमे तु क्लृप्तपदार्थाभ्यां मायिकम् अर्थान्तरं तमः इति सिद्ध्यति. तेनच **"मूलशक्तेः मायायाः"** इति अन्धकारवादकारोक्तेः, भ्रमव्यामोहरूपकार्यस्य मूलभूता या शक्तिः सा इति अभिप्रायो अवगन्तव्यः. अथवा **"मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च"** (भग.गीता.१५।१५) इति गीतावचनेन मूलस्य सर्वज्ञस्य भगवतो व्यामोहकशक्तेः कार्यं हि तमः इत्यपि अभिप्रायोट्टंकनं शक्यमेव.

तेन कदापि कथमपि तमोरूपं कार्यं तेजोऽभावेन तु संगतं नैव भवति इति श्रुतिस्मृतिपुराणवादिनां मतम्. तत्प्रामाण्यन्तु गौणं कुर्वतां निरंकुशोत्प्रेक्षाप्रामाण्यवादिनां मते तेजोऽभावरूपतायाः संगतावपि.

यत्पुनः *"अस्माकं मते कार्यमात्रं प्रत्येव ईश्वरेच्छायाः कारणत्वाद् मायायाः कार्यभूतत्वं वस्तुमात्रे सत्वाद् अतिव्याप्तिः"* इति अतिव्याप्तिः श्रीमद्भिः बलिरामैः व्यापारिता सातु लक्षणदोषरूपा वा कार्यकारणभावदोषरूपा वा? तत्र न आद्या, "यत्र-यत्र तमस्त्वं तत्र-तत्र मूलशक्तेः मायायाः कार्यभूतावरणात्मकार्थान्तरत्वम्" इति इत्थम्भूतस्य लक्षणस्य इह अप्रतिपिपादयिषित्वादेव. नहि "घटो मृत्समवायिकारणकः" इति उक्तौ मृत्समवायिकारणताकत्वं मार्दवशरावाक्रीडनकादिषु अतिव्याप्तम् इति अतिव्याप्तिप्रदर्शनं युक्तं वा प्रसक्तं वापि. अथ यदि कार्यकारणदोषरूपा हि अतिव्याप्तिः चेद् आपादयितुम्

इष्टा सापि न, कार्यमात्रं प्रत्येव ईश्वरेच्छायाः कारणत्वाभ्युपगतत्वेन अतिव्याप्तेरपि दोषरूपत्वापगमात्.

वस्तुतस्तु **"परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"** (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुत्या, **"श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्या इलया ऊर्जया विद्यया अविद्यया शक्त्या मायया च निवेषितम्"** (भाग.पुरा.१०।३९।५५) इति शक्तिवैविध्योपोद्बलकभागवतीयवचनादपि; तथैव **"सो अकामयत... इदं सर्वम् असृजत... विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च"- "मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च"** (तैत्ति.उप.२।६-भग.गीता.१५।१५) इति तैत्तिरीयभगवद्गीतोपनिषद्भ्याञ्च नैकविधशक्तिमद्भगवत्कर्तृकं तमः इति तु अविप्रतिपन्नमेव. यत् पुनः तादृशस्य तमसः पदार्थत्वतुच्छत्वयोः भावत्वाभावत्वयोः द्रव्यत्वाद्रव्यत्वयोः प्रमाभ्रान्तिविषयत्वयोः वा विप्रतिपत्तयः तास्तु "कार्यमात्रं प्रति ईश्वरेच्छायाः कारणत्वस्य" अभ्युपगमेन पाटच्चरलुण्ठिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तानुकृतयएवेति अकारणं अप्रमाणं च वाल्लभमताभिप्रेततमसो भगवद्व्यामोहकमायाकारणत्वालोचनम्.

यदपि श्रीबलिराममहोदयैः **"एवञ्च यदा चक्षूरश्मयो दूरम् उन्मुखयाताः अधोमुखैः प्रबलैः सूर्यरश्मिभिः परिवर्त्यन्ते तदा स्वकीयगोलोकमेव पश्यन्तः तद्गतमेव नीलरूपं बाह्यत्वेन जानन्ति ततश्च गगननीलम् इति प्रतीतिः जायते"** (न्या.सि.मु.दि.रा.पा.टिप.१।३) इति वचनम् उदाहृतं तदेतद् स्वीकरणीयं न प्रतिभाति. यस्माद् अन्यादृशी हि नेत्रनीलिमा काकमहिषी साधारणी, अन्यादृशीतु पुनः नीलिमा गगने भासते नीलोत्पलसाधारणीति.

तदेतत् सर्वं न्यायवाल्लभवेदान्तयोः बहोः कालात् स्थगितायाः शास्त्रचर्चायाः पुनराराम्भैकप्रयोजनवता मया लिखितं वस्तुतस्तु न्यायशास्त्रदृष्ट्या श्रीपुरुषोत्तमचरणानाम् अन्धकारवादीयप्रतिपादनप्रत्यालोचनेन अत्र एतत्संगोष्ठ्यां नूनं भृशम् उपकृताः सर्वेऽपि वयं वाल्लभवेदान्तिनः एभिः तत्र श्रीमद्भिः बलिराममहोदयैः इति भूरिशः नैजं कार्तज्ञ्यं तेभ्यो विज्ञापयन् विरमामि.

अन्धकार भाव है या अभाव?

डो. सच्चिदानन्द मिश्र.

अन्धकार भावरूप है या अभावरूप इस विषयमें एक लम्बा विवाद शास्त्रोमें चलता रहा है. नैयायिक जहां पर अन्धकारको अभावरूप माननेका आग्रह करते हैं वही अन्य सम्प्रदायोंके विद्वान अन्धकारको भावरूप माननेकेलिए कृतसङ्कल्प हैं. इस विषयमें नैयायिकों और शुद्धाद्वैतियों का प्रबल विरोध है. नैयायिक जहां अन्धकारको अभावरूप माननेके पक्षपाती हैं वही शुद्धाद्वैती अन्धकारको भावरूप माननेके आग्रही हैं. मैं यहां पर नैयायिकोंकी ओरसे आचार्य शशधरका पक्ष शुद्धाद्वैतियोंकी आलोचनाके आलोकमें प्रस्तुत करना चाहता हूं.

आचार्य शशधर नव्यन्यायके प्रवर्तक आचार्योंमेंसे एक हैं. विद्वानोंका यह भी मानना है कि गङ्गेशोपाध्याय पर जिन नैयायिकोंका अमिट प्रभाव पड़ा है उनमें शशधराचार्य प्रमुख हैं. नैयायिकोंकी प्रथम पङ्क्तिके विद्वानोंमें जिन विद्वानोंकी गिनती होती है, उनमें शशधराचार्य महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं. परवर्ती विद्वानोंकेद्वारा भी शशधराचार्यके मन्तव्यको मान्यता प्रदान की गयी है. अनेक स्थलों पर पाते हैं कि रघुनाथ शिरोमणि और गदाधर भट्टाचार्य जैसे विद्वान भी शशधरसे खुदको सहमत बताते हैं. अन्धकारके विषयमें शशधरकी कुछ अपनी विलक्षणता है जो अन्य किसी विद्वानमें उपलब्ध नहीं होती है. शशधरके अपने ग्रन्थ न्यायसिद्धान्तदीपमें मङ्गलवादके उपरान्त अन्धकारवादको रखते हैं. इस तरह हम पाते हैं कि शशधराचार्य अन्धकारको कुछ ज्यादा महत्त्व दे रहे हैं. यद्यपि इसका कारण क्या है यह बता पाना थोड़ा मुश्किल होगा परन्तु अगर हम यह मानकर चलें कि शशधराचार्यके अनुसार शायद अन्धकारको इतना महत्त्व देनेका कारण मीमांसकोंके साथ नैयायिकोंका विरोध ही रहा होगा. यह तो विदित ही है कि मीमांसक अन्धकारको भावरूप मानते हैं. इस कारण नैयायिकोंकेलिए यह आवश्यक था कि वे अन्धकारको अभावरूप सिद्ध करते जिसकी जिम्मेदारी शशधराचार्यने उठायी.

शशधरके अनुसार अन्धकारका स्वरूप

अन्धकारवादमें शशधराचार्यने वैशेषिकोंके विरोधीके रूपमें तौतातिकोंका उल्लेख किया है. 'तौतातिक' पदका प्रयोग मीमांसकोंमें भाट्टोंकेलिए किया जाता है. शशधराचार्य सम्भवत: भाट्टमीमांसकोंके विरोधमें ही प्रथमत: अन्धकारवादसे अपने ग्रन्थ न्यायसिद्धान्तदीपकी शुरुआत करते हैं. पहले वे भाट्टमीमांसकोंके पूर्वपक्षको प्रस्तुत करते हुए उनके द्वारा उपस्थापित युक्तियोंको प्रखरतासे उठाते हैं. भाट मीमांसकोंका कथन है कि अन्धकार भावरूप है क्योंकि जिस तरहसे घट आदिका भावरूपत्व प्रत्यक्षसिद्ध है उसी तरहसे अन्धकारका भी भावरूपत्व प्रत्यक्षसिद्ध है. इस कारण अन्धकारको भावरूप ही मानना चाहिए. जिस तरहसे घट आदिके विषयमें ''नीलो घटः'' इस तरहसे भावात्मक प्रतीति होती है उसी तरहसे ''नीलं तम:'' ऐसी भावात्मक प्रतीति हुआ करती है. अगर अन्धकारको अभावरूप माना जाये तो निश्चय ही इस प्रतीतिको भ्रमात्मक मानना अनिवार्य हो जायेगा. दूसरी समस्या यह है कि अगर अन्धकार अभावरूप होता तो उसकी प्रतीति होते समय प्रतियोगिविशेषका उल्लेख होना चाहिए, परन्तु हम पाते हैं कि अन्धकारकी प्रतीति प्रतियोगिविशेषका उल्लेख करती हुई होती नहीं है. इस कारण यही उचित प्रतीत होता है कि अन्धकारको भावरूप ही मान लिया जाये.

नैयायिक यह कह सकते हैं कि जो छह भावपदार्थ स्वीकृत हैं उनमें किसीमें भी अन्धकारका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है और किसी अतिरिक्त भावपदार्थकी सत्ताके अप्रामाणिक होनेके कारण अन्धकारका भावत्व ही बाधित हो जाता है (शशधरने इस सवालको बहुत विस्तारसे अपने ग्रन्थ न्यायसिद्धान्तदीपमें पूर्वपक्षके रूपमें उठाया है) तो यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता है. क्योंकि यह कहना सही नहीं है कि जो छह भावपदार्थ स्वीकृत हैं उनमें किसीमें भी अन्धकारका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है अपितु द्रव्यमें ही अन्धकारका अन्तर्भाव किया जा सकता है. द्रव्यमें रूपवत्त्व, क्रियावत्त्व और परिमाणवत्त्व आदि जो विशेषताएं उपलब्ध होती हैं वे विशेषताएं अन्धकारमें विद्यमान हैं. इस कारण अन्धकारको द्रव्य ही मान लेना

चाहिए[२]. अगर नव द्रव्योंमें इसका अन्तर्भाव सम्भव न हो तो इसको दशम द्रव्य मान लेना ही समुचित होगा. अगर ऐसा स्वीकार करना अनुचित लगता हो तो आखिर किस युक्तिके आधार पर आप पृथिवी आदिको अलग द्रव्य मानते हैं. पृथिवीका जलत्व बाधित होनेके कारण पृथिवी भी द्रव्य नहीं हो पायेगी[३]. नैयायिक यह कह सकते हैं कि द्रव्य विषयसंस्कारक बाह्य आलोकसे सहकृत चक्षुसे ही ग्राह्य होता है किन्तु अन्धकार तो अपने प्रत्यक्षकेलिए बाह्य आलोककी कोई भी अपेक्षा नहीं करता है, इस कारण अन्धकारको द्रव्य मानना सम्भव नहीं है तो उनका यह कथन भी अनुचित ही है. क्योंकि फिर तो तेज भी द्रव्य नहीं हो सकेगा क्योंकि तेजके प्रत्यक्षकेलिए भी विषयसंस्कारक बाह्यालोककी अपेक्षा नहीं होती है[४].

नैयायिकोंका यह कथन भी उचित नहीं प्रतीत होता है कि अन्वय और व्यतिरेक केद्वारा घट आदिके चाक्षुषप्रत्यक्षमें बाह्य आलोक सम्बन्धकी कारणता गृहीत होती है. वह कारणता सम्बन्धिसम्बन्धत्वेन गृहीत नहीं हो सकती है क्योंकि परम्परा सम्बन्ध रहने पर भी कार्यके उत्पन्न होनेकी आपत्ति आने लगेगी. जहां पर परम्परासम्बन्धसे आलोकका सम्बन्ध है उस द्रव्यके भी प्रत्यक्षकी पारी आ जायेगी. अगर कहें कि साक्षात् सम्बन्धत्वेन बाह्यालोकसम्बन्धकी चाक्षुषप्रत्यक्षके प्रति कारणता है, तो यह कहना भी असम्भव है क्योंकि साक्षात् सम्बन्धका ही निर्वचन कर पाना सम्भव नहीं है. और यदि निर्वचन कर पाना सम्भव भी हो तो उसकी अपेक्षा संयोगत्वेन ही बाह्यालोकसम्बन्धकी चाक्षुषप्रत्यक्षके प्रति कारणता स्वीकार कर लेनी चाहिए. चूंकि तेज:प्रत्यक्षकेलिए वैसा बाह्यालोकसम्बन्ध अपेक्षित होता नहीं है. इस कारण तेजोव्यतिरिक्त द्रव्यप्रत्यक्षके प्रति ही बाह्यालोकसम्बन्धकी कारणताका स्वीकार किया जाता है. अगर प्रमाणके बलसे तेजोव्यतिरिक्त विशेषण देना ही है तो प्रमाणके बलसे तमोव्यतिरिक्त विशेषण देना भी सम्भव है. न केवल इतना ही अपितु जब आप देख रहे हैं कि द्रव्य बाह्यालोकसम्बन्धके विना भी प्रत्यक्षीकृत हो सकता है तो बाह्यालोकसम्बन्धकी द्रव्यप्रत्यक्षके प्रति कारणताका भी परित्याग किया जा सकता है. यह भी कहना अनुचित नहीं होगा कि चूंकि अन्धकाररूप द्रव्य बाह्यालोकसम्बन्धके विना ही गृहीत होता है

और पृथिवी आदि बाह्यालोकसम्बन्धके विना गृहीत नहीं होते हैं. इस तरह भाववैधर्म्यसे पृथिवीके भावत्वका परित्याग कर देना चाहिए. अथवा इन्द्रियान्तर ही तमकी ग्राहक होते हैं यही मान लेना उचित दिखता है. शायद इसी कारण उल्लू आदिको घने अन्धकारमें तामस चक्षुरिन्द्रियसे लगातार वस्तुओंका ग्रहण हुआ करता है[५].

इस कारण अन्धकारको भावरूप ही मानना चाहिए. अन्धकारको भावरूप मानने पर यह सवाल अवश्य किया जा सकता है कि अन्धकार नित्य होता है या अनित्य होता है? अगर अन्धकार नित्य होता है तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए क्योंकि रूपवान नित्यका चाक्षुषप्रत्यक्ष न होनेका नियम दिखलायी देता है. हम देखते हैं कि जलपरमाणु और तेज:परमाणु नित्य और रूपवान होते हैं और उनका चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है. अगर भावरूप अन्धकार नित्य होता है तो उसका भी जलपरमाणु और तेज:परमाणु की तरह प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए. यदि आप कहें कि अन्धकार अनित्य होता है तो ऐसी स्थितिमें अन्धकारको आरभ्य होनेकी आपत्ति आयेगी[६]. चूंकि द्रव्यसमवायिकारणतामें स्पर्शद्रव्यत्व प्रयोजक होता है इसलिए अन्धकार आरभ्य तो हो नहीं सकता है. अन्धकारका कोई स्पर्श तो स्वीकार किया नहीं जा सकता है क्योंकि अन्धकारके स्पर्शका अनुभव तो होता नहीं है[७]. द्रव्यसमवायिकारणतामें मूर्तत्वको तो प्रयोजक माना नहीं जा सकता है क्योंकि फिर तो मनके भी आरभ्य होनेकी आपत्ति आ जायेगी. आखिर मन भी तो मूर्तद्रव्य है[८]. इस कारण अन्धकारको नित्य या अनित्य दोनों ही स्वीकार करना सम्भव नहीं है. ऐसी परिस्थितिमें अन्धकारको भावरूप कैसे माना जा सकता है? तो इस सवालका उत्तर यह है कि कोई आवश्यक नहीं है कि जो रूपवान होते हुए नित्य होता है वह चाक्षुषप्रत्यक्षका विषय नहीं ही हो. त्रसरेणु नित्य है और रूपवान है फिर भी वह चाक्षुषप्रत्यक्षका विषय होता ही है[९]. किसीका चाक्षुषप्रत्यक्ष होनेकेलिए यह आवश्यक नहीं होता है कि वह रूपवान होने पर अनित्य ही होगा. रूपवान नित्यका भी चाक्षुषप्रत्यक्ष हो सकता है. आखिर त्रसरेणु नित्य है और उसका चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है. किसी द्रव्यकी समवायिकारणतामें स्पर्शद्रव्यत्व प्रयोजक नहीं होता है अपितु मूर्तत्व ही

प्रयोजक होता है. मनके आरभ्य होनेकी आपत्ति तो नहीं आयेगी, क्योंकि मनको हम मूर्त मानते ही नहीं हैं[१०]. अथवा अन्धकारमें अनुद्भूतस्पर्शको ही स्वीकार कर लिया जाये[११]. अन्धकारमें उद्भूतस्पर्श न रहनेके कारण अन्धकारके स्पर्शका अनुभव नहीं होता है. मनमें तो स्पर्श है ही नहीं अत: मनके आरभ्य होनेकी आपत्ति भी नहीं आती है. यहां पर यह नहीं पूछा जा सकता है कि अन्धकारमें अगर उद्भूतरूप है तो अन्धकारमें उद्भूतस्पर्श भी रहना चाहिए क्योंकि केवल पृथिवीमें ही ऐसा होता है कि उद्भूतस्पर्श और उद्भूतरूपका सामानाधिकरण्य हो.

(यहां पर हम पाते हैं कि शशधर न्यायवैशेषिक परम्पराके विपरीत त्रसरेणुको नित्य बता रहे हैं परन्तु जब हम रघुनाथ शिरोमणिकेद्वारा इसीकी स्वीकृति पाते हैं तो यह कहना आसान नहीं है कि शशधरका कथन न्यायवैशेषिक परम्पराके विपरीत है. ध्यातव्य है कि रघुनाथ शिरोमणिने परमाणुका खण्डन करते हुए त्रसरेणुओंमें ही विश्रान्तिकी बात कही है. इस तरह हम पाते हैं कि शशधर इस विषय पर मौलिक हैं.)

अन्धकारको अभावरूप माननेमें इसके अतिरिक्त भी मुश्किलें कम नहीं हैं. प्रथमत: तो अन्धकार अगर अभावरूप है तो उसमें गति आदिका प्रत्यय कैसे हो सकता है? आखिर जो अभावत्वेन उपस्थित हो रहा है उसमें भावधर्मका आरोप कैसे सम्भव है? अभावत्वेन उपस्थितमें भावधर्मका आरोप होता भी नहीं है. इसका कारण यह है कि जो उपस्थित ही नहीं है उसमें आरोप होगा भी तो कैसे?[१२] द्वितीयत: अन्धकार अगर अभावरूप है तो वह कौन सा अभाव है? अगर वह अत्यन्ताभाव है तो अन्धकारमें उत्पन्नादि व्यवहार नहीं होने चाहिए क्योंकि नैयायिक तो अत्यन्ताभावको नित्य मानते हैं और नित्य अत्यन्ताभावरूपी अन्धकार तो उत्पन्न नहीं हो सकता है. मगर हम अनुभव करते हैं कि अन्धकारके विषयमें 'उत्पन्नोऽन्धकार:' अन्धकार उत्पन्न हुआ ऐसी प्रतीति होती है. अन्धकार अगर प्रागभावरूप है तो भी यही आपत्ति आती है क्योंकि अत्यन्ताभावकी तरह प्रागभाव भी उत्पन्न नहीं होता है. अन्धकार अगर ध्वंसरूप है तो अन्धकारका विनाश अनुभवमें नहीं आना

चाहिए क्योंकि ध्वंस विनाशी नहीं होता है. परन्तु हम देखते हैं कि जिस तरह 'उत्पन्नोऽन्धकार:' अन्धकार उत्पन्न हुआ ऐसी प्रतीति होती है उसी तरह 'ध्वस्तोऽन्धकार:' 'अन्धकार नष्ट हो गया' ऐसी प्रतीति भी होती है. इस कारण अन्धकारको न तो आप अत्यन्ताभावरूप मान सकते हैं और न तो ध्वंसरूप मान सकते हैं, और न ही प्रागभावरूप मान सकते हैं: रही बात अन्धकारको अन्योन्याभावरूप माननेकी तो यह भी तो सम्भव नहीं है. क्योंकि अन्योन्याभावरूप मानने पर भी वही समस्यायें सामने आयेंगी[१३]. तृतीयत: अगर अन्धकारमें नीलिमाका प्रत्यक्ष भ्रान्ति होती तो ''अनीलं तम:'' ऐसा विपरीत साक्षात्कार भी कदाचित् होना चाहिए था. परन्तु कभी भी किसीको भी ऐसा विपरीतसाक्षात्कार होता नहीं है. यहां तक कि योगियोंको भी अन्धकारमें नीलिमाका ही साक्षात्कार होता है. अगर कभी उस अन्धकारकी प्रतीति नीलत्वेन न हो रही हो तो उसमें अन्धकारका व्यवहार ही नहीं होता है[१४]. चतुर्थत: अन्धकार अगर अभावरूप होता तो ''नात्रालोक: किन्त्वन्धकार:'' यहां पर प्रकाश नहीं है अपितु अन्धकार है ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिए परन्तु होती है. यह प्रतीति भी यही सिद्ध करती है कि अन्धकार अभावरूप नहीं है. इस प्रतीतिमें आलोक और अन्धकार का भेद सुस्पष्ट प्रतीत होता है. यह भेदकी प्रतीति भी अन्धकारको आलोकसे भिन्न सिद्ध करती है[१५].

इस रीतिसे पूर्वपक्षको प्रस्तुत करनेके उपरान्त शशधर अन्धकारके अभावत्वको सिद्ध करनेकेलिए युक्तियां प्रस्तुत करते हैं. शशधरका मूलभूत कथन है कि अन्धकारको विषय करनेवाली प्रतीति यद्यपि भावत्व और भावत्वनियत धर्मको ही प्रकार बनाकर होती है यह अनुभवसिद्ध है. परन्तु आलोकसे अतिरिक्त भावविषयक चाक्षुषसाक्षात्कारको विषयसंस्कारक बाह्यालोककी अपेक्षा होनेके नियमका अवधारण है. इस कारण अन्धकारविषयिणी प्रतीतिको भ्रान्ति मानना समुचित है[१६]. आलोक तो अनन्यथासिद्ध प्रमाणसे सिद्ध है इस कारण उसका स्वीकार तो अनिवार्य है. इस कारण यह कहना समुचित नहीं है कि जिस तरह आलोकका प्रत्यक्ष करनेकेलिए विषयसंस्कारक बाह्यालोककी अपेक्षा नहीं होती है उसी तरहसे अन्धकारके प्रत्यक्षकेलिए भी विषयसंस्कारक बाह्यालोककी अपेक्षा नहीं होगी

ऐसा कहना अनुचित है. अन्धकाराभावको तेज नहीं माना जा सकता है क्योंकि उष्णस्पर्श और भास्वररूपके अधिकरण किसी न किसी द्रव्यकी स्वीकृति तो देनी ही पड़ेगी. भास्वररूप किसी अन्य द्रव्यमें तो है नहीं इस कारण किसके रूपका आरोप तेजमें होगा यदि हम तेजको अभावरूप मानें तो. अन्धकारमें आरोपित किया जानेवाला नीलरूप तो पृथिवीमें प्रसिद्ध है ही. उसी पार्थिवरूपका आरोप अन्धकारमें कर लिया जायेगा. इस कारण अन्धकारको अभावरूप माननेमें कल्पनाका गौरव नहीं होता है, तेजको तो अभावरूप मानने पर कल्पनागौरव होगा. यह अवश्य कहा जा सकता है कि आपका जो विषयसंस्कार बाह्यालोककी अपेक्षाका नियम है उस नियममें ही क्यों न सङ्कोच कर लिया जाये? इस सवाल पर शशधरका कथन है कि ऐसी स्थितमें गौरव होगा[१७] क्योंकि तुमको द्रव्यान्तर मानना पड़ेगा, उसमें रूपवत्त्व और नि:स्पर्शवत्त्व की कल्पना करनी पड़ेगी अथवा उद्भूतनीलरूपवत्त्वके साथ अनुद्भूतस्पर्शवत्त्वकी कल्पना करनी पड़ेगी. अगर अन्धकारमें स्पर्शको न स्वीकारा जाये तो अन्धकार आरभ्य कैसे होगा? स्पर्शवद्द्रव्यत्व आरम्भकत्वमें प्रयोजक होता है. मूर्तत्वकी अपेक्षा लघुभूत होनेके कारण इसको ही द्रव्यारम्भका प्रयोजक मानना उचित होता है. इसके अतिरिक्त अन्धकारको द्रव्य मानने पर अन्धकाररूपी द्रव्यको आलोकाभावसे व्यङ्ग्य मानना पड़ेगा. अन्धकारका कोई भी अनन्यथासिद्ध गुण उपलब्ध होता नहीं है, पृथिवी आदिका तो अनन्यथासिद्ध गुण रहनेके कारण अन्धकारका पृथिवी आदिसे साम्य नहीं है. इस कारण अन्धकारको अतिरिक्ति द्रव्य माननेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है[१८].

अन्धकारको अभावरूप माननेमें जो आशङ्कायें उठायी गयीं थीं उन आशङ्काओंका निवारण शशधर इस तरहसे करते हैं कि अन्धकारके अभावरूप होने पर भी उसमें भावधर्मका आरोप सम्भव है. क्योंकि अभावत्वेन उपस्थिति होनेकी दशामें ही अभावमें भावधर्मका आरोप सम्भव नहीं होता है. अगर अभावकी भी उपस्थिति अभावत्वेन नहीं हुई है, भावत्वेन हुई है तो उसमें भावधर्मका आरोप करनेमें कोई भी असुविधा नहीं है. यह अवश्य पूछा जा सकता है कि अन्धकारकी उपस्थिति हमेंशा भावत्वेन ही क्यों हुआ करती है,

कभी भी अन्धकारकी उपस्थिति अभावत्वेन क्यों नहीं होती है? इसके उत्तरमें शशधरका कथन है कि ऐसा तो दोषवश होता है. किन्तु सवाल यह भी है कि वह दोष क्या है? इस पर शशधर कहते हैं कि तथाभूत वस्तुका स्वरूप ही दोष है अथवा अदृष्ट आदि ही दोष हैं[१९]. अन्धकारके अभावरूप माननेमें एक दूसरा सवाल भी होता है कि अन्धकारमें जो गतिकी प्रतीति होती है उसं प्रतीतिकी व्याख्या आप कैसे करेंगे? तो इस सवालके उत्तरमें शशधरका कथन है कि यह प्रतीति तो आश्रयके चलन पर आधारित है. किसी भी द्रव्यमें ऐसा नहीं होता है कि उसका चलन आश्रयके चलने पर आधारित हो. अन्धकारके विषयमें तो हम पाते हैं कि उसका चलना आश्रयके चलन पर आधारित है. यद्यपि यह देखा गया है कि पद्मराग आदि मणियोंकी प्रभाका चलन भी उनके आश्रयके चलन पर आधारित हुआ करता है. परन्तु इस सवालका उत्तर शशधर यह देते हैं कि पद्मराग आदि मणियोंकी प्रभाका चलन उनके आश्रयके चलन पर आधारित नियमसे नहीं होता है. किसी अन्य कारणसे अन्य स्थलोंमें भी प्रभाके चलनकी उपलब्धि होती है[२०]. परन्तु हम पाते है कि अन्धकारका चलना सभी स्थलों पर आश्रयके चलन पर आधारित ही होता है. इस कारण अन्धकारको भावरूप न मानकर अभावरूप मानना ही उचित लगता है. इसमें अन्य भी युक्ति है कि अन्धकार अगर गतिमान होता तो तेजोऽभावाविषयक चाक्षुषसाक्षात्कारका अविषय नहीं होता परन्तु अन्धकार कभी भी तेजोऽभावाविषयक चाक्षुषसाक्षात्कारका विषय नहीं होता अपितु हमेंशा ही तेजोऽभावविषयक चाक्षुषसाक्षात्कारका विषय ही होता है. इस कारण अन्धकारमें गतिको स्वाभाविक नहीं माना जा सकता है[२१]. जो यह प्रश्न था कि अन्धकारको तेजोऽभावरूप मानने पर प्रतियोगीका भान तो होना चाहिए, विना प्रतियोगीके भानके अभावका भान आखिर कैसे होगा? विना प्रतियोगिभानके अगर किसीका भान हो रहा है तो उसको अभाव आखिर किस युक्तिके आधार पर माना जाये? इस सवालके जवाबमें शशधरका कथन है कि अन्धकारमात्रका व्यवहार तो यावत्तेज:संसर्गाभावके आधार पर होता है और दोषवश प्रतियोगिके भानके विना भी तेजोऽभावका भान होनेमें कोई विरोध नहीं है[२२]. अभावका भान होनेकेलिए प्रतियोगिभानकी अपेक्षा नहीं होती है अपितु अभावके अभावत्वके ग्रहणकेलिए प्रतियोगिभानकी अपेक्षा होती

है[२३]. इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी होता है कि अभावमें ''उत्पन्नो अन्धकार:'' अन्धकार उत्पन्न हुआ ऐसी प्रतीति कैसे होती है और उसी तरह ''ध्वस्तो अन्धकार:'' ''अन्धकार नष्ट हो गया'' ऐसी प्रतीति भी किस तरहसे सम्भव हो पाती है? इसके उत्तरमें शशधरका कहना है कि जैसे समुदायमें किसी एकके विनष्ट हो जाने पर जैसे समुदायके विनष्ट हो जानेका प्रत्यय होता है उसी तरह यहां पर भी यावत्तेज:संसर्गाभावके आधार पर ही अन्धकारका प्रत्यय होनेसे किसी एक तेज:के विनष्ट हो जाने पर ''उत्पन्नो अन्धकार:'' अन्धकार उत्पन्न हुआ ऐसी प्रतीति उपपन्न होती है. और किसी एक तेज:के उत्पन्न हो जाने पर ''ध्वस्तो अन्धकार:'' ''अन्धकार नष्ट हो गया'' ऐसी प्रतीति भी उपपन्न होती है[२४]. जो यह कहा गया है कि ''नीलं तम:'' ऐसी प्रतीतिके भ्रान्त होने पर कभी न कभी ''अनीलं तम:'' ऐसी प्रतीति भी होनी चाहिए. तो यह कहना भी युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि शरीरमें अहम् प्रत्ययकी तरह यह भी उपपन्न होता है[२५]. शरीरमें होनेवाला अहम् प्रत्यय यद्यपि भ्रान्ति ही है तथापि कभी भी अहम् प्रत्ययका विपरीतज्ञान नहीं होता है. इसी कारण योगियोंको भी वैसा ही प्रत्यय होता है. उल्लू आदिको भी भावविषयक चाक्षुषसाक्षात्कारकेलिए विषयसंस्कारक बाह्यालोककी अपेक्षा होती ही है. रात्रिमें भी तेजोऽन्तर तो विद्यमान ही रहता है. इसी कारण वे दिनमें नहीं देख पाते हैं. क्योंकि दिनमें सौरप्रकाशकेद्वारा उस प्रकाशविशेषका अभिभव हो जाता है[२६]. उल्लू आदि के चक्षुरिन्द्रियकी यह विशेषता होती है कि वे उस प्रकाशविशेषसे सहकृत होने पर ही विषयोंका प्रत्यक्ष कर पानेमें सक्षम होती है. ''नात्रालोक: किन्त्वन्धकार:'' यहां पर प्रकाश नहीं है अपितु अन्धकार है ऐसा व्यवहार तो ''नात्र घट: किन्तु घटाभाव:'' यहां पर घट नहीं है अपितु घटका अभाव है इस तरह का विवरण मात्र ही है. इसलिए इस व्यवहारके आधार पर आप अन्धकारको भावरूप नहीं सिद्ध कर सकते हैं. इस कारण अन्धकारको अभाव ही मानना चाहिए[२७].

शुद्धाद्वैत मतमें अन्धकारका स्वरूप

शुद्धाद्वैत मतमें अन्धकारको द्रव्य न मानते हुए भावरूप माना गया है. अन्धकारको द्रव्य न माननेके विषयमें नैयायिकों और शुद्धाद्वैतियों में कोई भी

मतभेद नहीं है. किन्तु दोनोंकी युक्तियां इस विषय पर भिन्न-भिन्न हैं. सूत्रकारद्वारा सम्मत न होनेके कारण वे अन्धकारको द्रव्य नहीं मानते हैं. किन्तु नैयायिकोंकी तरह वे अन्धकारको अभावरूप न मानते हुए भावरूप माननेका पक्ष रखते हैं. वे अन्धकारको मायाका कार्यान्तर माननेके पक्षपाती हैं. अन्धकारको अभावरूप न माननेकेलिये उनका पक्ष है कि

१.अन्धकार अभावरूप नहीं हो सकता है क्योंकि कोशोमें अन्धकारके पर्यायोंमें तेजो अभावका पाठ कहीं पर भी मिलता नहीं है. अगर अन्धकार तेजो अभावरूप होता तो अन्धकारके अन्य पर्यायोंकी तरह तेजो अभावका पाठ भी मिलना चाहिए था.

२.अन्धकारके तेजोऽभावरूप होने पर अन्धकार और तेज में वध्यघातकभाव नहीं हो पायेगा. जबकि प्रतीति होती है कि "तेजसा नष्टं तमः" "तेजसे अन्धकार नष्ट हो गया" ऐसी प्रतीति अन्धकारके तेजोऽभावरूप मानने पर कथमपि सम्भव नहीं हो पायेगी.

३.भागवतपुराणमें अन्धकारके परिमाण और प्रवेशात्मक क्रियाका कथन होनेके कारण भी अन्धकारको अभावरूप नहीं माना जा सकता है. क्योंकि अभावमें क्रिया सम्भव नहीं है.

अब अगर नैयायिकोंके नज़रिएसे देखा जाये तो ऐसी स्थितिमें अन्धकारको द्रव्य माननेकी आवश्यकता होगी. परन्तु शुद्धाद्वैतियोंका कथन है कि परिमाणवान होनेका यह मतलब नहीं है कि वह वस्तु द्रव्य ही होगी. यह विभाग उचित ही नहीं है. इस कारण अन्धकार मायाका परिणामविशेष है और भावरूप अतिरिक्त पदार्थ है. यहां पर उनका यह विशेष कथन भी ध्येय है कि मायाके परिणामविशेष इस अन्धकारकी उत्पत्ति तेजोऽभाव रहने पर ही और मनुष्योंके प्रति ही होती है. सभीके प्रति अन्धकारकी उत्पत्ति नहीं होती है और इसी कारण अन्धकारमें भी उलूक और बिडाल आदि अन्धकारको नहीं देखते हैं अपितु तेजोऽभावका ही ग्रहण करते हैं[२८]. अपने पक्षके समर्थनमें वे कहते हैं कि अन्धकार आवरक होता है इस कारण हमारी चक्षुरिन्द्रियकेद्वारा अन्धकार रहने पर चाक्षुषप्रत्यक्ष कर पाना सम्भव नहीं होता है. यह तो नैयायिकोंको भी

स्वीकार्य है कि चक्षुरिन्द्रिय सन्निकृष्टका ग्रहण करनेमें ही सक्षम होती है. आखिर नैयायिकोंका प्रत्यक्षका लक्षण ही है "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" तो अगर शुद्धाद्वैतियोंके अनुसार अन्धकारको भावरूप मान लिया जाये तो प्रत्यक्षके प्रति विषयालोकसन्निकर्षको कारण माननेकी आवश्यकता नहीं रहेगी. केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्षको कारण मान लेनेसे काम चल जायेगा. इस तरह इस पक्षमें लाघव भी होगा[२९]. अतः अन्धकारको अभावरूप न मानकर भावरूप पदार्थान्तर माननेका पक्ष ज्यादा समुचित प्रतीत होता है.

आदरणीय गोस्वामी श्याममनोहरजीने अवतारवादावली (द्वितीयभाग) के सम्पादकीयमें अन्धकारको अभावरूप न माननेकेलिए कुछ अन्य तर्क भी उपस्थिति किये हैं. मैं यहां पर उनके उद्धरणको ही उद्धृत करना चाहता हूं

"जो चिन्तक इसे प्रकाशके अभावके रूपमें प्रतिपादित करना चाहते हैं उनके अनुसार प्रकाशभाव जहां पर दिखलायी देता हो उसके विशेषणतया दिखलायी देता मानना पड़ेगा. यहां प्रष्टव्य यही होता है कि जिसका अभाव जहां प्रतीत होता है वहां वह वस्तु स्वयं यदि दिखलायी न देती हो तो वहां अभावप्रतीति कैसे उपपन्न हो पायेगी? प्रत्येक अभावकी परोक्ष या अपरोक्ष प्रतीतिमें अभावके प्रतियोगीका परोक्षज्ञान तथा अनुयोगीका यथायथ परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञान अनिवार्य होता ही है. अन्धकारके अपरोक्ष भासके बारेमें प्रति-योगीकी बात जाने दें परन्तु अनुयोगीका अपरोक्ष भास होता नहीं है जो होना अनिवार्य था. अतः अन्धकारको प्रकाशका अभाव नहीं माना जा सकता है".

इस तरह हम पाते हैं कि शुद्धाद्वैतियोंके अनुसार अन्धकारको अभावरूप नहीं माना जा सकता है. अन्धकारको भावरूप मायापरिणाम-विशेषरूप पदार्थान्तर मानना ही उचित है.

उभयपक्षद्वारा उपस्थापित युक्तियोंकी समीक्षा

नैयायिकोंकी ओरसे शुद्धाद्वैतियोंके मतका खण्डन कहीं किया गया

हो ऐसा मुझे मिला नहीं है. सम्भवत: कहीं पर भी नैयायिकोंकेद्वारा शुद्धाद्वैतियोंके मतका खण्डन किया भी नहीं गया है. मैं इस प्रश्नको एक नैयायिककी दृष्टिसे समाहित करनेका प्रयास कर रहा हूं. शशधरद्वारा तौतातिकोंका खण्डन करनेकेलिए जिन युक्तियोंका उपयोग किया गया है वे युक्तियां कमोंबेश शुद्धाद्वैतियों पर भी लागू होती हैं. शुद्धाद्वैतियोंका यह कहना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि अन्धकार भावरूप होते हुए भी नैयायिकोंद्वारा स्वीकृत पदार्थोमें अन्तर्भूत नहीं होता है. आखिर नैयायिकोंमेंसे अनेक ऐसे नैयायिक हुए हैं जो विषयता, अधिकरणता आदिको अतिरिक्त पदार्थके रूपमें मान्यता प्रदान करते हैं. तो आखिर अन्धकारने क्या अपराध किया है जो अन्धकारको अतिरिक्त-पदार्थके रूपमें मान्यता न प्रदानकी जाये. किन्तु यह भी विचारणीय प्रश्न है कि नव्यनैयायिकोंमें मौलिक चिन्तकोंकी कमी नहीं रही है परन्तु किसी भी चिन्तकने अन्धकारको भावरूप माननेका पक्ष नहीं रखा है. यहां तक कि रघुनाथ शिरोमणिने भी कहीं इसका सङ्केत नहीं दिया है. इसका क्या कारण हो सकता है? आइए इस प्रश्नका उत्तर खोजनेका प्रयास किया जाये.

नैयायिकोंका आशय है कि यदि स्वीकृत पदार्थोसे काम चल जाये तो अतिरिक्त पदार्थोंको स्वीकृति देनेका कोई औचित्य नहीं है. विषयता, अधिकरणता आदिको अतिरिक्त पदार्थके रूपमें मान्यता प्रदान करनेका उद्‌देश्य यही है. अन्धकारके विषयमें हम विचार करें तो पाते हैं कि अन्धकारको अतिरिक्त पदार्थके रूपमें मान्यता देनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है. अन्धकारको तेजोऽभावरूप माननेसे काम चल सकता है.

जहां तक अन्धकारको मायाका परिणामविशेष माननेकी बात है तो यह तो नैयायिकोंको स्वीकार्य नहीं हो सकती है क्योंकि माया नामक पदार्थ नैयायिकोंके मतमें अस्वीकार्य ही है. इस कारण मायाका परिणामविशेष तो अन्धकारको मानना असम्भव है. ऐसी स्थितिमें अन्धकारको अतिरिक्त पदार्थके रूपमें मान्यता देनेका मतलब यह होगा कि अन्धकारको स्वीकृत पदार्थोमेंसे किसीमें अन्तर्भूत किया जाये अथवा एक अतिरिक्त पदार्थ स्वीकारा

जाये. मायाको अतिरिक्ति पदार्थ मानने न मानने का विवाद दूसरा हो जायेगा. यह प्रकृत विषयसे सम्बद्ध होते हुए भी विषयान्तरकी ओर चर्चाको मोड़ देगा. इस कारण इस प्रश्न पर विचार न कर हम अन्धकारके भावरूप होने या भावरूप न होने पर ही विचार करते हैं.

अन्धकारको अभावरूप मानने पर शुद्धाद्वैतियोंकेद्वारा जो आपत्तियां उठायी गयी हैं क्या उनका समुचित समाधान न्यायरीतिसे किया जा सकता है. जहां तक कोशोंमें अन्धकारके पर्यायोंमें तेजोऽभावका पाठ न होनेकी बात है तो यह कथन अनुचित है. क्योंकि प्रथमत: तो यह आवश्यक नहीं है कि समस्त पर्यायोंका किसी भी कोशमें पाठ हो ही. दूसरी बात यह है कि पर्यायके रूपमें उनका तो पाठ कोशोंमें उपलब्ध हुआ करता है जो कि लोकप्रसिद्ध होते हैं. अन्धकारके पर्यायोंमें तेजोऽभावका पाठ न होने का कारण यह भी हो सकता है कि अन्धकारके स्वरूपके विषयमें शास्त्रोंमें मतवैभिन्य है. कोशकार कभी भी ऐसी चीजोंको कोशमें स्थान नहीं देते हैं जो विवादास्पद हों. नैयायिक जहां अन्धकारको तेजोऽभावरूप न मानते हैं वहीं अन्य शास्त्रकार अन्धकारको तेजोऽभावरूप नहीं मानते हैं. इसी कारण शायद कोशकारने अन्धकारके पर्यायोंमें तेजोऽभावको नहीं परिगणित किया हो. इसलिए इसे अन्धकारको भावरूप पदार्थान्तर सिद्ध करनेकेलिए युक्तिके रूपमें प्रस्तुत करना अनुचित है. इसको जात्युत्तर ही माना जाना चाहिए. अन्धकारके साथ तेजके वध्यघातकभावको जो युक्तिके रूपमें प्रस्तुत किया गया है उसको भी मैं समझता हूं कि अन्धकारको भावरूप पदार्थान्तर सिद्ध करनेमें युक्ति नहीं माना जा सकता है. क्योंकि शशधरनें वध्यघातकभावको भी समुचित रूपसे व्यवस्थापित कर दिया है. अन्धकार अगर तेज:संसर्गाभाव है तो यह प्राय: सर्वविदित तथ्य है कि प्रागभावको नैयायिक विनाशी मानते हैं और चूंकि प्रतियोगीकी उत्पत्ति होने पर अन्धकार विनष्ट हो जाता है इस कारण ''तेजसा नष्टं तम:'' ''तेजसे अन्धकार नष्ट हो गया'' ऐसी प्रतीति भी उत्पन्न हो सकती है. ऐसी प्रतीतिके उपपन्न होनेमें भी कोई असौविध्य नहीं है.

भागवतपुराणके कथनके आधार पर अन्धकारको भावरूप माननेके

विषयमें जो प्रवेशात्मिका क्रिया और परिमाणविशेष की बात कही जा रही है उसका भी वस्तुत: कोई औचित्य नहीं है. क्योंकि उक्त प्रयोगको अगत्या लाक्षणिक मानना ही उचित है. यह भलीभांति व्यवस्थापित किया जा चुका है कि अन्धकारमें क्रिया और रूपवत्ता की प्रतीति भ्रम है उसी तरहसे परिमाणवत्ताकी प्रतीतिको भी भ्रम मानना समुचित है.

आदरणीय गोस्वामी श्याममनोहजीकी युक्ति शायद इस तर्क पर आधारित है कि अभावका प्रत्यक्ष विशेषणतासन्निकर्षसे हुआ करता है. विशेषणतासन्निकर्ष तभी बन सकता है अगर अभाव किसीमें विशेषण बनकर भासित हो रहा हो परन्तु ऐसा अन्धकारके विषयमें होता नहीं है. अन्धकार तभी विशेषण बनकर भासित हो सकता है अगर उसका कोई अनुयोगी बन रहा हो परन्तु ऐसा तो हम देखते नहीं हैं. अन्धकारका अपरोक्ष भास होनेके कालमें अन्धकारका कोई अनुयोगी तो भासता नहीं है. कहीं पर भी अन्धकारके प्रत्यक्षके समयमें अनुयोगीका परोक्ष या अपरोक्ष भान होता नहीं है. इसी तरह अन्धकारके प्रत्यक्षके समय अन्धकारके प्रतीयोगीका भान भी नहीं हुआ करता है. जबकि अभावके भानकेलिए उसके प्रतियोगीका भान भी अपेक्षित होता है. फिर अन्धकारको अभावरूप कैसे माना जा सकता है? मैं समझता हूं कि शशधरने आदरणीय गोस्वामी श्याममनोहरजीकी युक्तिका समाधान भली-भांति कर दिया है. शशधरने कहा है कि अभावका अभावत्वेन भान होनेकेलिए प्रतियोगिभानकी अपेक्षा होती है. साधारणतया अभावका भान होनेकेलिए प्रतियोगीके भानकी अपेक्षा नहीं होती है. इस कारण अन्धकार अभावरूप होकर भी विना प्रतियोगीका भान हुए भासित हो सकता है जब तक कि वह अभावत्वेन न भासित हो रहा हो. हम जानते हैं कि अन्धकारका भी जब अभावत्वेन भान होता है तो न्याय मतमें भी उसके प्रतियोगीका भान अवश्य होता है. इस कारण गोस्वामीजीकी युक्ति तो निर्बल ही प्रतीत होती है. इस युक्तिके आधार पर अन्धकारको भावरूप नहीं सिद्ध किया जा सकता है. रही बात अन्धकारके अनुयोगीका भान होनेकी तो इस विषयमें शशधर कुछ खास नहीं कहते हैं. परन्तु शशधर और शशधरके परवती गङ्गेशोपाध्यकी सहायतासे हम इस युक्तिका भी खण्डन करनेमें नैयायिकोंको सक्षम पाते हैं.

गङ्गेशोपाध्यायने अपने महान ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणिमें बताया है कि अभावके प्रत्यक्षकेलिए विशेष्यता सन्निकर्षकी अपेक्षा होती है. यहां पर मैं गङ्गेशोपाध्यायकी पङ्क्तियोंको ही उद्धृत करना चाहता हूं

"प्रथमं भूतले घटो नास्तीति बुद्धि:. तत्र भूतलं विशेषणं अभावो विशेष्य:. विशेष्यज्ञानञ्च न कारणम्. पश्चाद्भूतलविशेष्यकं घटाभाववद् इति ज्ञानम्. ननु इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतया अभावो गृह्यत इत्युक्तम्, अत: कथं स विशेष्य इति चेत्? भूतलविशेषणतया स्वभावप्रत्यासत्त्या गृह्यत इति तदर्थ:. नत्वभावस्य विशेषणतया भानम्. अतएव वायौ रूपाभाव इति प्रत्यक्षस्य चाक्षुषत्वमुक्तमाचार्यै:."[३०]

इस तरह हम पाते हैं कि अभावका विशेषणतया ही भान हो यह आवश्यक नहीं है. विशेष्यतया भी भान अभावका सम्भव है. किन्तु यह अवश्य है कि अगर अभावका विशेषणतया भान हो तो कोई न कोई विशेषण बन कर भासित ही होना चाहिए. अगर अभावका भान विशेष्यतया हो रहा हो तो उसमें कोई न कोई विशेषण बन कर भासित ही होना चाहिए. यह नहीं सम्भव है कि अभावका भान हो भी और वह न तो किसीमें विशेष्य बन रहा हो और न तो किसीमें विशेषण. परन्तु इस प्रश्नका समाधान यह किया ही जा सकता है कि अभावका अभावत्वेन भान होनेकेलिए ही यह आवश्यक है कि वह या तो किसीमें विशेष्य बन रहा हो या तो किसीमें विशेषण. अन्धकारका जब अभावत्वेन भान नहीं हो रहा है तो उस समय अन्धकारका भान सामान्यतया भी हो सकता है. ऐसी परिस्थितिमें यह अनिवार्य या आवश्यक नहीं है कि अन्धकार किसीमें विशेष्य बन रहा हो और या तो किसीमें विशेषण. इस कारण हम नैयायिकोंको अन्धकारको अभावरूप माननेमें युक्तिपूर्ण और सक्षम पाते हैं.

सन्दर्भसूची

१.अभावत्वे तु प्रतिगियोविशेषोल्लेखप्रसङ्गात्. पृ.५ न्यायसिद्धान्तदीप.

२.रूपवत्त्वक्रियावत्त्वपरिमाणवत्वादिना द्रव्यत्वस्यैव उचितत्वात्. पृ.७

३.अन्यथानुपपत्त्या दशमद्रव्यकल्पनात्. अन्यथा जलत्वबाधात् पृथिव्यपि द्रव्यान्तरं न स्यात्. (तत्रैव)

४.न च विषयसंस्कारक-बाह्यालोकसहकृत-चक्षुग्राह्यत्वात् द्रव्यत्वम् अस्य बाधितमिति वाच्यम्, तेजस्यैव व्यभिचारात्. (तत्रैव)

५.द्रष्टव्य पृ.८

६.तमः किं नित्यमनित्यं वा. आद्ये रूपवतो नित्यस्य अचाक्षुषत्वप्रसङ्गः. द्वितीये त्वारभ्यं तत् स्यात्. (तत्रैव)

७.द्रव्यसमवायिकारणतायां स्पर्शद्रव्यत्वस्य प्रयोजकत्वात्. (तत्रैव)

८.नच मूर्तत्वमेव तत्र प्रयोजकम् इति वाच्यम्, मनसोऽपि आरम्भकत्वप्रसङ्गात्. (तत्रैव)

९.रूपवत्त्वेन नित्यत्वेऽपि त्रुटेष्चाक्षुषत्वस्वीकारात्. (तत्रैव)

१०.मनसि मूर्तत्वाङ्गीकारात्. (तत्रैव)

११.अनुद्भूतस्पर्शएव वा कल्प्यताम्. (पृ.९ तत्रैव)

१२.अभावत्वेन उपस्थिते भावधर्मानारोपात्. अन्यथा तदनुपस्थितेः आरोपासम्भवात्. तत्रैव

१३.किञ्च तेजोऽत्यन्ताभावरूपत्वे तमसि उत्पन्नादिव्यवहारो न स्यात्. प्रागभावरूपत्वेपि तथा ध्वंसत्त्वे तु विनाशित्वं न स्यात्. अन्योन्याभावरूपत्वे तथा. (तत्रैव)

१४.अपि च नीलसाक्षात्कारस्य भ्रान्तत्वे "अनीलं तमः" इति विपरीतसाक्षात्करोपि स्यात्. न चायं कदाचिदपि कस्यापि भवति. प्रत्युत योगिनोऽपि तत्र नीलप्रत्ययएव उन्नीयते. तत्रैव

१५.नात्रालोकः किं पुनरन्धकारः इति व्यवहाराच्च आलोकाभावातिरिक्तएव अन्धकारः इति पूर्वपक्षसङ्क्षेपः. (तत्रैव)

१६.यद्यपि भावत्वनियततद्धर्मप्रकारिका प्रतीतिः तमोविषयानुभवसिद्धा तथापि तेजोव्यतिरिक्त-भावगोचरचाक्षुषसाक्षात्कारस्य विषयसंस्कारक-बाह्यालोकापेक्षा-नियमावधारणबलेन भ्रान्तत्वकल्पनमेव युक्तं तस्याः. (तत्रैव)

१७.तथा सति कल्पनागौरवप्रसङ्गात्. तथाहि तमो द्रव्यान्तरं कल्पनीयं तत्र रूपवत्त्वे सति स्पर्शवत्त्वं कल्पनीयम्. उद्भूतनीलरूपवत्त्वे वाऽनुद्भूतस्पर्शवत्त्वम्. (पृ.१०)

१८. तत्रैव

१९.दोषस्तु तथाभूतवस्तुस्वरूपमेव अदृष्टादिकमेव वा. (तत्रैव)

२०.कारणवशादन्यत्रापि प्रभाचलनोपलम्भात्. (तत्रैव)

२१.यद्वा तमो यदि गतिमत् स्यात् तेजोऽभावविषयक-चाक्षुषसाक्षात्काराविषयो न स्यात्. (तत्रैव)

२२.तमोमात्रव्यवहारस्तु प्रौढप्रकाशक-यावत्तेजःसंसर्गाभाव-निबन्धन एव. दोषवशात् प्रतियोगिनो अनवभासनेऽपि तेजोऽभावावभासाविरोधात्. (तत्रैव)

२३.अभावत्वग्रहे हि प्रतियोगिग्रहापेक्षणात्. (तत्रैव)

२४.तत्र राशिष्विव कश्चित् समुदायिव्यतिरेकप्रयुक्त एव विनाशप्रत्ययः

एवमुत्पत्तिप्रत्ययोऽप्यूह्यः. (तत्रैव)

२५.शरीरेऽहम्प्रत्ययवदुपपत्तेः. पृ.११

२६.पेचकादीनां बाह्यालोकनिरपेक्षं चक्षुर्ग्राहकम् इत्यसिद्धमेव. तत्र तेजोऽन्तरस्य विद्यमानत्वात्. (तत्रैव)

२७.नात्रालोकः किं पुनरन्धकार इति व्यवहारस्तु नात्र घटः किन्तु तदभाव इति विवरणरूपत्वादिना समर्थनीयम् इति सर्वं समञ्जसम्. (तत्रैव)

२८.द्रष्टव्य अवतारवादावली पृ. २४३

२९.द्रष्टव्य अवतारवादावली पृ. २४४

३०.तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्षखण्ड पृ. ८६७-८६८

सन्दर्भग्रन्थसूची

१.अवतारवादावली द्वितीयभाग द्वितीय संस्कारण सं.गो. श्याममनोहरजी २००४

२.तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्षखण्ड प्रकाश न्यायशिखामणिसहित सं. एन. एस. आर. ताताचार्य तिरुपति

३.न्यायसिद्धान्तदीप गुणरत्नगणिटिप्पणसहित एल. डी. इन्स्टीट्युट् अहमदाबाद १९७६ सं. बिमल कृष्ण मतिलाल.

चर्चा

अन्धकार भाव है या अभाव?

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र

के. ई. देवनाथन : अभावत्वेन तेजोभावस्य भाने प्रतियोगिज्ञानसापेक्षता वर्तते अतः तमसः ज्ञाने सर्वथा प्रतियोगिज्ञानसापेक्षता नास्ति. यदा अभावत्वेन तमसः ज्ञानं नास्ति तदानीं प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्ष अभांवज्ञानम् भवितुम् अर्हति इति भवद्भिः उक्तम्. परन्तु तत्र उदाहरणन्तु प्रदर्शनीयम्. अभावत्वेन यदा तमसः ज्ञानम् अस्ति तदानीं तावत् समीचीनम् भवति. अभावत्वेन यदा ज्ञानं नास्ति तस्य ज्ञानस्य आकारः कः?

बलिराम शुक्ल : अन्धस्य.

के. ई. देवनाथन : "इदं तमः" इति ज्ञानम्. तत्र तमो नाम तेजोभावः नैयायिकमते. तेजोभावः अभावत्वेन न भासते, इदंत्वेन भासते. एवन्तु नैयायिकैः स्वीकृतम्. अभावत्वज्ञानं विनापि अभावज्ञानम् अन्येन प्रकारेण भवितुम् अर्हति. इदं तावत् पदार्थत्वेन यद् ज्ञानं, प्रमेयत्वेन यत् तादृशं ज्ञानं नास्ति. विशिष्यतमसः ज्ञानम्. "इदं तमः" इति ज्ञानम्. तज्ज्ञाने अभावत्वेन, तमस्त्वं नाम अभावत्वेन स्वीक्रियताम्. तेन रूपेण ज्ञानं नास्ति. अतः प्रतियोगिज्ञानसापेक्षता नास्ति. दृष्टान्ततया तद् वक्तव्यम् इति मम भाति.

व. ना. झा : "मम अभावज्ञानम् अस्ति" इति वक्तुं शक्यते वा?

के. ई. देवनाथन : शक्यते. अभावस्य...

व. ना. झा : कस्य अभावः? केवलं प्रतियोगिनम् अनुल्लिख्य केवल अभावज्ञानं भवितुम् अर्हति?

के. ई. देवनाथन : तथा अभावः इति मम ज्ञानम् अस्ति इति वक्तुं न शक्यते. अहं अभावज्ञानवान् इति वक्तं न शक्यते. अभावस्य उल्लेखः क्रियते चेत् अभाव...प्रतियोगिना विशेषण विशिष्टस्यैव अभावस्य ज्ञानं

भवति. अभावः इति अभिलापः नास्ति चेत् तस्य ज्ञानस्य अभावत्वेन उल्लेखः ज्ञानम् उभयत्रापि न अपेक्षितम्. एकत्र प्रतियोगिरूपविशेषणविशिष्टतया अभावस्य ज्ञानं भवति. अपरत्र प्रतियोगिरूपविशेषेणविशिष्टतया ज्ञानं न भवति.

झा : उल्लेखो नास्ति तत्र.

बलिराम शुक्ल : तत्र तेजोभावत्वेन यदा ज्ञानं भवति तदानीं तेजसः ज्ञानम् आवश्यकम्. परन्तु यदि अन्धकारत्वेन यदि ज्ञानं जायते बालकस्य यः न जानाति "अन्धकारः तेजोभावरूपः" तस्यापि अन्धकारस्य ज्ञानं भवत्येव. तत्र तेजज्ञानं विनापि भवति.

के. ई. देवनाथन : न भवति. नैयायिकमते अन्धकारत्वम् इति अतिरिक्त कश्चित् धर्मः अस्ति.

बलिराम शुक्ल : तेजोभावरूपः धर्मः अस्ति परन्तु तेजोभावत्वेन यदा प्रतीतिर्जायते तदा. परन्तु यदा अन्धकारस्य तेजोभावत्वेन प्रतीतिः यस्य पुरुषस्य नास्ति तस्यापि अन्धकारस्य ज्ञानं भवति न वा? अतः तादृशीम् अन्धकारबुद्धिं प्रति ...

के. ई. देवनाथन : "इदं तमः" इति ज्ञानस्य आकारः.

बलिराम शुक्ल : भवतु. कोपि आकारः भवतु. प्रतीतितया उल्लेखः यदि क्रियते चेत् "अयं तेजोभावः"...

सच्चिदानन्द मिश्र : नैयायिकाः कथयन्ति अभावाभावः प्रतियोगिरूपः. घटाभावाभावः घटरूपः. यदा घटस्य अर्थात् घटाभावाभवस्य घटत्वेन रूपेण ज्ञानं भवति तदा तस्य प्रतियोगि घटाभावः न भासते. किन्तु यदा तस्यैव घटस्य यदा घटाभावाभावत्वेन भानं भवति तदा प्रतियोगिज्ञानमपि तत्र भवति.

के. ई. देवनाथन : तदेव मयापि उच्यते. घटाभावाभावत्वेन यदा घटस्य ज्ञानं भवति तदानीं घटाभावरूपस्य प्रतिगिनः ज्ञानम् अपेक्षितम्. तत्र विप्रतिपत्तिः नस्ति. यदा घटः इति उल्लेखः वर्तते तदानीं घटत्वेन रूपेण घटः ज्ञायते. तत्रापि कापि विप्रतिपत्तिः नास्ति. परन्तु अत्र तमोविषये भेदः अयं वर्तते "इदं तमः" इति यद् ज्ञानं वर्तते इदानीं तेजोभावः इति ज्ञानं भवति चेत् तदानीं तेजसः प्रतिगिनः स्मरणं वा

ज्ञानम् वा अपेक्षितम्. इदं तमः इति यज् ज्ञानं भवति तत्र तु न अपेक्षितम्. यतः उभयत्रापि अभावत्वस्य ज्ञानं न अपेक्षितम्. तत्तु सिद्धान्तसिद्धम् अस्ति. उभयत्रापि प्रतियोगिविशिष्टतया अभावग्रहणे केवलस्य अभावस्य ग्रहणे अभावत्वज्ञानं न अपेक्षितम्. प्रतियोगिनः ज्ञानम् अपेक्षितम्.

झा : प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानकत्वम्. तत्र ज्ञानस्य आकारद्वयं सम्भवति. एकं ज्ञानं तमः इति ज्ञानम्. यदि एतादृशो आकारः तदानीं प्रकारतया किं भासते? तमस्तमेव वक्तव्यम्. इदानीं चर्चा का भवति पदार्थः कीदृशः? अन्धकारः पदार्थः कीदृशः भावरूपो वा अभावरूपो वा? यदि नैयायिकैः उच्यते अभावरूपः, तदा अभावरूपस्य पदार्थस्य ज्ञानं किं प्रतियोगिज्ञानं विना भवति? नैव सम्भवति.

सच्चिदानन्द मिश्र : यदि अभावत्वेन ज्ञानम् अस्ति...ज्ञानं भवति.

व. ना. झा : सः कीदृशः पदार्थः?

सच्चिदानन्द मिश्र : अभावरूपएव पदार्थः.

बलिराम शुक्ल : अभावरूपपदार्थस्य अभावत्वेन ज्ञानं न भवति. अतएव अयं भ्रमः.

के. ई. देवनाथन : कश्चन नियमः वर्तते. उद्घाटयामि. विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानं कारणम् इति यो नियमः वर्तते तद् अभावज्ञानविषये नास्ति. तद्व्यतिरिक्तस्थलएव अयं नियमः. ग्रन्थकारैः तथा उक्तम् अस्ति. अतः अभावज्ञानं अभावत्वज्ञानं विनैव भवति. परन्तु अभावज्ञानं द्विविधं. प्रतियोगिविशिष्टस्य अभावस्य ज्ञानम् एकम् एकञ्च अभावस्य इदंत्वेन ज्ञानम् "इदं तमः" इत्यादि. उभयत्रापि अभावत्वज्ञानसापेक्षता नास्ति.

बलिराम शुक्ल : परन्तु यत्र उच्यते "अभावबुद्धिर्हि विशिष्टवैशिष्ट्यमर्यादां नातिरिच्यते ....

देवनाथाचार्य : स अभावबुद्धि नास्ति. प्रतियोगिविशेषितअभावबुद्धि...

व. ना. झा : अतएव मया उक्तं किम् अहम् इदं वक्तुं शक्नोमि मम अभावज्ञानम् अस्ति. प्रामाणिकं वा इदम्?

तु. ह. दाते : Dr. Sacchidanand Mishtr has written in his paper that

"ध्यातव्य है कि रघुनाथ शिरोमणिने परमाणुका खण्डन करते हुए त्रसरेणुओंमें ही विश्रान्तिकी बात कही है". Scientifically I find it contradictory. Because we are finding paramanu ans all those things. Over and above this there are many contradictions.

व. ना. झा : His view is not accepted by all Naiyayikas.

के. ई. देवनाथन : Rghunatha Shiromani does accept paramanu. But what he says is that trasrenu which is the subtlest thing according to Naiyayoka should be taken as Paramanu. But if you go on perceiving Neutron, Proton etc. then it is acceptable to him also. Unless it is perceived we can stay up to trasarenu.

बलिराम शुक्ल : Our concept is dependent upon the definition of paramanu.

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्या.म.

प्रिय श्रीसच्चिदानन्दजीद्वारा दिया गया "अन्धकारका जैसे अभावत्वेन भान हो सकता है ऐसे ही सामान्यतया भी भान हो सकता है" स्पष्टीकरण मेरे द्वारा प्रस्तुत आपत्तिके परिहारार्थ है. इस विधानके बारेमें मुझे भी कुछ मीमांस्य लगता है. क्योंकि घटके, नामशः, पदार्थत्वेन, भावत्वेन, द्रव्यत्वेन, पृथ्वित्वेन, या तद्व्यक्तित्वेन भी अनेकविध भानोंमें परसामान्य परापरसामान्य अपरसामान्य अथवा तद्व्यक्तिता नियामक बनते हैं, इन विविध सामान्योंके समवायसम्बन्धसे द्रव्यादि त्रिकवृत्ति होनेके कारण ही, अपवादरूप अन्तिमार्थ स्वरूपसम्बन्धको बीचमें न लाया जाये तो. ऐसा परन्तु आलोकाभावरूप अन्धकारके बारेमें शक्य नहीं. अतः या तो स्वरूपसम्बन्धसे अथवा अखण्डोपाधितया ही विविध सामान्योंको अन्धकारवृत्ति मानना पड़ेगा.

इस कल्पनामें क्लेश यह लगता है कि अभावत्वरूप सामान्य धर्मको जब "द्रव्यादिषटकान्योन्याभावत्व"रूप मान लिया गया है, तो तेजोऽभाव या आलोकाभाव का भी सामान्यरूप तो आलोकभिन्न पदार्थ ही होगा. इस तरह सामान्यतया भान भी पुनः अनुयोगि-प्रतियोगिसापेक्ष होने जा रहा है. इस तरह पहले सामान्य अभावत्व और फिर उसके चार विशेष उपभेदोंके अन्तर्गत आलोकप्रागभाव या आलोकात्यन्ताभाव को विशेषरूपतया स्वीकारना पड़ेगा. इसमे प्रथमतो ग्राह्य आलोकान्योन्याभाव ही अन्धकारका भी सामान्यरूप होगा. क्योंकि उसके गृहीत हुवे बिना विशेषरूप आलोकप्रागभाव या आलोकात्यन्ताभाव गृहीत नहीं हो पायेंगे. सो आलोकान्योन्याभावको भी वैसे तो गृहीत होनेमें अनुयोगि-प्रतियोगीकी अपेक्षा रहेगी ही. इस अनुयोगीके, उदाहरणतया गह्वरगुहा सदृश होनेपर, आलोकान्योन्याभावरूपतया अथवा तदनुयोगितया प्रथमतो गृहीत होना अपरिहार्य बन जाता है. अतः उसके पश्चात् ही तदवान्तरभेदतया आलोकप्रागभाव या आलोकात्यन्ताभाव का ग्रहण शक्य हो पायेगा. क्योंकि इन्हें आलोकान्योन्याभावभिन्न होने पर ही आलोकान्योन्याभावान्योन्याभावरूप विशेष अभावतया स्वीकारना शक्य बन पायेगा. इसमें एक ओर आलोकाभावके प्रतियोगीके रूपमें, आलोकाभावके स्थानपर, स्वयं आलोक सिद्ध हो रहा है. दूसरी ओर वह आलोकान्योन्याभावरूपतया या आलोकान्योन्याभावानुयोगीके विशेषणतया ही गृहीत हो पायेगा.

अतः सामान्यतया अथवा विशेषतया उभयथा अभावत्वेन ही गृहीत होता होनेसे, अनुयोगिविशेषणतया गृहीत होना अनिवार्य लगता है.

यदि कहा जाये कि अन्धकारका सामान्यस्वरूप आलोकान्योन्याभावरूप न लेकर "चक्षुर्ग्राह्यं नीलं तमः","चलनादिक्रियावत् तमः" इत्याकारक लेते हैं तो इन नैल्यगुणाधिकरणता या चलनादिकर्माधिकरणता को आलोकाभावरूप अधिष्ठानपर भ्रमारोपित मानना कि वास्तविक? यदि भ्रमारोपित मानते हैं तो अधिष्ठानके सामान्यज्ञानको भ्रमात्मक ज्ञानमें उत्तरभावी मानने जानेपर तो निरधिष्ठानक भ्रमकी स्वीकृतिमें पर्यवसान मानना पड़ेगा. यों भ्रान्तिविषय अधिष्ठानके सामान्यरूपके ज्ञानकी प्राथमिकता निरस्त हो जायेगी, विशेषरूपताज्ञानकी पूर्ववर्तिताके कारण. यदि अन्धकारकी आलोकाभावरूप विशेषरूपताको भी विशेषरूपतया गृहीत होती न मान कर "चक्षुर्ग्राह्यम् इदं किञ्चित्" की तरह सामान्यज्ञानवश प्रथमगृहीत होती मानते हैं, तो गव्हरगुहानुयोगिविशेषणता या आलोकप्रतियोगिकता का ज्ञान अनिवार्य न होकर उत्तरकालवर्तितया उसका अवभासन स्वीकारना पड़ेगा. तो ऐसे भ्रमप्रमातीत ज्ञान होनेके कारण, रूप एवं कर्म के विकल्पोंका इसे अवगाही न माना जा सकेगा. अतः वह तो अन्धकारके स्वरूपकी अव्यपदेश्यतामें ही पर्यवसित हो जायेगा. उसे व्यपदेश्य बनानेके प्रयासमें जुटनेपर तो अधिष्ठानरूप आलोकाभावके प्रत्यक्षकी प्राथमिकता तथा भ्रमारोपगोचरीभूत नैल्यादिगुणाधिकरणता एवं कर्माधिकरणता को तमस्‌के अवभासनमें उत्तरकालवर्ती माने बिना कोई गति रह नहीं जाती.

श्रीमिश्रजीने अन्धकारवादकारका तर्क "कोशमें तेजोऽभावको अन्धकारका पर्याय नहीं माना गया है" के निरसनार्थ जो विधान किया, उस बारेमें मुझे यह कहना है कि कोश पदविधायक शास्त्र नहीं होता प्रत्युत लोकसिद्ध पदोंका संग्राहक शास्त्र होता है. अतः कोशमें अन्धकारके विभिन्न नामोंके अन्तर्गत 'तेजोऽभाव' पर्यायका न होना, सर्वलोकसाधारण अनुभव तथा व्यवहार के अभावमें प्रमाण माना जाना चाहिये. कोशनिर्माणकालमें लोकप्रचलित नामोंके संग्रहणके बाद अप्रचलित हो जानेवाले भी बहुत सारे पद विद्वानोंकी जानकारीमें होते हैं. वे साधारण बोलचालकी भाषामें अप्रचलित भी हो सकते है. अतएव तो क्लिष्टव्याख्याके उपहासार्थ कहा जाता है "'मघवा' मूल 'बिडोजा' टीका" अतः प्रिय सुहृद् सच्चिदानन्दजी का यह कथन कि "यह आवश्यक नहीं कि

समस्त पर्यायोंका किसी कोशमें पाठ हो'' कुछ विचारणीय लगता है. क्योंकि कोशमें लोकप्रचलित नामोंसे कुछ अधिक ही नाम उपलब्ध होते हैं. अतः कोशमें उपलब्ध न होना लोकमें अप्रसिद्ध होनेका प्रबल लिंग माना जाना चाहिये. वैसे मिश्रजीका यह कथन तो सर्वथा संगत ही है कि कोशकार विवादास्पद पदोंको कोशमें स्थान नहीं देते. अतः ऐसी उस कोशाग्राह्यताके प्रयोजक विवादके सन्दर्भमें गो.पुरुषोत्तमचरणका यह विधान कि कोशमें 'तेजोऽभाव' पद अन्धकारके पर्यायतया उपलब्ध नहीं होता, तेजोऽभावके लोकमें सर्वसाधारण पदप्रयोग तथा व्यवहारमें मूलतः अप्रसिद्ध होनेके आक्षेपमें पर्यवसित होता स्वीकारना चाहिये.

यदि ''विनैव आलोकं नीलं तमः पश्यामि'', ''गाढो अन्धकारः इह आस्ते न प्रकाशलेशोऽपि'' सदृश लोकव्यपदेश्य स्वरूपको अन्धकारके अभावरूप होनेमें निकष मानना जात्युत्तर न हो तो लोकप्रयोगप्रतिनिधिरूप कोशमें 'आलोकाभाव'रूप अन्धकारके पर्यायवाची पदोंका उपलब्ध न होना अकस्मात् जात्युत्तर कैसे सिद्ध हो जायेगा.

अन्धकार तेजःसंसर्गाभावरूप है, यह श्रीसच्चिदानन्दजीका स्पष्टीकरण न्यायशास्त्रीय धारणाके अनुसार ठीक ही है, अभावको स्वतन्त्र पदार्थ माना गया होनेके कारण. वाल्लभ वेदान्त, परन्तु, वस्तुके विविध अभावोंको तिरोभावतया स्वीकारना चाहता है. जैसा कि ''अभावस्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति (सुबो.२।९।३३) विधानमें प्रतिपादित हुआ है. अतः तेजस्तिरोभावरूप अभावात्मकता तो वाल्लभवेदान्तमें मान्य होगी ही. न्यायमतमें, किन्तु, भावपदार्थसे भिन्न अभावपदार्थतया अन्धकार मान्य होनेसे इस विषयमें न्याय और वाल्लभ मतोंके बीच विवाद है.

यह विवाद वस्तुतः अन्धकारकी असत्ताके बारेमें न होकर असत्पदार्थके बारेमें ही है : १.अभावचतुष्टयी और २.आत्यन्तिक असत् या तुच्छ. न्यायमत असत्प्रतियोगिक अभावको पदार्थ न मान कर तुच्छ मानता है और सत्प्रतियोगिक अभाव को तुच्छ न मान कर अभावरूप पदार्थ मानता है. वाल्लभमत गीताके आधार पर सत्का अभाव स्वीकार नहीं करता और असत्का किसी भी देशकालमें स्वरूपतः भाव स्वीकार नहीं करता. फिरभी व्यामोहिका माया द्वारा असद्वस्तुका सत्त्वेन आभासन नहीं हो सकता, ऐसे भी नहीं मानता. अतएव वाल्लभ वेदान्त चक्षुर्ग्राह्य अन्धकारको अभाव पदार्थ न मान कर

अर्थाद् असद् अपदार्थ मानते हुवेभी व्यामोहिका माया द्वारा सत्त्वेन या पदार्थत्वेन उसका चाक्षुष आभासन स्वीकारता है. इस मायिक चाक्षुष अवभासनके अधिष्ठान या अनुयोगी तथा प्रतियोगी के भी, अन्धकारमिथ्याभासनानुकूल, मिथ्याभास स्वीकारनेमें वाल्लभवेदान्तको आपत्ति नहीं होगी. उदाहरणतया स्वप्नमें किसी व्यक्तिके अयथार्थ अवभासनमें मिथ्यावभासनानुकूल देश-कालका भी मिथ्यावभासन बहुधा होता ही है. जैसे शुक्तिमें रजत या रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति होनेपर राजत चाकचक्यके अथवा सर्पके हिलने-डुलनेकी क्रियाके समवायितया भी सर्पप्रतीति होती ही है.

इस अंशमें अन्धकारावभासनकी, वाल्लभमताभिप्रेत अन्यख्यातिके साथ सदृशता ही केवल है, वैसे अन्धकारावभासन वस्तुतः अन्यख्याति न हो कर असद्वस्तुकी व्यामोहिका मायाद्वारा सत्त्वेन ख्याति या आभासन है.

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके अनुसार व्यामोहिका मायाके दो कार्य स्वीकारे गये हैं : १.सत्की अप्रतीति और २.असत्की सत्त्वेन अन्यथाप्रतीति. ये अप्रतीति और अन्यथाप्रतीति अन्यख्यातिकी कारणसामग्री बनती हैं. दोनोंमें से कोई भी इतरेतरव्यतिरिक्ततया या इतरेतरासहकारितया अन्यख्यातिकी जनक नहीं बन पाती हैं. इतरेतरसहकारी बननेपर ही अन्यख्यातिरूपा भ्रान्तिकी जनक बन पाती हैं. अतएव अन्धकारका आभासन जहां होता है, वहां तेजस्तिरोभावके यथार्थज्ञानके रहनेपर भी तथाकथित भ्रम निवृत्त न हो कर अधिक परिपुष्ट हो जाता है, अमायिक सद्वस्तुके अवभासनवत्. यही तो व्यामोहिका माया द्वारा किया गया चाक्षुषसंवेदनोपरक्त बुद्धिका व्यामोहन है. इसे शब्दान्तरमें ''इस कारण अन्धकारविषयिणी प्रतीति को भ्रान्ति मानना समुचित है'' ऐसे शशधरके मतकी व्याख्यामें प्रिय सच्चिदानन्दजीने भी स्वीकारा ही है.

रही बात मायाके न्यायमतमें अमान्य या मान्य होनेकी तो इस विषयमें मैं यह कहना चाहूंगा कि ''इति एषा सहकारिशक्तिः असमा माया दुरुन्नीतितो मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतो 'अविद्या' इति यस्य उदिता'' (न्या.कु.१।२०) वचनमें शक्तिके अतिरिक्त पदार्थ होनेके खण्डनके बावजूद जो शक्तिको स्वीकृति प्रदान की गई है, वह अन्य नैयायिकोंको अभिप्रेत हो या न हो, पर वाल्लभ वेदान्तको तो सर्वथा अभिप्रेत है ही. अतः ब्रह्माद्वैतवादी होनेके कारण नृचक्षुर्गोचर अन्धकारकी प्रतीतिमें भी ब्रह्मदर्शनकी प्रक्रियाको

प्रस्तुत कर सैद्धान्तिक सुसंगतिके प्रयोजनवश मायाको स्वीकारना श्रीउदयनाचार्यकी तरह वाल्लभ वेदान्तको भी आवश्यक लगता है.

न्यायशास्त्रके अल्पतम अवगाहन द्वारा जो मुझे प्रतीत होता है, वह यह कि नैयायिक मनीषी सात पदार्थोंसे अतिरिक्त 'शक्ति'नामक पृथक पदार्थ मानते नहीं है. इसका, परन्तु, ऐसा अर्थ तो संभव नहीं लगता कि इन सप्तविध पदार्थोंके भीतर स्वस्वक्रिया या स्वस्वकार्य उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य न हो; अथवा, स्वस्वगुणधर्मो या तद्विरोधितया पदार्थोंमें प्रतिबन्ध उत्पन्न करनेमें ये पदार्थ समर्थ ही न हों. जिस किसी कार्यकी समवायसम्बन्धसे किसी द्रव्य गुण या कर्म में अनुभूति होती हैं, उन्हें उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य द्रव्यादि सात पदार्थोंमें इन्कारी नहीं जा सकती. क्योंकी ''एतत्पद्जन्यबोधविषयो अयम् अर्थः इत्याकारिका ईश्वरेच्छा'' को भी पदशक्ति तो माना ही गया है. इसे पदजन्य पदार्थबोधमात्रमें केवल परिसीमित न किया जाय तो मेरा अभिप्राय स्फुट होगा.

ऐसी कुछ विप्रतिपत्तियां मेरे मनमें वाल्लभवेदान्तके आराध्यके नामसे अभिहित होते प्रिय सुहृत् 'सच्चिदानन्द'मिश्रजीके विधानके बारेमें न्यायशास्त्रविद्के आराधनार्थ ही उभर रही हैं. ये न्यायसिद्धान्तके अधिक विश्लेषणरूप फलकी कामनावश स्फुरित होती हैं. यद्यपि मेरा न्यायशास्त्रका अध्ययन भलीभांति नहीं हो पाया. अतः मुझे ज्ञात नहीं है कि ऐसी आशंका या अनुपपत्ति न्यायशास्त्रके किन्हीं आकरग्रन्थोंमें पूर्वसमाहित ही हैं या नहीं. अथवा तो आकरग्रन्थोंमें किसी प्रमुख मुद्देके स्पष्ट कर दिये जानेके कारण ऐसी आशंका या अनुपपत्ति न्यायमतीय अवधारणाके विरोधमें प्रसक्त ही न हो पाती हों, यह भी सम्भव हो सकता है. इस विषयमें तो मिश्रजी सदृश न्यायके परिनिष्ठित मनीषी ही प्रमाण हो सकते हैं.इस चिन्तनप्रसंगके प्रयोजकतया, किन्तु, श्रीसच्चिदानन्दजीका हृदयसे आभार मानते हुए ही इस संगोष्ठ्युत्तरलेखनका उपसंहार करना चाहुंगा.

Concept of Tamas according to Jainism

Dr. B. K. Dalai

The concept of darkness with regards to its nature and ontological status is controversial in Indian Philosophical systems. In spite of its limited literature it has been very fascinating for the scholars of past and even of present time.

At the outset let me make it clear that the treatment of darkness has not received considerable attention even by ancient writers. And the reason for such indifference is not far to seek. Firstly, for most of the systems of Indian philosophy, this is a negative entity in the form of absence of light, and hence does not enjoy or attract any special importance.

On the other hand those who propose Tamas to be a positive entity in the form of a substance or a quality have not developed it to that intent that it form a strong basis or theory to be accepted. Most of the primary tents of Indian philosophy are almost silent and it is only in later supplementary texts that we meet with some detail discussion.

coming to modern times no considerable attempt has been made so far by any modern scholar to bring out the ...... analysis revealing its nature, in clear terms based on textual interpretation.

To draw the attention of this august gathering to some researches on this interesting topic.

1. A. B. Kieth : The Karmamimamsa. pp.53

2. Athaleye & Bodes : Tarkasamgraha pp. 78-79
3. J. N. Sinha : HIP Vol.I. pp. 812 ff
4. E. Frauwallner : HIP.. Vol. II, pp. 21, 188
5. Kuppuswamy Shastri : The premier of Indian Logic. pp 8-9
6. Prof. Vvi : The Vaisheshik Philosophy p. 29
7. Prema Avasti : Bhattamimamsa mate tamh.
8. Shshiprabh : SA10, 1985. p.543. Tamah ka dravyatva vishleshan
8. V. Vradachari : The concept of tamas in the school of Indian Philosophy, Umeșh Mishra Fel. Vol. 1967 pp. 74-86
10. Dalai Bata Kishore : Andhakarvada, a critical analysis, Nyaysiddhant xipa 2002.

In the present paper, we are concern with the position of Jains on Tamas. Unlike other systems like Nyay, Vaisheshik, Mimamsa, Vedant the Jaina have not treated it adequately. As a matter of fact, the literature devoted to the imposition of Jain concept of Tamas is very little. Only in for case, there to be very specific, the concept of darkness is discussed.

I reproduce the text here :

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः
शब्दबन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संघातभेद-तमश्छाया-तपोद्योतवन्तश्च
(तत्त्वार्थसूत्र)

तमो दृष्टिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि. छाया प्रकाशावरणनिमित्ता. सा द्वेधा, वर्णादिविकारपरिणता प्रतिबिम्बमात्रात्मिका च इति.
(स्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद राजवार्तिक, द्रव्यसंग्रह)

पूर्वोपात्ताशुभकर्मोदयात् ताम्यति आत्मा तम्यते अनेन, तमनमात्रं वा तमः.
(राजवार्तिक)

Tamas is treated as the product of 'pudgal', a type of ajiva

dravya. At this point it seems reasonable to talk little more elaborately on the concept of dravya as discussed by the Jains, since darkness comes under its purview. The fundamental kinds of reality of Jains are two : 'Jiva' and 'ajiva'. The construction of Jiva demonstrates that that which is not Jiva. Now upayoga or cognition constitutes a definition of Jiva, so that the verity devoid of upayoga is ajiva; and from this it automatically follows that absence of upayoga constitutes a definition of ajiva.

Ajiva is a positive verity standing opposed to Jiva; it is not merely of the form of negation.

When Dharma etc. the four verities of an Ajiva type , are called astikaya the idea is that they are not of the form of a single unit or a single component but of a combination or collection. Dharma, adharma and akasa, these three are of the form of a collection of units, while pudgala is either of the form of a component of the form of a collection of components.

Kala or time has not been counted among the types of the fundamental verity ajiva. That is because there obtains a difference of opinion as to whether kala is or is not a fundamental verity. Even those authorities who treat kala as a fundamental verity it to be of the form of loose units not of the form of a collection of units; hence according to them too it is not proper to enumerate kala along with the astikayas. As for those authorities who do not at all treat kala as a fundamental verity, there is according to them no question of enumerating kala among the types of a fundamental verity.

The two verities akasa and pudgalas are admitted by the systems like Vaisesika, Nyaya, Sankhya etc.; but the remaining

two verities dharmastikaya and adharmastikaya are admitted by no system other then Jaina. The same verity which is called akasastikaya by the Jaina system is called akasa by the non Jaina ones. The designation pudgalastikay is currunt only in the Jaina theoritical treatises; as for the non-jaina theoritical treatises, in them the verity standing in place of pudgala is known by the names like pradhana, prakriti, paramanu etc.

According to Jaina viewpoint this universe is not exclusively of the form of modification or change but in spite of being subject to change it is beginningless and endless. According to the Jaina viewpoint there are in this universe just five fundamental substances of the form of astikaya. Substances are nitya or eternal, avasthita or immutable and arupin or devoid of form.

The pudgals are possessed of rupa that is, are murta or tangible. Of these five substances those upto akasa are one each and they are devoid of kriya or activity.

All the five substances dharmastikaya etc. are eternal that is, they never give up the general and the specific nature that is theirs. They are also immutable, for there is never a reduction or increment in their number. However, so far as being devoid of rupa is concerned, that characterizes just four substances viz. dharmastikaya, a dharmastikaya, akasastikaya and jivastikaya. The idea is that being eternal and being immutable, these two similarities characterize all the five substances, but being devoid of rupa this one similarity charactorizes just four substances that remain there after excluding pudgal.

Being devoid of rupa does not here mean being devoid of

svarupa; for even the verities a dharmastikaya etc. must possess some svarupa, that is, nature or other. For had they been devoid of a svarupa they would have turned out to be nonentities like the horn of a horse. When mention is here made of arupitva or the character of being devoid of rupa what is denied is murti. So rupa here means murti. And murti means either 'the emergent configuration of colour etc.' or 'the collective of the properties colour'.

The properties colour, taste etc. that are capable of being grasped sense-organs they verily are called murti. The properties of pudgala are capable of being grasped through sense-organs, hence pudgalas are alone murta or rupin. No other substance other then pudgala is murta because none of them can be grasped through sense-organs. Hence possession of rupa constitutes the dissimilarity that obtains between pudgala on the four verities dharmastikaya etc. on the other.

Although a number of subtle substances like atoms etc. and so also their properties are, on account of being suprasensuous, incapable of being grasped through sense-organs, yet under specific transformation they do develop the capacity to be grasped through sense-organs. That is why even if supersensuous they are doubtless rupin or murta. As for the four substances dharmastikaya etc. that are called arupin they are utterly devoid of the capacity to be grapsed through sense-organs. This is what distinguishes the suprasensuous pudgal from the suprasensuous substances like dharmastikaya etc.

By declaring something to be devoid of kriya what is here denied to it is kriya of the form of motion, not kriya as such. So according to the Jaina viewpoint the phrase 'substance devoid of kriya'

simply means substance deboide of motion. Certainly in the case of the substances dharmastikaya etc. that are devoid of motion the Jaina system does posit kriya of the form of transformation into something similar to oneself.

Now what about the numbers of pradesas in case of there substances.

In the case of dharma and adharma the pradesas are asankhyata in numbers.

In the case of one particular Jiva the pradesas are asankhyata in numbers.

In the case of akasa the pradesas are ananta in number.

In the case of the substance pudgala the pradesas are sankhyata or in number.

In the case of anu or atom there are no pradesas.

When earlier the four ajivas dharma, adharma erc., on the one hand and jiva on the other these five substances were called kaya or body then it was indicated that these five substances are of the form of astikaya or a collection of pradesas. However, it was not mentioned there as to what is the particular number of pradesas to be found in each case.

In the case of the two substances dharmastikaya and adharmastikaya the number of pradesas is asankhyata each. By pradesa is understood a subtle constituent part in whose case it is not possible even to posit through intellect a further constituent part. Dharma and adharma, these two substances are of the form of one instance each, and in their case the number of pradesas or partless parts is asnkhyata each. This amounts to saying that these two

substances are of the form of such an impartite aggregate in whose case an asankhyata number of indivisible subtle parts can only be posited through intellect but cannot be taken out of the objectively existing aggregate concerned.

Of all the substance akasa constitute the biggest aggregate, for in its case the number of pradesas is ananta.

The aggregates pertaining to the substance pudgala, unlike the other four substances dharma, adharma etc., are not of a definete form; for one pudgala-aggregate might be mane up of samkhyata pradesas, another made up of asnkhyata, a third made up of ananta, a fourth made up of anantananta.

There is one difference between pudgala and the other substances viz. that the pradesas of pudgala can be separated from the aggregate concerned while the pradesas of the other four substances cannot be so separated. For the four substances other then pudgala are non-murta and it is the nature of a non-murta entity that it is not broken into piece. As for the substance pudgala it is murta and a murta entity can well be broken into pieces; for the murta substances are found to possess the capability to join together as a result of association and the capacity to join together as a result of association and the capacity to separate from one another as a result of dissociation. It is on account of this difference that all parts, whether big or small, of a pudgala-aggregate are called avayava or component. By avayava is meant a part that can be separated off.

Though being pidgala an atom too is murta, yet it can not be further divided into parts; for like a pradesa of akasa it is the smallest part of puegala. The magnitude of an atom is the smallest possible

magnitude and hence it too belongs to the category indivisible part.

As can be seen, the Jains considered tamas as a possitive entity. It is one of the qualities of aggregate. This aggregate is same as the 'whole' of the Nyay-Vaisesik systems. In the Bhashya of Tattvarthadhiga sutra it is stated that darkness is the effect of atoms.

तमस्‌-च्छाया-आतप-उद्योतश्च परिणामजा:

By virtue of their natural power the atoms transfer themselves into darkness.

It is interesting to note that grammarian Bhartrhari hold similar view.

अणव: सर्वशक्तित्वात्‌ भेदसंसर्गवृत्तय:
छायातपतम:राद्धभावेन परिणामिन: (v.p. 1.110)

The atoms which unite and separate transforms themselves into shadows, light and darkness and also into speech on account of their possessing all capacities to be transformed into all things.

Pujyapad in his Sarvartha Siddhi held darkness to be the further obstructing our visual perception and is a product of pudgal.

एते पुद्गला विकार: (सर्वा.सू. ५-२४)

A pudgala is considered to be one of the five ajiva dravyas. It possesses colour, touch, taste and smell, which we have already stated.

Another interesting thing to note about the Jains is that they treated 'tamas' and 'cchaya' to be two different entities, while these two are identical in Nyay-Vaisesika etc.

According to Jains 'cchaya' is the form of an object reflected on another substance.

It is divided into two kind such as one in the form of an envelope of light and other is in the form of image.

This is in short the position of Jains on the concept of darkness

- that it is a paryaya of pudgala dravya
- an effect of atoms in the sense that atoms transfor themselves into darkness.
- It is a product of pudgala which possesses colour, taste, touch and smell.
- It stands opposed to light and obstruct vision.

Few important definition of Tamas.

आलोकाभावएव तमः. आलोकाभावदर्शनम्‌ च इति. (NKD. p 57)
आलोकज्ञानाभावएव तमः(SDS. p 108)
अपवारितालोकं केवलं भूभागादिकमेव छाया. (BTR. p 21)
आरोपितनीलारूपोऽभावोऽन्धकारः(SP. p 51)
अस्पर्शवत्त्वे सति रूपवत्‌ तमः. तच्च नेत्रेन्द्रियमात्रग्राह्यम्‌ अलोकाभावप्रकाश्यं कृष्णरूपम्‌.(MM. p 161)
अवश्यकतेजोभावः(Muktavali on BP, Ka 3)
द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्‌ अभावः तमः(VS. 5.2.19)
नीलरूपारोपविशिष्ट-तेजसंसर्गाभावः(NSD. p 10)
निराकृततेजसम्बन्धिनि द्रव्य-गुण-कर्माणि तमः शब्देन अभिधीयते.
(N...p 346)

प्रौढप्रकाशक-तेजसामान्याभावः तमः(TD. p 4)
प्रौढप्रकाशकयावत् तेजसंसर्गाभावः(NSD. p 10)
रूपविशेष्योऽयं यत्रावर्णकम् अस्ति तत्रारोप्य गृह्यते. (SSV. p 20)
स्वपरप्रकाशकतेजसामान्याभावः(NKL. p 320)
तमोदर्शनन्तु भूछायादर्शनम(VP. p 54)[2]
तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणम्. एते शब्दादयः पुद्गलविकाराः
तस्माद् रूपविशेष्योऽयम् अत्यन्तं तेजोभावे सति सर्वतः समारोपितः.
(NKL. p 24)
उद्भूतरूपवद् यावत् तेजसंसर्गाभावः (Upaskara vs 5.2.20 p 326)
यदा तु नियतदेशाधिकरणो भासा..वाः तदा तद् देशसमारोपिते नीलि.. छायते अवगमः.(NKL. p 24)
यत्र तु सर्वतः तेषां (तेजद्रव्यानाम्) असंयोगः स महान् अन्धकारः (PP. p 322)

चर्चा

Concept of Tamas according to Jainism

डॉ. बटकृष्ण दलाई

के. ई. देवनाथन : What is paryaya?

ब. कृ. दलाई : Particular thing takes another form. E.g. gold, you can made chain, bangle etc. These are the paryayas.

के. ई. देवनाथन : Vikara is Paryaya?

ब. कृ. दलाई : You can say that. गुणपर्यायवत् द्रव्यम्. Very definition of Dravya is on the basis of paryaya itself. You can not change word 'Vikara' for paryaya. In wider sense you can say so. All paryayas are definitely paryayas but its reverse is not true.

बलिराम शुक्ल : यत्र परिवर्तनं भवति तदेव द्रव्यम्. अतएव गुणपर्यायवत् द्रव्यम् इति ...

पारसनाथ द्विवेदी : प्रकाश आवरण तम कैसे हो सकता है? प्रकाशको तम कैसे आवरण करेगा?

ब. कृ. दलाई : जैनानां मते आत्मा प्रकाशस्वरूपम् अस्ति, ज्ञानस्वरूपम् अस्ति. तथापि कदाचित् कारणवशात् तत्र आवरणं भवति. यदा आवरणस्य पुनः निराकरणं भवति ...

पारसनाथ द्विवेदी : आलोकाभावे यद् तिमिरं दृश्यते तस्य चर्चा न. तमो गुणस्य चर्चा क्रियते. देखा जाता है कि प्रकाश होता है तब तम भागता है. तम प्रकाशका आवरण कैसे कर लेगा?

ब. कृ. दलाई : वो रिलेटिव् है.

पारसनाथ द्विवेदी : पंक्ति देखीये. छायाप्रकाशावरणनिमित्ता. प्रकाशस्य यद् आवरणं तन्निमित्ता इति.

ब. कृ. दलाई : वो सापेक्ष है. हम नहीं कह सकते हैं कि

बलिराम शुक्ल : प्रकाशस्य आवरणं छायया भवति. छायापि अतिरिक्तः पदार्थः.

पारसनाथ द्विवेदी : प्रकाशस्य यद् आवरणं तदेव निमित्तं यस्या सा. पुद्गल किसको कहते है?

बलिराम शुक्ल : पूरयति गलयति इति पुद्गलः.

गो. श्या. म. : सौर प्रकाश चन्द्रमाके ऊपर पड़ता है और आधे हिस्सेमें पृथ्विकी छाया पड़ती है. अष्टमीके दिन वो दोनों दीखते हैं. प्रकाश भी दीखता है और छाया भी दीखती है. जैसे ग्रहणमें होता है.

तु. ह. दाते : there is scientific evidence that darkness is surrounding very bright galaxy. And it is observed. So what discussion is going on, scientific evidence is there.

पारसनाथ द्विवेदी : यत्र प्रकाशः तत्र आवरणं नास्ति. अन्धकारका आश्रय अलग हो गया, प्रकाशका आश्रय अलग हो गया. आवरणावरणीभावः समानाधिकरणं न भवति. अन्धकारके बीचमें तो प्रकाश है ही, कौन नहीं जानता! उसका अर्थ है कि प्रकाशका जो आवरण वही है निमित्त जिसका. प्रकाशस्य आवरणं यत्किञ्चिद् भवेत् तदेव निमित्तं तमसः.

विशिष्टाद्वैतिसम्मतम् अन्धकारस्वरूपम्

डॉ. के. ई. देवनाथन

विशिष्टाद्वैतिनः तमः द्रव्यं पार्थिवं च इति प्रतिपादयन्ति. तमः द्रव्यं पार्थिवं च नीलरूपप्रकारता-निरूपित-भ्रमभिन्न-ज्ञानीय-विशेष्यताश्रयत्वात्, नीलघटवत् इति अनुमानेन तस्य द्रव्यत्वं पार्थिवत्वं च सिद्ध्यति. एवम् अबाधितचलन-प्रकारक-प्रतीतिविषयत्वात् तस्य द्रव्यत्वं साधयितुं शक्यम्. न च उक्तानुमाने स्वरूपासिद्धिः दोषः, यत्र-यत्र आलोकाभावः तत्र-तत्र चाक्षुषप्रमाविषयत्वाभावः इति व्याप्तेः सत्त्वेन आलोकाभावे सति जायमानस्य तमोग्रहणस्य भ्रमभिन्नत्वाभावात् इति वाच्यम्. आलोकाभावे चाक्षुषप्रमां प्रति नियामकत्वाभावात्. आलोकात्मके तेजसि जायमानायाः चाक्षुषप्रमायाः आलोकसंयोगनिरपेक्षत्वस्य अनुभवात् उक्तव्याप्तेः असिद्धेः. नच यत्र-यत्र तेजोभिन्नत्वे सति आलोकाभावः तत्र-तत्र चाक्षुषप्रमाभावः इत्येव नियमः इति उक्तव्याप्तेः न व्यभिचारः इति अनुमाने स्वरूपासिद्धिः भवत्येव इति वाच्यम्, आलोकाभावरूपस्य तमसो अङ्गीकारपक्षे आलोकाभावे आलोकसंयोगाभावेऽपि "इदं तमः" इत्यादिचाक्षुषप्रमाविषयत्वस्य स्वीकारात्, उक्तव्याप्तेः व्यभिचरितत्वात्.

ननु तमसो न द्रव्यरूपत्वं सम्भवति, तथा सति इतरसामग्री-साकल्यलक्षण योग्यतायाः असम्भवेन चाक्षुषानुपपत्तिप्रसङ्गात्. योग्यता हि द्विविधा स्वरूपयोग्यता, सहकारियोग्यता च. स्वरूपयोग्यता चाक्षुषस्थले गुरुत्वाद्यतिरिक्तत्वम्. सहकारियोग्यता इतरसामग्रीसाकल्यम्. अन्धकारस्थ-घटादिप्रत्यक्षवारणाय द्रव्यवृत्तिविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषं प्रति आलोकः कारणम् इति कार्यकारणभावः स्वीकार्यः. एवं च आलोकरूप सहकारिणो अभावात् द्रव्यस्य तमसः चाक्षुषं न स्यात्. आलोकाभावः तम इतिः पक्षे न इयम् अनुपपत्तिः इति चेत् न.

उक्तरीत्या द्रव्यचाक्षुषं प्रति संयोगेन आलोकस्य कारणत्वम् असिद्धम्

इति तमसो द्रव्यत्वे बाधकाभावात्. न च चक्षुरिन्द्रियस्य घटादिद्रव्यचाक्षुषे आलोकसापेक्षत्वस्य दर्शनात् द्रव्यत्वव्यापकं आलोकप्रयोज्यचाक्षुष-विषयत्वमिति व्यापकस्य आलोकप्रयोज्य-चाक्षुषविषयत्वस्य अभावे व्याप्यस्य द्रव्यत्वस्य अभावः सेत्स्यति इति वाच्यम्. न हि यत् क्वचित् यदपेक्षं तत् सर्वदा तदपेक्षम् इति नियमः. स्वेदादिशैत्यग्रहे वायुसापेक्षस्य स्पर्शस्य औष्ण्यग्रहे तदभावसापेक्षत्वात्. अतः कथितस्य व्याप्यव्यापकभावस्यैव असिद्ध्या न व्यापकाभावप्रयुक्ततया द्रव्यत्वाभावसिद्धिः.

पक्षत्रयस्य परिशीलनम्

१.आलोकाभावः तमः इति वैशेषिकाः. ''द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात् अभावः तमः'' इति वैशेषिकसूत्रम्. अयं पक्षो न उचितः. तमसो भावत्वेन अबाधितप्रतीतेः. 'तमः'पदवाच्यम् आलोकाभावाभिन्नं नञुल्लेखसहितत्वेन अप्रतीयमानत्वात्, घटवत् इति अनुमानम् अत्र विवक्षितम्. न च 'प्रमेयम्'इति प्रमेयत्वेन आलोकाभावविषयक-प्रतीतिविशेष्ये आलोका-भावभेदस्य साध्यस्य अभावात् व्यभिचारः इति वाच्यं, प्रतियोगिता-सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारतानिरूपक-प्रतीतिविशेष्यत्वाभावस्य हेतुत्वेन विवक्षणात्. आलोकाभावे प्रमेयत्वेन ज्ञायमानेऽपि 'आलोकाभावः' इति प्रतीतिविशेष्यत्वस्यैव सत्त्वेन तदभावाभावात् प्रकारतायां भाववृत्तित्वस्य विशेषात् ''इह तमोऽभावो न'' इति प्रतीतिविषयत्वस्य पक्षे सत्त्वेन स्वरूपासिद्धिशङ्का न अवतरति.

२.रूपप्रतीत्यभावः तमः इति द्वितीयपक्षः. तत्पक्षे ''नीलं तमः'' इति नीलरूपाश्रयतया तमोविषयकस्य लौकिकप्रत्ययस्य विरोधः स्यात्. न च रूपप्रमाभावोपाधिका नैल्यभ्रान्तिरेव स प्रत्ययः इति वाच्यम्, ''इदं तमः'' इति नीलरूपाश्रयतया तमोविषयकस्य लौकिकप्रत्ययस्य विरोधः स्यात्. न च रूपप्रमाभावोपाधिका नैल्यभ्रान्तिरेव स प्रत्ययः इति वाच्यम्. ''इदं तमः'' इति चाक्षुषप्रत्ययविरोधप्रसङ्गात्. पिशाचस्येव प्रमायाअपि अचाक्षुषत्वात् प्रमाभावस्य चाक्षुषत्वानुपपत्तेः, अबाधितनैल्यप्रतीतेः भ्रान्तित्वानुपपत्तेश्च.

३.नीलरूपमेव तमः इति तृतीयः पक्षः. तत्पक्षे ''नीलं तमः'' इति अबाधितप्रतीतेः नीलरूपाश्रयतया तमोविषयिण्या अनुपपत्तिः स्यात्. एवं च उपर्युक्तरीत्या पक्षत्रयमपि न समीचीनम् इति.

न च प्रलयावसान-विनाशादिः नञुल्लेखरहितत्वेन प्रतीयमानोऽपि अभावः इत्येव स्वीक्रियते तथा तमोऽपि भवतु इति वाच्यम्. प्रलयादयस्तु कस्यचिदित्येव सर्वानुभवविषयाः तमस्तु न तथा इति भेदात्.

न च तमसः द्रव्यत्वे पार्थिवत्वे च कथं तद्गतस्य स्पर्शस्य अनुपलम्भः उद्भूतरूपवत्पार्थिवस्य उद्भूतस्पर्शवत्त्वनियमस्य घटादिषु दृष्टेः इति वाच्यम्, इन्द्रनीलालोकादीनां उद्भूतनीलरूपवत्वेन पार्थिवत्वस्य सिद्धत्वात्, तत्र उद्भूतस्पर्शस्य अभावात् उक्तनियमासिद्धेः. एवं च तमसि अनुद्भूतस्पर्शएव स्वीकार्यः.

तमसः द्रव्यत्वादौ श्रुत्यादिप्रमाणम्

अन्तर्यामिब्राह्मणे तेजसा सह तमसोऽपि भगवच्छशरीरत्वम् अभिहितम्. न हि शरीरत्वं द्रव्यभिन्नस्य भवति. ''यस्य तमः शरीरम्'' इति श्रुतेः. यद्यपि श्रीभाष्यकारैः तमसः द्रव्यत्वादिकं कण्ठतो न उक्तम्, अथापि एतच्छ्रुतिव्याख्याने ''एवम् अम्बु-अग्नि-अन्तरिक्ष-वाय्वादित्य-दिक्-चन्द्र-तारकाकाश-तमस्तेजस्सु'' इति ग्रन्थेन श्रुतिसिद्ध-भगवच्छरीराणां निर्देशात् भाष्यकाराणां तमसो द्रव्यत्वम् अभिमतम् इति ज्ञायते. किञ्च भावरूपाज्ञानानुमाननिराकरणे दृष्टान्ते घटकीभूतस्य अन्धकारस्य भावत्वं पूर्वपक्ष्युक्तं भाष्यकृद्भिः न खण्डितम्. अतो भावत्वं तमसो अभिमतम् इति ज्ञायते. परमसिद्धान्ते तु सर्वस्य अभावस्य भावान्तरत्वात् तमसो अभावत्वं नास्ति इति अन्यद् एतत्.

सुबालोपनिषदि ''तमः परे देवे एकी भवति'' इति तमसो यः लयः उक्तः तत्र 'तमः'शब्दः मूलप्रकृतिपरः ''नाहो न रात्रिः न नभः न भूमिर् नासीत् तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्, श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यम् एकं प्राधानिकं ब्रह्म

पुमांस्तदासीत्'' इति स्मृतिः. आलोकाभावपक्षे तमोज्योतिषोः द्वयोः लयाभिधानं न सङ्गच्छेत. भावरूपत्वे तु न विरोधः, उष्णत्व-शीतत्वयोः परस्परासमानाधिकरणयोरपि अभावद्वयस्य पृथिव्यां स्वीकारात्.

अत्र पक्षान्तरम्

षडर्थसंक्षेपे ग्रन्थे एवं निरूपितं यत् तमो न द्रव्यम्, निमीलनेऽपि गृह्यमाणत्वात्. नच निमीलनदशायां गोलकान्तर्वर्तितमो द्रव्यमेव गृह्यते इति वाच्यम्, अन्धस्य तमोग्रहणाभावप्रसङ्गात्. अतः तमसो बाह्यद्रव्यत्वे चक्षुः संयोगाभावे ग्रहणं न स्यात्, गोलकान्तवर्ति तमो ग्रहणं निमीलनदशायां भवति इति वादः, अन्धस्य तमोग्रहणाभावप्रसङ्गेन न युक्तः इति तमो न द्रव्यमेव इति.

इदं मतं श्रीवेदान्तदोशिका श्रुतिस्मृतिभाष्यादिविरोधात् न उपादेयम् इति वदन्ति. षडर्थसंक्षेपेऽपि परमतानुवादः एवं कृतः स्याद् इति तदभिप्रायः. निमीलनेऽपि पित्तोपलम्भस्येव आन्तरसन्तमसोपलम्भस्य सम्भवात् तमसो द्रव्यत्वे न हानिः. एवं च इन्द्रियसन्निकर्षस्य न अनुपपत्तिः, इन्द्रियसन्निकर्षोपलब्धि-व्यवस्थाप्यत्वात्. न च अन्धस्य अक्षिस्थमपि न ग्रहणविषयः इति कथं तस्य तमःप्रतीतेः उपपत्तिः इति वाच्यम्, जात्यन्धस्य ''तमो गृह्णामि'' इति व्यवहाराभाता(?) अजात्यन्धस्य व्यवहारस्य मान(त्र/?)या इन्द्रियशक्तेः परिशेषात् तथाव्यवहारस्य उपपत्तेश्च. अतः षडर्थसंक्षेपे उल्लिखितः परमतानुवादो वा एकदेशिपक्षो वा.

तत्त्वरत्नाकरपक्षः

तत्त्वरत्नाकरग्रन्थः भट्टपराशरनिर्मितः. तैः मूलप्रकृतिरेव तमः इति कथितम्. ''प्रधानतत्त्वमेव तमः इति तत्वविदः'' इति तद्ग्रन्थः. श्लोकितं च तैः ''अत्र तत्त्वविदः प्राहुः स्थूलसूक्ष्मात्मनास्थिता, देवी गुणमयी माया बाह्यान्तरतमोमता'' इति. अस्य श्लोकस्य अर्थः स्पष्टः.

अत्र वेदान्तदेशिकाः –तमसो मूलप्रकृतित्वं तावत् न सम्भवति.

विकारैः अग्नयादिभिः सह सृष्टिप्रलयवचनात्. अन्तर्यामिब्राह्मणे मूलप्रकृतिरूपतमसो भिन्नस्य तमसो ग्रहणं दृश्यते. किञ्च प्रधानतमसः प्रत्यक्षग्राह्यत्वमपि न सम्भवति. प्रधानतत्त्वमेव अवस्थाविशेषापन्नं तम इति चेद् इष्टमेव. परन्तु पार्थिवत्त्वं स्वीकार्यमेव. तमसः पृथिवीत्वे कथं पृथक् सृष्टिप्रलयादिकम् उच्यते इति तु न आशङ्कनीयम् स्वर्गान्तरिक्षादीनां ''नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षम्'' इत्यादिवचनेन सृष्ट्यादिकथनवद् उपपत्तेः. ज्ञानालोकयोः प्रकाशशब्दवत् प्रधानतमसि, लौकिकतमसि च 'तमः'शब्दस्य अनेकार्थकत्वेन प्रयोगात् तमः शब्दानुवृत्तिक्लेशो न. एवं कथञ्चित् निर्वाहे कृते तत्त्वरत्नाकरोक्तिः स्पष्टतया विरुद्धार्थप्रतिपादिका इति न मन्तव्यम्, ग्रन्थस्य अपूर्णत्वात् तदभिप्रायानिश्चयात्. अत्र कथं तर्हि तत्वरत्नाकरोक्तिः? वस्तुतस्तु वयमपि संशेमहि. न हि तत्र प्रतिज्ञानिर्वाहपर्यन्तं ग्रन्थो निबद्धः, येन अभिप्रायम् अध्यवस्येमां(?) स हि प्रबन्धः. ''अत्र तत्त्वविदः प्राहुः'' इति श्लोकमात्रे विघ्नितः. निबद्धमात्रं च अस्मदुक्तविरुद्धम्''(?) इति न्यायसिद्धाञ्जने वेदान्तदेशिकग्रन्थः.

तमसो द्रव्यत्वाभावानुमानस्य विमर्शः

तमो न द्रव्यम्, आलोकाभावे गृह्यमाणत्वात्, आलोकाभाववत् इति अनुमानेन केचित् तस्य द्रव्यत्वाभावं सिषाधयिषन्ति. प्राभाकरमते अतिरिक्ताभावस्य अनङ्गीकारात् आलोकाभावात्मक-दृष्टान्तस्य, तद्घटितस्य हेतोश्चा(?)सिद्धिः. न च अभावत्वं भावाभावसाधारणो अनुयोगिताविशेषः, स च प्राभाकरमते प्रसिद्ध्यत्येव इति वाच्यम्, दृष्टान्ते भूतलादिरूपाधिकरणात्मके आलोकाभावे द्रव्यभेदासत्वात् दृष्टान्ते साध्यवैकल्यदोषसम्भवात्. वैशेषिकमते तु पक्ष-दृष्टान्त-भेदाभावात् सिद्धसाधनं दोषः. रूपं मात्र तमः इति वादिनां मते दिवाभीतादिदृश्यमानैः द्रव्यैः व्यभिचारो दोषः.

तत्त्वसारे वात्स्यवरदाचार्याणां श्लोकः द्रव्यत्वसाधक-युक्तिसङ्ग्रहात्मकं वर्तते. ''तमो नाम द्रव्यं बहुलविरलं मेचकचलं प्रतीमः केनापि क्वचिदपि न बाधश्च ददृशे, अतः कल्प्यो हेतुः प्रमितिरपि शाब्दी विजयते निरालोकं चक्षुः प्रथयति हि तद्दर्शनवशात्'' इति.

तमसः पार्थित्व सिद्धिः

ननु तमसः भावत्वं द्रव्यत्वं च अस्तु, किमिति पार्थिवत्वमपि इति चेत्, न, नीलरूपवत्त्वेन तस्य पार्थिवत्वसाधनात्. नच पृथिव्या असाधरणस्य ग्रन्थवत्त्वस्य तत्र अभावात् न पार्थिवत्वम् इति शंक्यं, नीलरूपवत्त्वस्यापि पार्थिवासाधारण्यात्. गन्धादिशून्यपृथिवीतरद्रव्यमेव तमः इति शङ्का तु न युक्ता, नीलरूपवत्त्वस्य पृथिव्यसाधारणतया श्रुत्यैव व्यपदिष्टत्वम्. "यत् कृष्णं तदन्नस्य" इति हि छान्दोग्यश्रुतिः. 'अन्न'शब्देन प्रकृते पृथिव्यभिधीयते. तथाच तमसः पृथिवीत्वं, तत्र गन्धादेः अनुद्भूतत्वं च वक्तव्यम् इति विशिष्टाद्वैतिनां सिद्धान्तः.

एतत् सर्वं मनसि निधाय त्रयः श्लोकाः तत्त्वमुक्ताकलापे ग्रथिताः.

१.नैल्यात् भौमं तमिस्रं चटुलबहुलताद्यन्वयात् तन्न नैल्यम्
छायावत् पारतन्त्यं त्वयस इव मणौ दृष्टिसिद्धात् स्वभावात्।
स्पर्शाख्यातिर्नरूपं हरति हरिशिलालोकवत् तत्र चाक्ष्णोः
नालोकोऽर्थ्यः सासिद्धाञ्जनयनदिवाभीतदृष्ट्यादिनीतेः।।

२.नालोकाभावमात्रं तिमिरम् अविरतं नीलमित्येव दृष्टेः
नैल्यं त्वारोपितं चेत् कथमिव न भवेत् क्वापि कस्यापि बोधः।
आरोपे चात्र नैल्यं न भवति नियतं भास्वरान्यत्वसाम्यात्
नात्रादृष्टं नियन्तृ प्रतिनियतगुणारोपक्लृप्तेर्गुरुत्वात्।।

३.ध्वान्तं तेजश्च नासीदिति मुनिभिरुपाख्यापि संवर्तवार्ता
भावाभावौ निषेद्धुं तदुभयविधिवत् व्याहतत्वादशक्यम्।
अन्तर्यन्तुश्च तेजःसहपठिततमो देह इत्यामनन्ति
स्याच्चाभावोऽपि भावान्तरमतिमथने वक्ष्यमाणक्रमेण।।

इति.

चर्चा

विशिष्टाद्वैतिसम्मतम् अन्धकारस्वरूपम्

डॉ. के. ई. देवनाथन

व. ना. झा : अन्ततो गत्वा पृथिवीलक्षणं किम्?

के. ई. देवनाथन : नीलरूपवत्वम्.

गो. श्या. म. : तस्मादेव भगवतः एका स्वामिनी नीला वर्तते, पृथिवीरूपा.

के. ई. देवनाथन : तत्र यत्कृष्णं तदन्नस्य.. असाधारणों धर्मः इति अर्थः. तत्र अतिव्याप्ति-अव्याप्तिरहितः धर्मः इति न अर्थः. नैल्यं पृथिव्यामेव वर्तते अन्यत्र नास्ति इति अर्थः. पृथिव्याः लक्षणन्तु वैदान्तदैशिकैः कृतम् अस्ति "विशिष्टगन्धवत्त्वम्".

बलिराम शुक्ल : तत् किं तटस्थलक्षणम् स्वरूपलक्षणं वा?

के. ई. देवनाथन : अतटस्थलक्षणं किमपि नास्ति. सर्वं तटस्थलक्षणमेव. तटस्थलक्षणम् इति शब्दः अद्वैतवेदान्तिनां वर्तते. अस्माकमपि ग्रन्थेषु 'तटस्थलक्षणं' शब्दः वर्तते. तस्य अर्थः यत्तच्छब्दाघटितं लक्षणं तटस्थलक्षणम्. ईश्वर-तज्ज्ञान-भिन्नं सर्वमपि 'शरीर'पदवाच्यम्. शरीरस्य किं लक्षणम्? ईश्वर-तज्ज्ञानव्यतिरिक्तत्वे सति द्रव्यत्वम्. शरीरस्य लक्षणम् तटस्थलक्षणम् इति उच्यते. तत्र यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे धारयितुम् इत्यादि लक्षणम् अस्ति. ...इदानीं "विशिष्टगन्धवत्वम्" इत्येव लक्षणम्. नैल्यम् लक्षणम् इति मया न वक्तव्यम् आसीत्. नैल्यन्तु पृथिव्यामेव वर्तते अन्यत्र नास्ति.

बलिराम शुक्ल : लक्षणं तद् भवितुम् अर्हति वा? लक्षणस्य किं लक्षणम्?

के. ई. देवनाथन : "अर्थासाधारणाकारः व्यवहारनिबन्धनम्, सजातीय-विजातीयव्यवच्छेदेन लक्षणम्" इति तत्त्वरत्नाकरश्लोकः.

प्रह्लादाचार्य : सजातीय-विजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणस्य प्रयोजनम्.

बलिराम शुक्ल : लक्षणन्तु असाधारणधर्मएव.

के. ई. देवनाथन : अर्थासाधारणाकारेण यः व्यवहारः तस्य निबन्धनं तस्य

हेतुभूतं तदेव लक्षणम्. गोत्वेन गो व्यवहारः येन धर्मेण भवति सः धर्मः लक्षणम्. तस्य प्रयोजनं किं भवति? स तु सजातीय-विजातीयव्यवच्छेदेन ...

बलिराम शुक्ल : लक्षणं द्विविधं स्वीक्रियते : व्यावहारिकं व्यावर्तकं च.

के. ई. देवनाथन : स्वीक्रियते. केवलव्यतिरेकी अस्माभिः न स्वीक्रियते. पृथिवीतरभिन्ना गन्धवत्त्वाद् इति उच्यते. इदम् अनुमानं विशिष्टाद्वैतिनाम् न इष्टम्. तर्हि कथं लक्षणेन इतरव्यावृत्तिः सिद्ध्यति? इति प्रश्नः कृतः. तत्त्वमुक्ताकलापे उक्तं "मैवं लक्षणमेव भेदः तदवगमगमित्याप्तवाक्ये तदुक्तिः" इति उक्तम्. लक्षणमेव इतरभेदः. लक्षणेन इतरभेदः सिद्ध्यति. भावान्तराभाववादे लक्षणमेव इतरभेदः. अस्माकं सिद्धान्ते भेदः धर्मस्वरूपः. एवञ्च ...ईश्वरलक्षणे किं कुर्मः? निरुपाधिकसर्वज्ञत्वं जगत्कारणत्वम् ईश्वरस्य लक्षणम्. जगत्कारणत्वेन इतरभेदः न अनुमीयताम्. जगत्कारणत्वम् इतरभेदस्वरूपम् इति कथम् अनुमीयते?

प्रह्लादाचार्य : कथं न वक्तुं शक्यते?

के. ई. देवनाथन : जगत्कारणत्वं वक्तुं शक्यते. तत्र इतरभेदानुमानं कथं कर्तुं शक्यते. एवं प्रश्नः कृतः. लक्षणमेव यदि इतरभेदः भवति तर्हि इतरभेदानुमानं भवति वा न वा भवतां सिद्धान्ते इति प्रश्नः. इतरभेदानुमानं न भवति परन्तु इतरपदार्थान् पक्षीकृत्य ...घटस्य कम्बुग्रीवादिमत्त्वं लक्षणम् इति चेत् पटः घटभिन्नः, कम्बुग्रीवादिमत्त्वशून्यत्वात्. इति अनुमानं क्रियते अस्माभिः. अन्यथा एकव्यक्तिमात्रवृत्तिधर्मेण यदि अनुमानं क्रियते तर्हि केवलव्यतिरेकी अनुमानं कर्तव्यं स्यात्. तत्तु न स्वीक्रियते. अतः इतरपदार्थान् पक्षीकृत्य एतच्छून्यत्वेन हेतुना अनुमानं कर्तव्यम्.

द्वैतसिद्धान्तसम्मतम् अन्धकारस्वरूपम्

प्रो. प्रह्लादाचार्य

तमोविषये सर्वे वेदान्तिनः अद्वैतिनः. एकाभिप्रायवन्तः. सर्वेपि तमसः भावरूपत्वं स्वीकुर्वन्ति. किन्तु किञ्चिद् वैलक्षण्यं भवति. तमः भावरूपमपि मायिकम् इत्येवं वाल्लभैः उच्यते. विशिष्टाद्वैतिभिः पार्थिवत्वं स्वीकृतम्. अद्वैतिभिः द्रव्यान्तरत्वं स्वीकृतम्. दशमं द्रव्यं तमः. तत्र नवद्रव्याणि इति मतानुसारेण तमसः दशमत्वं वक्तुं शक्यम्. नवैवद्रव्याणि इति नियमो नास्ति. अधिकतया द्रव्याणि भवन्ति इति मते द्रव्यान्तरत्वं स्वीक्रियते न तु दशमत्वम् इति तत्र अभिप्रायो नास्ति.

द्वैतवेदान्तेपि तमसः भावत्वं द्रव्यान्तरत्वं स्वीक्रियते. याश्च युक्तयः अन्यैः वेदान्तिभिः भाट्टैश्च कथ्यन्ते ताएव युक्तयः अस्मिन्नपि मते प्रदर्श्यन्ते.

तत्र रामायणस्य भागवतस्य हरिवंशस्य च प्रमाणत्वेन स्वीकारात् तत्रत्याः श्लोकाः तमसः भावत्वे प्रमाणानि भवन्ति इति उच्यते. रामायणैः "श्वेताभ्यघनराजीव वायुपुत्रानुगामिनी, तस्य सा सुलभे छाया विकता लवणाम्भसी" इत्येवं वायुपुत्रानुगामित्वं हनुमच्छायायाः उक्तम्. यद्यपि वाल्लभवेदान्ते छाया भिन्ना तमः भिन्नम् इति छाया-तमसोः मध्ये कश्चन भेदः उच्यते. मन्ये अन्यैः सर्वैः तादृशः भेदः नैव कश्चन लक्ष्यते. छायायापि तमस्त्वं स्वीक्रियते. अत्र हनुमच्छायायाः वायुपुत्रानुगामित्वम् उक्तम् इति हेतोः चलनरूपक्रिया सिद्धा भवति. एवं "दशयोजनविस्तीर्णा" इत्येवं हनुमच्छायायाः परिणामः उक्तो वर्तते, गुणाश्रयत्वं सिद्धम्. "छायां संग्रहीतायां चिन्तयामास मारुतिः" इति रामायणे तस्य ग्रहणम् उक्तं भवति. न हि अभावस्य ग्रहणं कर्तुं शक्यम्. अतः छायायाः द्रव्यभूतायाः ग्रहणमेव तत्र वक्तव्यम्. किञ्च, "तमस्सुघोरं गगनच्छदं महत् विदारयत् भूरितरेण रोचिषा, मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो चमूम्" इति भागवते. तत्र भगवच्चक्रेण सुदर्शनेन तमसः छेदः उक्तो वर्तते. छेदस्तु द्रव्यस्य भवेत्, न तु अभावस्य इति तत्रापि

युक्तिः सूचिता. तद्वदेव हरिवंशे "ततः कदाचिद् दुःखेन तमो त्वरङ्गमः पंकभूतं हि तिमिरम् अश्वानां जायतेऽनघ, अथ पर्वतभूतं तत् तिमिरं समजायत तदासाद्य हया राजन् निष्प्रयत्नाः तस्थिताः, ततश्चक्रेण गोविन्दः पाटयामास तत् तमः" इति हरिवंशेपि तमसः चक्रविदार्यत्वम्, पंकत्वादिकम् उक्तम् अस्ति इति हेतोः द्रव्यत्वम् अङ्गीकरणीयम्.

अपि च अन्धकारस्य अभावरूपत्वं न युक्तम्. अत्र आलोको नास्ति किन्तु तमः वर्तते इत्येवं आलोकाभावस्य तमसश्च युगपत् पृथग्व्यवहारः दृश्यते. अत्र आलोको नास्ति इति एतावता तमसः उक्तिः नास्ति. तमः वर्तते इति पृथग् उक्तिः अस्ति. अतः पृथग्व्यवहारोपि प्रमाणं भवति.

अपि च आप्तेन अत्र नास्ति प्रकाशः इति उक्तेः तर्हि तमः वर्तते इति अनुमीयते. आलोकाभावस्य तमसश्च लिङ्गलिङ्गीभावः दृश्यते. अतोपि तयोर्भेदः स्वीकर्तव्यः. किञ्च आलोकज्ञानं यस्य नास्ति इदम् उक्तम् इति मन्ये आलोकरूपप्रतियोगिज्ञानविरहिणोऽपि तमः प्रतीतिरस्ति इति हेतोः आलोकाभावभिन्नत्वं स्वीकरणीयं तमसः. अन्यथा प्रतियोगिज्ञानं विहाय अभावज्ञानं कथं स्यात्? आलोकाभावरूपत्वे इय..तिः भवति.

अपि च विरल-निबिड-निबिडतरत्वादिना तमः प्रतीतिः अस्ति. उत्कर्षापकर्षप्रतीतिः अस्ति. न हि अभावे उत्कर्षापकर्षौ स्तः. अतः द्रव्यत्वमेव स्वीकरणीयम् इत्यादि नानाप्रमाणानि द्रव्यत्वविषये प्रदर्श्यन्ते.

तत्र काश्चन अनुपपत्तयः या उच्यन्ते तमसः रूपवत्त्वस्वीकारे तत्र इदम् उच्यते. नैयायिकानाम् अयम् आक्षेपः प्रधानः भवति, तमसः यदि रूपित्वम् अङ्गीक्रियेत तर्हि आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वं न स्यात्. यद् रूपवत् तत् अलोकसापेक्षचक्षुर्ग्राह्यं भवति. तमसश्च आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वं वर्तते इति हेतोः न तस्य रूपित्वम् इति तेषाम् अभिप्रायः. अतएव ते प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावः उद्भूतरूपं योग्यं यावत् तेजः तत्संसर्गाभावो वा इत्यादिरूपेण तमसः अभावरूपत्वं प्रतिपादयन्ति. तत्र इदं

समाधानम् उच्यते. सर्वत्र ज्ञातारः आलोकसापेक्षेणैव चाक्षुषसाक्षात्कारं दृश्यन्ते. ज्ञातृणां चाक्षुषसाक्षात्कारः आलोकसहकारेणैव भवति इति सर्वत्र दृश्यते. अथापि रात्रिंचराणाम् उलूकादीनां रात्रिणामपि आलोकनिरपेक्षचाक्षुषसाक्षात्कारः अङ्गीक्रियते इति सर्वैः अभ्युपगतम् अस्ति. तद्वदेव ज्ञेयाः सर्वेपि यदि चाक्षुषसाक्षात्कारविषयाः भवन्ति तर्हि आलोकसापेक्षचाक्षुषसाक्षात्कारविषयाः भवन्ति इति सामान्य नियमो वर्तते. तथापि तमोरूपं यज् ज्ञेयं तद्विषयेतु अलोकनिरपेक्षचाक्षुषविषयत्वम् अङ्गीकर्तुं शक्यम्. एवञ्च ज्ञातारः यथा आलोकसापेक्षचाक्षुषसाक्षात्कारवन्तः इति सामान्यतः नियमे सत्यपि केचन ज्ञातारः आलोकनिरपेक्षचाक्षुषसाक्षात्कारवन्तः दृश्यन्ते. तथैव ज्ञेयपदार्थेष्वपि सामान्यतः तेषां आलोकासापेक्षचाक्षुषसाक्षात्कारविषयत्वेपि केचन ज्ञेयाः तादृशाः भवितुम् अर्हन्ति ये आलोकनिरपेक्षचाक्षुषसाक्षात्कारविषयाः. तमः तादृशं भवति इति हेतोः तत्र न कापि अनुपपत्तिः.

आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वम् आलोकेपि वर्तते. तत्र इदं वक्तुं शक्येत स्वात्मकः आलोकः वर्तते. विषयभूतः आलोकः तत्र वर्तते किन्तु विषयसंस्कारकः आलोकः यथा सर्वत्र अपेक्ष्यते तादृशः न अपेक्ष्यते खलु आलोकविषये. आलोकस्य विषयस्य सद्भावेपि विषयसंस्कारकः आलोकः

के. ई. देवनाथन : संयोगसम्बन्धेन आलोक

प्रह्लादाचार्य : ...एवं तत्र एतदभिप्रायेण उच्यते संयोगसम्बन्धेन आलोकः आवश्यकः. आलोके सति कश्चन विषयसंस्कारः भवति. तेन संस्कारेणैव तस्य पदार्थस्य चाक्षुषसाक्षात्कारविषयत्वं युज्यते इति मध्वैः उच्यते.

किञ्च, तत्र वदेयुः आलोके व्यभिचारः यद् उच्यते किं महालोके अवयविनि आलोके व्यभिचारः उच्यते अथवा आलोकावयवे व्यभिचारः उच्यते? अलोकावयवानामपि चाक्षुषसाक्षात्कारविषयत्वं वर्तते अवयविनः आलोकस्यापि चाक्षुषसाक्षात्कारविषयत्वं वर्तते. अवयवस्य आलोकस्य अवयवावयविनोः भेदः नैयायिकैः स्वीकृतः इति हेतोः

आलोकावयवस्य चाक्षुषसाक्षात्कारः अवयविभूतालोकवशात् भवति. ...अवयविनः आलोकस्य चाक्षुषसाक्षात्कारार्थम् अवयवभूतः आलोकः सहकारी भवति इति वक्तुं ते प्रयतेरन्. परन्तु तयोर्मध्ये आलोकसम्बन्धस्तु अपेक्षितः इति सामान्यतः उच्यताम्. आलोकसम्बन्धश्च परम्परासम्बन्धः नैव विवक्षितः. न हि आलोकसम्बद्धः कुड्यसम्बद्धः घटस्य न हि चाक्षुषसाक्षात्कारविषयत्वं भवति. साक्षात् सम्बन्धएव आवश्यकः. साक्षात् सम्बन्धोऽपि संयोग-समवाय-साधारणः कश्चन धर्मः विवक्षितः इति न वक्तव्यम्. किन्तु संयोगत्वेनैव आलोकसम्बन्धः अपेक्षितः इति वक्तव्यम्. एवञ्च अवयवावयविनोः मध्ये संयोगः न अङ्गीक्रियते इति हेतोः आलोकसंयोगाभावेऽपि आलोकस्य चाक्षुषसाक्षात्कारविषयत्वम् अङ्गीक्रियते इति तत्र व्यभिचारो भवत्येव.

अन्यच्च, तमसः आलोकाभावरूपत्वं यद् उच्यते तर्हि "नीलं तमः" इति अबाधितप्रत्ययविरोध बाधकत्वेन उच्यते. "नीलं तमः" इति धीविरोधः बाधकत्वेन उच्यते. रूपसाक्षात्कारं प्रति रूपसाक्षात्कारस्य आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यत्वनियमः. "नीलं तमः" इति या अबाधिता प्रतीतिः वर्तते तत्र नीलरूपसाक्षात्कारः नैयायिकेनापि अवश्यम् अङ्गीकरणीयम्. तमः आलोकाभावः भवतु परन्तु "नीलं तमः" इति प्रतीतेर्बाधो नास्ति. नीलरूपस्य प्रतीतिः भवति इति अङ्गीकरणीयम्.

पारसनाथ द्विवेदी : तेजोऽभावे किं रूपं भविष्यति?

प्रह्लादाचार्य : अतएव भ्रमत्वम् उच्यते तैः. ततश्च नीलरूपप्रतीतिस्तु वर्तते.

पारसनाथ द्विवेदी : प्रतीतिस्तु भ्रमरूपापि भवितुम् अर्हति.

प्रह्लादाचार्य : प्रतीतेः भ्रमत्वेपि नीलरूपं प्रतीयते इति तैः अङ्गीक्रियते.

पारसनाथ द्विवेदी : अन्यथाख्यातिः अस्ति, अनिर्वचनीयख्यातिस्तु नास्ति. प्रतीतिः अस्तु नीलरूपं मास्तु.

प्रह्लादाचार्य : इति न वक्तुं शक्यते. नीलरूपं तादृशप्रतीतेः विषयो भवति.

बलिराम शुक्ल : भवतु नाम. नैयायिकानां मते ...

प्रह्लादाचार्य : ...एवञ्च रूपसाक्षात्कारस्य आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यत्वनियमो वर्तते. ततश्च तमसः आलोकाभावरूपत्वं यदि अङ्गीक्रियते तर्हि नीलसाक्षात्कारं कथम् इति प्रश्नो भवति. तत्र इदं वक्तव्यम् - रूपप्रमां प्रत्येव अयं नियमः. आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यत्वनियमः रूपप्रमायाः. अयञ्च रूपभ्रमः. नीलप्रत्ययः तमसि भवति "नीलं तमः" इति प्रतीतिः भ्रमः. अतः भ्रमभिन्नां प्रमां प्रति तादृशः नियमः अङ्गीक्रियते. अत्र आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यत्वं न आवश्यकम् इति वक्तव्यम्. परन्तु सामान्यतः यदि कार्यकारणभावाङ्गीकारे किं बाधकम्? सामान्यतएव कार्यकारणभावः अङ्गीक्रियताम्. रूपप्रतीतिसामान्यं प्रति आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यत्वनियमः सामान्यतएव स्वीकरणीयः. यदि तमसः आलोकाभावरूपत्वं सिद्धं स्यात् तर्हि कथञ्चन नियमसंकोचः करणीयः. ततः पूर्वं नियमसंकोचः करणे किमपि कारणं नास्ति. अपि च शुक्लपटे यदा नीलभ्रमो जायते.

के. ई. देवनाथन : सामान्यतः रूपसाक्षात्कारं प्रति ...

प्रह्लादाचार्य : ...प्रथमम् इदम् उच्यते -रूपप्रतीतिसामान्यस्य आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यत्वनियमः स्वीकर्तव्यः. तत् त्यागे कारणं नास्ति इति प्रथमम्. अनन्तरञ्च रूपभ्रमस्यापि आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यत्वनियमः अनुभूयते यदा शुक्लपटे नीलरूपभ्रमो जायते. किं स्वयं भ्रमः आलोकनिरपेक्षचक्षुर्जन्यः अयं रूपभ्रमः आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यएव? तस्मात् रूपभ्रमस्यापि आलोकसापेक्षचक्षुर्जन्यत्वं स्वीकरणीयम् इति वक्तव्यं भवति.

अत्र वर्धमानेन एवम् उच्यते -यदा रूपवद्वस्तु ज्ञानविशेष्यं भवति तस्य चाक्षुषत्वे आलोकापेक्षा. प्रतीतिविशेष्यभूतः पदार्थः रूपवान् यदि भवति तस्य चाक्षुषत्वं प्रति आलोकापेक्षा भवति. यदा शुक्लपटविषये नीलरूपभ्रमो जायते तत्र च भ्रमाधिष्ठानं भवति पटः. स च रूपवान्. इति हेतोः तत्र आलोकसापेक्षत्वम् अङ्गीकरणीयम्. रूपवतः यदि प्रतीतिविशेष्यत्वं तस्य चाक्षुषत्वे आलोकस्यापेक्षा

भवति. शुक्ले पटे यदा नीलभ्रमो जातः तदानीम् अयं विशेष्यः पटः रूपवान् भवति इति हेतोः तत्र आलोकसापेक्षत्वं वर्तते. एवञ्च आलोकस्य अपेक्षा कुतः? रूपवतः विशेष्यस्य ग्रहणार्थम् आलोकापेक्षा, रूपग्रहणार्थम् आलोकापेक्षा न स्वीक्रियते. इदानीं, तमसि नीलरूपभ्रमः यज् जायते तत्तु विशेष्यभूतः पदार्थः अन्धकारः सः रूपवान् न भवति, किन्तु रूपहीनः पदार्थः. रूपहीनस्य अत्र विशेष्यत्वम्. रूपवतः विशेष्यस्य यदि चाक्षुषत्वं तर्ह्येव आलोकापेक्षा. अत्र तु तमसः विशेष्यस्य रूपवत्वं नास्ति इति हेतोः तद्ग्रहणार्थम् आलोकापेक्षा नास्ति. रूपवतः विशेष्यस्य ग्रहणार्थमेव आलोकापेक्षा, रूपग्रहणार्थम् आलोकापेक्षा न अङ्गीक्रियते. रूपहीनस्य वस्तुनः प्रतीतिविशेष्यत्वं चेत् तत्र आलोकापेक्षा नास्ति. प्रतीतिविशेष्यस्य पदार्थस्य रूपवत्वं चेत् सा च प्रतीतिः चक्षुर्जन्या भवति चेत् आलोकापेक्षा वर्तते. अन्धकारस्तु विशष्यः भवति. "नीलं तमः" इति प्रतीतौ अन्धकारः विशेष्यः. स च न रूपवान् किन्तु रूपरहितः. रूपरहितस्य यदा प्रतीतिविशेष्यत्वं तत्र आलोकापेक्षा नास्ति. तत्र चाक्षुषत्वं सम्भवति विना आलोकम्. एवञ्च विशेष्यस्य ग्रहणार्थम् आलोकस्य अपेक्षा नतु रूपग्रहणार्थम् आलोकापेक्षा. अतः तमसि यदा रूपभ्रमो जायते, रूपग्रहणार्थम् आलोकापेक्षा नास्ति. ये च वेदान्तिनः तमसः द्रव्यत्वम् अङ्गीकुर्वन्ति रूपवत्वञ्च स्वीकुर्वन्ति तेषाञ्च इदं बाधकं भवति. यतो हि रूपवतो पदार्थस्य नीलं तमः इति प्रतीतिविशेष्यत्वं वर्तते. प्रतीतिश्च चक्षुर्जन्या भवति. अतः तत्र तैरेव समाधानं वक्तव्यम्. अलोकं विना तमसि रूपप्रतीतिः कथं जायते इति बाधकस्य समाधानं तैः वक्तव्यं भवति. नैयायिकानान्तु बाधकं नास्ति. यतो हि तैः रूपवतः विशेष्यस्य यदि चाक्षुषत्वम् उच्यते तत्रैव आलोकापेक्षा इति स्वीक्रियते. तमसश्च रूपहीनस्य चाक्षुषत्वं सम्भवत्येव. आलोकं विनापि चाक्षुषत्वं वक्तुं शक्यम् इति वर्धमानेन उक्तम्. परन्तु "आकाशं नीलम्" इति भ्रमो जायते. नीरूपस्य आकाशस्य प्रतीतिविशेष्यत्वं वर्तते. अत्र तु किम् आलोकाभावे आकाशं नीलम् इति भ्रमो जायते? आकाशं नीलम् इति

चाक्षुषप्रतीतिः आलोकापेक्षा भवति. अतः रूपहीनस्य पदार्थस्य विशेष्यत्वेपि तस्याः प्रतीतेः चाक्षुषत्वम् आलोकापेक्षं भवति. आलोकं विहाय तस्याः प्रतीतेः चाक्षुषत्वं नैव वक्तुं शक्यम्.

अन्यदपि उदाहरणं दातुं शक्यं परन्तु "आकाशं नीलम्" इति प्रतीतिः कथं जायते इति नैयायिकैः वक्तव्यम्. यदा अशुभ्रं दधि दृष्ट्वा दधि धवलम् इति भ्रमो जातः तत्र इदम् उच्येत आकाशे नैल्यप्रतीतिः अथवा धावल्यप्रतीतिः गृह्यमाणारोपा भवति. आरोपश्च द्विविधः गृह्यमाणारोपः स्मर्यमाणारोपश्च इति. गृह्यमाणारोपे अयं नियमः. तत्र आरोप्यज्ञानम् अन्यद् अधिष्ठानज्ञानम् अन्यत्. ज्ञानयोः मध्ये संसर्गग्रहो नास्ति. गृह्यमाणारोपविषये अयं भवति. ज्ञानद्वयम् अधिष्ठानस्य साक्षात्कारः भवति, आरोप्यस्य गृहणमपि भवति. तयोः ज्ञानयोर्मध्ये ...शङ्खः पीतः अथवा तिक्तो गुडः. तिक्तो गुडः इति यः भ्रमो जायते तत्र गुडस्य अनुभवः वर्तते तिक्तरस्यापि अनुभवः वर्तते.

के. ई. देवनाथन : अनन्तरं विशिष्टज्ञानम्...

प्रह्लादाचार्य : अनन्तरं विशिष्टज्ञानम् इति न उच्यते. युगपदेव ज्ञानं जायते. गृह्यमाणतिक्तरसस्य गुडे आरोपः क्रियते. तत्र यदा आरोप्यज्ञानं गृहणात्मकं भवति तत्र आलोकापेक्षा अङ्गीक्रियते. रूपतः द्रव्यत्वविशेष्यत्वं चेत् आलोकापेक्षा अङ्गीक्रियते. न तु स्मर्यमाणारोपे साक्षात्...नीलं तमः इत्यत्र तु नीलरूपस्यैव आरोपः क्रियते तमसि. अतः अत्र आलोकापेक्षा नास्ति इति वदेयुः. परन्तु अयं गृह्यमाणारोपः अयं स्मर्यमाणारोपः इति शपथनिर्णयो अयं विषयः. तस्मात् एवं नियामकम् अत्र प्रदर्शयितुं न शक्यते. तत्र गृह्यमाणरूपस्य संसर्गः आरोप्यते तमसि. तदर्थं रूपगृहः पूर्वम् अपेक्षितः. गृह्यमारस्य रूपस्य संसर्गारोपार्थं रूपग्रहणम् अपेक्ष्यते. रूपग्रहश्च आलोकापेक्षः. एवञ्च तमसि कथं वा आलोकं विहाय रूपभ्रमो जातः इति पुनः बाधकं वक्तुं शक्यते. एवं रूपवज्ज्ञानं रूपवद्विशेष्यकं वा भवतु अन्यथा वा, भ्रमो वा भवतु प्रमा वा. यदा रूपज्ञानं जायते तत्र आलोकापेक्षा

वर्तत एव इति नियमः स्वीकर्तव्यः. तदनुसारेण नैयायिकानाम् इदं बाधकं भवत्येव. तमः नीलम् इति रूपप्रतीतिः आलोकं विहाय कथं जायते इति बाधकन्तु निष्परिहरणीयं भवति.

किञ्च, रूपवतः पदार्थस्य यथा ग्रहणम् आलोकापेक्षं भवति तथा रूपिणः पदार्थस्य अभावग्रहणमपि आलोकापेक्षं दृश्यते. रूपिणः घटस्य ग्रहणम् आलोकापेक्षम् अस्ति. रूपिणः घटस्य अभावमपि आलोकापेक्षं दृश्यते. एवञ्च तमः आलोकाभावात्मकः इति अङ्गीक्रियते चेदपि प्रतियोगिनः आलोकस्य ...आलोकाभावग्रहणमपि तमसः अभावत्वपक्षेऽपि आलोकापेक्षा कथं नैव अङ्गीक्रियते कथं परिगृह्यते इति...पत्तिः भवत्येव.

शशधरेण अयम् आक्षेपः कृतः. तमः यदि द्रव्यं भवति तर्हि तमसः अनित्यस्य पदार्थस्य उत्पत्तिः अङ्गीक्रियते. तमोवयवाः आरम्भकाः स्वीकरणीयाः. आरम्भकत्वं प्रति स्पर्शवत्वं प्रयोजकम्. निःस्पर्शस्य तमसः आरम्भकत्वम् न युज्यते. एवञ्च आरभ्यस्य समसः आरम्भकभूततमोजन्यत्वं वक्तव्यम्. आरम्भकानां तमोवयवानां निःस्पर्शत्वात् कथम् आरम्भकत्वं युज्यते? यद्यपि मूर्तत्वम् आरम्भकत्वे प्रयोजकम् इति उच्येत मूर्तत्वम् आरम्भकत्वप्रयोजकं न भवितुम् ...मनसः मूर्तस्य आरम्भकत्वं नास्ति. तस्मात् स्पर्शवत्वमेव आरम्भकत्वे प्रयोजकं वाच्यम्. ततश्च तमोवयवस्य निःस्पर्शस्य कथं वा आरम्भकत्वम् उच्यते?

के. ई. देवनाथन : तमोवयवाः परमाणवः ...तमःशब्दवाच्याः तेषां ...निःस्पर्शत्वं न वक्तव्यं, स्पर्शवत्वमेव वक्तुं शक्यते.

प्रह्लादाचार्य : एवम्. स्पर्शवत्वमेव इति सिद्धान्तः. अस्माभिरपि तथैव उच्यते. तमसोऽपि स्पर्शवत्वम् अङ्गीक्रियते.

के. ई. देवनाथन : परमाणुषु अवान्तरजाति नास्ति इति वक्तुं शक्यते. तमसत्वजातिः नास्ति.

प्रह्लादाचार्य : अपि च तमः न आरम्भकं, निःस्पर्शत्वात् इति अनुमानस्य तमः

आरम्भकम् अन्तयावयविभिन्नत्वे सति रूपवत्वात् इति सप्रतिपक्षानुमानमपि वक्तुं शक्यम्. अपि च तमः आरम्भकं, निःस्पर्शत्वात् इत्यनुमानस्य नीरूपत्वम् उपाधिः. अत्र च साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वम् उच्यते. अस्पर्शत्वं खलु साधनम्. तमः न आरम्भकम् अस्पर्शत्वात् इति अनुमाने अस्पर्शत्वं साधनम्. तादृश साधनव्यापक-साधनावच्छिन्न-साध्यव्यापकत्वं नीरूपत्वस्य. साधनावच्छिन्न-निःस्पर्शत्वावच्छिन्नम् अनारम्भकत्वम्. तमः न आरम्भकम्, अस्पर्शत्वात् इति खलु हेतुः! तत्र अनारम्भकत्वं साध्यम्. अस्पर्शत्वविशिष्ट-अनारम्भकत्वं यत्र यत्र, आकाशे, तत्र नीरूपत्वम्. एवम् अस्पर्शत्ववति तमसि न आरम्भकत्वम् इति एवं साधनाव्यापकत्वं साध्यव्यापकत्वं वक्तुं शक्यम्. उपाधिग्रस्तमपि तद् अनुमानं...

के. ई. देवनाथन : अस्पर्शत्ववति पक्षे अरूपित्व..उपाधि.

प्रह्लादाचार्य : उपाधिः नास्ति. साधनाव्यापकत्वं वक्तुं शक्यम्.

केचन वदन्ति, आलोकाभावः तमः इति न वदन्ति किन्तु आलोकज्ञानाभावः तमः इति वदन्ति. तत्काले तद्देशे नाम यस्मिन् देशे अन्धकारः उच्यते यस्मिन् काले अन्धकारः उच्यते तत्र आलोकसाक्षात्काराभावः सर्वसम्मतः वर्तते. आलोकसाक्षात्काराभावस्यैव अन्धकारत्वम्. तेतु स्वसमर्थनार्थम् एवं वदन्ति यदा आलोकवद्गर्भगृहं कश्चन प्रविशति तदानीं प्रथमम् आलोकज्ञानं तस्य न भवति. न भवति चेत् ततः तमःप्रत्ययो जायते. यद्यपि तत्र तमः नास्ति. इदं अत्र तमः अस्ति इत्येवं ज्ञानं तु भवति. एतत्तु समर्थयितुं युज्यते. यतो हि आलोकज्ञानं तस्य न जातम्. मन्दालोकः गर्भगृहे वर्तते. यदा गर्भगृहं प्रविशति, आलोकज्ञानं न जातं तदानीं अत्र तमः नास्ति इति प्रतीतिः इदानीं युज्यते. आलोकज्ञानाभावस्यैव तमस्त्वम्. परन्तु नीलं तमः इति अबाधितप्रत्ययः कथम् अस्मिन् मते उपपाद्यते इति वक्तव्यम्. न हि आलोकज्ञानाभावस्य नैल्यं वक्तुं शक्यम्. नीलरूपप्रतीतिः अबाधिता वर्तते सा अत्र दुरुपपादिता भवति. अपि च तमःसाक्षात्कारस्य चक्षुरन्वयव्यतिरेकः

अनुविधायित्वं वर्तते. चक्षुषा तमः प्रतीतिः, चक्षुसन्निकर्षाभावे तमः प्रतीत्यभावः.

पारसनाथ द्विवेदी : निमीलितनयनस्यापि तमः प्रतीतिः जायते.

प्रह्लादाचार्य : चक्षुःसन्निकर्षेसति तमःप्रत्ययः चक्षुःसन्निकर्षाभावे तमःप्रत्ययाभावः. निमीलितनयनस्य तमःप्रतीतिः न भवीति. अत्र तमः इति यो अयम् अन्धकारप्रत्ययः सः कथं निमीलितनयनस्य...

पारसनाथ द्विवेदी : अत्र तमो वा तत्र तमो वा, तमसः प्रतीतिस्तु जातएव निमीलितनयनस्यापि उन्मीलितनेत्रस्यापि अन्धकारस्थितस्य.

प्रह्लादाचार्य : भवतु नाम. यत्र बहिः तमसः प्रतीतिः भवति, बाह्यतमसः प्रतीतिः...

पारसनाथ द्विवेदी : तत् कथं विविक्तुं शक्यते कस्य तमसः प्रतीतिः जाता? तमःप्रतीतिस्तु जायतएव. निमीलितनयनस्य तमस्थितस्य तमःप्रतीतिः जायते.

प्रह्लादाचार्य : तत्र नीलं तमः इति तमःसाक्षात्कारः चक्षुरन्वय...तत्र ते वदन्ति...

के. ई. देवनाथन : अन्तर्वर्ति इति किल उच्यते! गोलकान्तर्वर्ति तमसः चक्षुषा ग्रहण...चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायि भवति चाक्षुषप्रत्यक्षं तमोविषयकम्.

प्रह्लादाचार्य : बाह्यतमोविषयएव इदानीं चर्चा भवति.

के. ई. देवनाथन : आन्तरतमोपि

प्रह्लादाचार्य : तत्रापि चाक्षुषसन्निकर्षः वर्तते. निमीलितनयनेन यत् तमः गृह्यते...

बलिराम शुक्ल : निमीलितनयनान्तर्वर्ति तमः अस्ति. अतः तेन सह सम्बन्धः अस्ति.

सच्चिदानन्द मिश्र : अञ्जनस्यापि प्रत्यक्षं भवेत्.

के. ई. देवनाथन : तस्य तु सम्बन्धः नास्ति.

पारसनाथ द्विवेदी : तदेव समाधानं कृतम्. ...

प्रह्लादाचार्य : एवं रीत्या तत्र पक्षत्रयं दृश्यते. आलोकाभावः तमः इति एकः पक्षः. आलोकज्ञानाभावः तमः इति अपरः पक्षः. नीलरूपं तमः इति अपरः पक्षः. तस्यापि खण्डनं कृतं वर्तते. इति हेतोः द्रव्यम् इत्येव साध्यम्. एवम् उक्त्वा यद्यपि वाल्लभसिद्धान्तविषये चर्चा बहुधा प्रवृत्ता तैः मायिकं तमः इति उच्यते. मायापरिणामभूतं तमः इति अभिप्रायः खलु? तत्र मम प्रश्नस्तु अयं वर्तते सर्वस्यापि जगतः ब्रह्मपरिणामत्वम् अङ्गीक्रियते वाल्लभसिद्धान्ते. इयञ्च माया भगवदभिन्ना भगवद्भिन्ना वा इति वक्तव्यम्.

के. ई. देवनाथन : भिन्नाभिन्ना इति उच्यते.

प्रह्लादाचार्य : भेदः कुतः?...यदि अन्धकारभिन्नस्य सर्वस्यापि जगतः ब्रह्मपरिणामरूपत्वं स्वीक्रियते तथैव अन्धकारस्यापि ब्रह्मपरिणामरूपत्वं स्वीक्रियतां नाम! मध्ये मायायाः परिणामकारणत्वं कुतः उच्यते? मया तु एवं ज्ञातम्. तत्र आवरकत्वं वर्तते.

के. ई. देवनाथन : माया भगवतः शक्तिविशेषः. स च स्वशक्त्या जीवबुद्धिं व्यामोहयति.

प्रह्लादाचार्य : तत्र मायायाः सर्वस्यापि जगतः भगवतः भेदाभेदः. एवं खलु?

गो. श्या. म. : सर्वस्यापि जगतः ब्रह्मणः तादात्म्यम्. "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिवाक्येन

प्रह्लादाचार्य : तादात्म्यञ्च भेदाभेदः?

गो. श्या. म. : भेदसहिष्णुरभेदः. तथैव "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि, तद्विद्यात् आत्मनो मायां यथाऽभासो यथा तमः". अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत.

प्रह्लादाचार्य : अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत, अन्धकाराभावेपि अन्धकारप्रतीतिः नास्ति! ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत तस्य अर्थस्य मायिकत्वम् उच्यते.

गो. श्या. म. : यथा आभासो यथा तमः

प्रह्लादाचार्य : भवतु नाम. तमसः दृष्टान्तत्वं कथम् इति. ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत तस्य मायिकत्वम्. ऋते अर्थं

के. ई. देवनाथन : ऋते अर्थं, तमो रूपं अर्थं विना यत् प्रतीयते तमः असद्रूपं प्रतीयते.

प्रह्लादाचार्य : यथा तमः इति तमसः तत्र दृष्टान्तत्वम् उक्तम्.

बलिराम शुक्ल : तमः वस्तु नास्ति. तद् अस्माकं मतम्.

अस्ति.

गो. श्या. म. : तत्र उपाधिपतिपत्तिः न भवति अद्वैतिनां मते.

के. ई. देवनाथन : तथा नास्ति. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम् इति यादृशं ...तल्लक्षणम् अत्रापि आगच्छति, एतेन अभिमते तमसि.

गो. श्या. म. : यत्र तमः प्रतीयते तस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं...

के. ई. देवनाथन : शुक्तिरजतं प्रातिभासिकम् इति तेषां सिद्धान्तः...एतैः उच्यते तथा अस्माभिः भेदः न क्रियते. शुक्तिरजतं वा भवतु, शशविषाणं वा भवतु. उभयोः सत्तायां वैशम्यं ...

बलिराम शुक्ल : असत्वे वैशम्यं नास्ति.

के. ई. देवनाथन : असत्त्वे सत्यपि प्रातिभासिकत्वं स्वीकृत्य यथा वा तत्र भेदः ...

प्रह्लादाचार्य : असत्त्वे सत्यपि इति यद् उच्यते तत् न वक्तुं शक्यम् इति मे मतिः.

के. ई. देवनाथन : मधुसूदनसरस्वतिभिः असत्त्वे तुल्ये सत्यपि द्वयोः प्रातिभासिकरजतस्य शशविषाणस्य च असत्त्वे तुल्ये सत्यपि यथा वा एकस्य प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं स्वीकृतम् अन्यस्य नास्ति इति उक्तं तद्वत् अस्माभिः तमसः शशविषाणस्य च भेदः उच्यते. परन्तु अत्र प्रातिभासिकत्व-तुच्छत्वप्रभेदः नास्ति. उभयोपि तुच्छत्वमेव. अस्माकं सिद्धान्तरीत्या प्रतिपादितम्.

गो. श्या. म. : असतः प्रतीतिः न भवति इति केवलाद्वैतिनां सिद्धान्तः. माया व्यामोहयति चेत् असतोपि प्रतीतिः भवति.

पारसनाथ द्विवेदी : मायया असतोपि प्रतीतिः भवति. तदेव प्रातिभासिकम्!

गो. श्या. म. : भवतु. तत्तु...

पारसनाथ द्विवेदी : असतो प्रतीयमानस्य मायिकएव कश्चिद् भेदः वक्तव्यः यथा शुक्तिरजतस्य शशविषाणस्य च. प्रतीतिमात्रं भेदः!

गो. श्या. म. : प्रतीतिमात्रं भेदः.

पारसनाथ द्विवेदी : प्रतीतिमात्रं मायया भवतु वा यथाकथञ्चित् भवतु, भेदस्तु अस्त्येव. तर्हि असति तमसि भेदो नास्ति इति ...

गो. श्या. म. : ''छायाप्रत्याह्वयाभासाऽसन्तोप्यर्थकारिणः'' असन्तोऽपि

अर्थकारिणः इति भागवते उक्तम् अस्ति. अत्रापि ''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत''. अर्थम् ऋते यत् प्रतीयते तत्र तमः दृष्टान्तः.

पारसनाथ द्विवेदी : प्रतीतिसद्भावेपि असत्त्वम् उपपदायितुं शक्यते? तर्हि पुनः तमसि

बलिराम शुक्ल : भवतां मते तु प्रतीतिविषयत्त्वमेव सत्वं, तेषां मते तादृशं नास्ति. अविद्यमानस्यापि प्रतीतिः भवति.

पारसनाथ द्विवेदी : असतः प्रतीतिः किमर्थं कल्प्यते इति मम जिज्ञासा. यदि असतः प्रतीतिः न स्यात् तर्हि का क्षतिः? शशविषाणस्य प्रतीतिः क्वापि न भवति. यस्य शुक्तिरजतस्य प्रतीतिः तस्य असत्त्वम् न अङ्गीक्रियते.

प्रह्लादाचार्य : वाल्लभसिद्धान्ते ''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत...यथाऽभासः यथा तमः'' इति भावगवतवाक्यम् अनुसृत्य ऋते अर्थं, अर्थाभावेऽपि विषयाभावेऽपि प्रतीतिः भवति मायया.

गो. श्या. म. : ''तद्विद्यात् आत्मनो मायाम्''.

प्रह्लादाचार्य : एवञ्च आत्मनो मायया अर्थं विनापि अर्थस्य प्रतीतिः भवति यथा तमः.

पारसनाथ द्विवेदी : तमसः पदार्थस्य वस्तुसतः अभावेऽपि ''तमः इदम्'' इति प्रतीतिः यथा भवति किन्तु शशविषाणस्य प्रतीतिः मायया कथं न भवति?

बलिराम शुक्ल : शशविषाणस्यापि भवति इति तेषां मतम्.

गो. श्या. म. : न भवतीति न भवितुम् अर्हति इति न वक्तुं शक्यते.

पारसनाथ द्विवेदी : यदि असतः प्रतीतिः भवति तर्हि शशविषाणस्यापि क्वापि प्रतीतिः भवेत्. यदि न भवति तर्हि तत्र हेतुः मायया न भवति.*

बलिराम शुक्ल : मायायाः एतादृशएव स्वभावः.

के. ई. देवनाथन : मम तु तार्किकरीत्या कश्चित् सन्देहः. रूपसाक्षात्कारं प्रति आलोकः कारणम् इति स्वीक्रियते चेत् तत्र दोषः उक्तः. नीलं तमः इत्यत्र रूपसाक्षात्कारः भवति परन्तु आलोकः तत्र नास्ति इति उक्तम्. आलोकं विनापि रूपसाक्षात्कार भवति. तदर्थं भ्रमभिन्नत्वं निवेश्यते चेत् किमर्थं भ्रमभिन्नत्वं निवेशनीयम्. तत्र ..तदर्थमेव निवेशस्तु न

युक्तः. शास्त्रमर्यादा तथा नास्ति.

प्रह्लादाचार्य : यदि निवेश्यते तर्हि तमोभिन्नत्वम्...

के. ई. देवनाथन : परन्तु मम सन्देहः भवति. रूपसाक्षात्कारं प्रति आलोकः कारणम् इति कार्यकारणभावेपि भ्रमत्वं न निवेशनीयं कार्यतावच्छेदकतया. तथापि दोषः नास्ति. विषयतासम्बन्धेन रूपसाक्षात्कारं प्रति स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्धेन आलोकः कारणम्. यत्र स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्धेन आलोकः भवति तत्रैव रूपसाक्षात्कारं भविष्यति. "नीलं तमः" इति प्रत्यक्षे स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्धेन तु आलोकः नास्ति. अतएव तद्रूपप्रत्यक्षं

प्रह्लादाचार्य : जायते.

के. ई. देवनाथन : विषयतासम्बन्धेन जायते.

प्रह्लादाचार्य : रूपप्रतीतिः जाता.

के. ई. देवनाथन : भ्रमभिन्नत्वन्तु न निवेशनीयम्.

पारसनाथ द्विवेदी : अपरत्र व्यभिचारः अस्ति. चक्षुर्ज्ञानम् आलोकप्रत्यक्षं प्रति आलोकस्य ...

प्रह्लादाचार्य : एतत्तु विचारणीयम्. नैयायिकानां भ्रमः यद् भवति, अन्यथाख्यातिः उच्यते. अन्यथाख्यातिवादिनः नैयायिकाः सत्ख्यातिवादिनः. अन्यत्र सतएव तत्र भानम् अङ्गीकुर्वन्ति.

बलिराम शुक्ल : अन्यत्र विद्यमानस्यैव रजतस्य प्रतीतिः भवति.

पारसनाथ द्विवेदी : रूपी द्रव्यं प्रति आलोकसापेक्षचक्षुः कारणम् उच्यते. आलोकप्रत्यक्षं प्रति आलोकसापेक्षं चक्षुः कारणं नास्ति.

प्रह्लादाचार्य : तत्रैव विचारः उक्तः.

पारसनाथ द्विवेदी : सः नियमः नास्ति.

सच्चिदानन्द मिश्र : आलोकभेदः निवेशनीयः.

प्रह्लादाचार्य : तेजोभिन्नतमोभेद...

सच्चिदानन्द मिश्र : तमोभेदनिवेशस्य आवश्यकता नास्ति.

प्रह्लादाचार्य : आलोकभेदस्य निवेशः आवश्यकश्चेत् ...

के. ई. देवनाथन : तेषाम् अभिप्रायः अयं भवति, तेजोभिन्नत्वं निवेश्यतां किमर्थं तमोभिन्नत्वं निवेश्यते...

सच्चिदानन्द मिश्र : तत्र कथयामि. यस्य प्रतियोगिनः भाने यानि कारणानि अपेक्षितानि भवन्ति तदभावभानेपि तानि कारणानि अपेक्षितानि भवन्ति. तेजो भाने कदाचिदपि तेजसः अपेक्षा न भवति. अतएव तेजोभाव भानेऽपि तेजसः अपेक्षा न भवति.

के. ई. देवनाथन : तेषां मते तेजोभिन्नत्वमेव निवेशनीयम्, तमोभिन्नत्वं न निवेशनीयम्.

पारसनाथ द्विवेदी : तदा न निवेश्यं यदा तेजोभावारूपः तमः यदि अङ्गीकरणीयं तदा न निवेश्यम्. येषां मते तेजोऽभावरूपः तमः नास्ति तेषां मते तु तमोभिन्नत्वं निवेशनीयमेव.

गो. श्या. म. : वैसे व्यामोहिका मायाके तीन कार्य बताये हैं. विद्यमानं न प्रकाशयति, अन्यत्रविद्यमानम् अन्यत्रप्रकाशयति, अविद्यमानमपि विद्यमानत्वेन प्रकाशयति.

प्रह्लादाचार्य : अन्धकारस्य अविद्यमानत्वं कुतः स्वीक्रियते? तत्र का युक्तिः?

गो. श्या. म. : श्रुतिरस्ति.

मणि द्राविड : शुक्तौ रजतभ्रमो भवति तदानीं तत्र त्रैकालिकनिषेधः अनुभूयते. नास्ति रजतं, नासीत्, न भविष्यति इति. परन्तु तमोविषये अत्र तमः नासीत्, नास्ति, न भविष्यति इति तु न अनुभूयते! तर्हि त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं तमसि केन प्रमाणेन सिद्धं भवति?

पारसनाथ द्विवेदी : अद्वैतसिद्धान्ते तमः कारणद्रव्य...

*संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्या. म.

विद्वत्तल्लजैः श्रीपारसनाथमहोदयैः *"यदि असतः प्रतीतिः भवति तदा शशविषाणस्यापि क्वापि प्रतीतिः भवेद् यदि न भवति तत्र हेतुः माययापि न भवति"* इति यः इह पर्यनुयोगः कृतः तत्र इदम् अवधेयम् : भवन्ति हि काश्चन लम्बकर्णाः शशप्रजातयः अपराः च लघुकर्णाअपि. तत्र ये लघुकर्णाः शशाः तेषां भीतिवशाद् सन्देहवशाद् वा कर्णौ उत्थितौ भवतइति अन्धकारे तौ कर्णौ स्पष्टतया अभासमानौ क्वचित् शृंगवद् भासितौ न भवेतामिति राजाज्ञा न उपलभ्यते. तस्मात् शशाः शृंगरहिताएव भवन्ति इति तथ्यम् अजानतो बालकस्य अन्धकारे "शशो अयं शृंगी" इति भ्रमः सुशकएवेति प्रतिभाति.

किञ्च *"सत् चेद् न बाध्येत असत् चेत् न प्रतीयेत. प्रतीयते बाध्यते च तस्माद् सदसद्विलक्षणं मिथ्या"* इति केवलाद्वैतिनाम् अभिगमः. तथात्वे व्याप्त्याकारस्तु "यत्र असत्वं तत्र प्रतीत्यनर्हत्वम्" इत्येव न पुनः "यत्र प्रतीत्यनर्हत्वं तत्र असत्वम्" इति, नष्टभाविनोः द्रव्ययोः प्रतीत्यनर्हत्वेऽपि असत्वानभ्युपगमात्.

किञ्च "यत्र सत्वं तत्र अबाध्यत्वम्" इति व्याप्तेः स्वप्नादौ व्यभिचारं समालोच्यैव यथा पारमार्थिकसत्वप्रतीतेः बाधानर्हत्वं लक्षणं किल स्वीकृतं तथैव "यत्र असत्वं तत्र प्रतीत्यनर्हत्वम्" इत्यस्यापि नियमस्य व्यभिचारो मिथ्याप्रतीतौ अंगीकारे का बाधा? न कापि इति मन्ये. सति चैवं सत्वेऽपि बाधादेव यथा मिथ्यात्वनिर्धारः तथा असत्वेऽपि प्रतीयमानत्वेनैव मिथ्यात्वं निर्धारणीयम्. नच एतावता *"असतोऽपि प्रतीतिः भवति चेत् तदा शशविषाणस्यापि क्वापि प्रतीतिः भवेद्"* इति युक्तिः वक्तुं युक्ता.

किञ्च बाधार्हमिथ्याप्रतीतौ भासमानस्य वस्तुनो अनिर्वचनीयप्रकारकं सत्त्वन्तु सम्भवितुम् अर्हति चेत् तदा अबाधितस्यापि ब्रह्मणः क्वचिद् अनिर्वचनीयो बाधः कुतो न सम्भवेद्? सदसतोः समानयोगक्षेमात्.

वस्तुतस्तु **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"** (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुत्यनुरोधेन प्रपञ्चरूपोपाधौ ब्रह्मत्वप्रतीतिः यथा शुद्धाद्वैतवादिभिः ज्ञानमार्गीयोपासकानाम्

अभ्रमात्मिकैव अभ्युपगता तथैव अशुद्धचेतसाम् उपनिषद्वाक्यार्थ-श्रवणमनननिदिध्यासनरहितानां मूढानां वा दाम्भिकानां वा यत्र-क्वापि सर्वत्र वा ब्रह्मताप्रतीतिः बाधार्हभ्रान्तिरूपापि अंगीक्रियते. तस्यैतस्याः शक्योभयविधायाः प्रतीतेः केवलाद्वैतवादिभिः अबाध्यत्वांगीकारे तु स्वमतहानिः. अथ बाध्यत्वांगीकारेतु ब्रह्मत्वमपि क्वचिद् उपाधौ बाधार्हम् इति अकामगलेपतितं भवत्येव.

सति चैवं बाधार्हत्वमपि यथा न मिथ्यात्वगमकं तथैव प्रतीत्यनर्हत्वमपि असत्वगमकं मा भूत्. तथात्वेतु "यदि शशविषाणस्य प्रतीतिः न भवति तत्र हेतुः माययापि न भवति" इति वाचोयुक्तिरपि विचारणीयैव भवति. अभ्युपगतन्तु **"सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं यद्यपि तुच्छानिर्वचनीययोः साधारणम्"** (अद्वै.सि.१। मिथ्या. निरु.प्रक.) इति श्रीमधुसूदनसरस्वतीभिरपि.

यच्च **"तथापि क्वचिदपि उपाधौ सत्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् असत्वम्"** (तत्रैव) इति असत्वलक्षणविधानं, तत्तु असत्वस्य प्रतीत्यनर्हतायाः खलु आपादकं नतु क्वचिदप्युपाधौ प्रतीत्यनर्हत्वस्य असत्वापादकत्वे पर्याप्तं, ब्राह्मिकदेशकालापरिच्छेद्यत्वस्य प्रतीत्यनर्हत्वेऽपि असत्वासम्भवात्. तस्य च पुनः **"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म"** इति श्रुत्या शाब्दप्रतीत्यंगीकारेतु इदानीम् क्वचिदप्युपाधौ अनुपलभ्यमानोऽपि भविष्यत्काले कदाचित् "शृंगवान् शशो उत्पत्स्यते, भूतकालीनः सिंहघात्यष्टपादशरभपशुवद्" इतीदृशी शाब्दप्रतीतिः कथम् अनंगीकरणीया भवेत्. इदानीन्तु नूनं शरभस्यापि क्वचिदपि उपाधौ प्रतीत्यनर्हता शृंगवच्छशतुल्यैव.

तस्माद् इतरेतरात्यन्ताभावरूपता, इतरेतरात्यन्ताभावव्याप्यता, इतरेतरात्यन्ताभावव्यापकता, चेति इतरेतरविरोधस्य त्रैविध्यात्, तेषु कतमत्प्रकारको हि इतरेतरविरोधः तुच्छमिथ्याभूतयोः अंगीकरणीयः इति विचारणीयं भवति. तत्र न आद्यः सत्वासत्वमिथ्येति कोटित्रयांगीकारेण असत्वात्यन्ताभावस्य मिथ्यात्वात्यन्ताभावस्य वा इति अन्यतरयोः सत्वरूपत्वसम्भवेन असत्वमिथ्यात्वान्यतरत्वासम्भवात्. नापि इतरेतरात्यन्ताभावव्याप्यता मन्तुं शक्या, यस्मात् सातु "यत्र मिथ्यात्वं तत्र असत्वाभावो यत्रच पुनः असत्वं तत्र मिथ्यात्वात्यन्ताभावः" इत्याकारिकां व्याप्तिं घटयेत् तेनच ब्रह्मज्ञानात् पूर्वं भासमानस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वेऽपि द्वैतबाधाद् ऊर्ध्वं द्वैतस्य तुच्छत्वांगीकारो

''बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्वं ब्रह्मज्ञानोत्तरकाले विनष्टस्य शून्यतायां कस्यापि अविवादाद्'' (विव.प्रमे.संग्र.१।७५) इति विवरणोक्त्या विरुद्ध्येत. नापि तृतीयः, तत्र व्याप्त्याकारस्तु ''यत्र मिथ्यात्वात्यन्ताभावः तत्र असत्वं, यत्रच असत्वात्यन्ताभावः तत्र मिथ्यात्वम्'' इत्येवंप्रकारको हि अंगीकार्यो भवेदिति इहापि ब्रह्मणि मिथ्यात्वात्यन्ताभावस्येव असत्वात्यन्ताभावस्यापि अभ्युपगमेन तत्रच असत्व-मिथ्यत्वयोः अनभ्युपगमेन पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यं प्रतिभाति.

सर्वथापितु एतस्यां चर्चायां एतद्विचारकोटिक्रमाणां अग्रे प्रवर्तनेन तत्र भवतां श्रीमतां पारसनाथद्विवेदिमहोदयानां भृशं स्वकीयम् आधमर्ण्यं विज्ञापयन् विरमामि.

वाल्लभ-शांकरवेदान्तयोः अन्धकारविषये तौलनिको विमर्शः

प्रो. पारसनाथ द्विवेदी

इदन्तु अवधेयम् अन्धकारवादे यः द्रव्यान्तरतानिरास स न युक्तिसहः. तथाहि, तत्त्वप्रदीपिकाकारमतम् अनुदितं ''तस्मान् न अभावरूपं किन्तु मनोवद् अस्पर्शपरमाण्वारब्धं तमः इति'' तत् न ग्रन्थकारस्य मतम्. अपितु नवद्रव्यविभागं कुर्वतः तमो न द्रव्यम् इति वदतां नैयायिकानां मतेऽपि युक्तिबलाद् तेषां प्रक्रिययेव द्रव्यान्तरत्वं साधितम्. स्वमतं तु तत्रैव प्रदर्शितम् **''किञ्च अस्मन्मते न तमः तमोऽवयवैः आरब्धं तस्य मूलकारणान् मेघमण्डलान् महाविद्युदादिजन्मवद् जन्माभ्युपगमाद्''** (चि. पृ.४७).

आरम्भवादेऽपि प्रौढयुक्तिभिः तमो अणुभिः आरब्धं तमः. मनश्च आरम्भकत्वम् उपपादितम्. नतु स्वमतसिद्ध आरम्भवादः. तस्मात् तत्त्वप्रदीपिकाकारस्य मतोपस्थापनम् आरम्भवादं स्वीकृत्य कृतम् इति विपरीतं प्रतिभाति. परमाणोः अस्वीकारात् सत्कार्यवादाङ्गीकाराच्च अद्वैतिनां मतं पृथगेव. रूपवत्त्वात् चलत्वात् च तमसो द्रव्यान्तरत्वं साधितम् अन्येषु द्रव्येषु अनन्तर्भावात् पारिशेष्याच्च. नच अद्वैतसिद्धान्ते परमाणुभिः आरब्धं द्रव्यम् अङ्गीक्रियते. तस्मात् द्रव्याद्रव्यविभागं कुर्वतां वैशेषिकादीनां नवैव द्रव्याणि इति अभ्युपगमनिरासाय तमसो द्रव्यत्वं साधितम्.

सिद्धान्तेतु तमः मूलकारणाद् मायावद् ब्रह्मणः सकाशात् झटिति बलाहकाद् विद्युदिव तमो जायते.

गृह्यते च आलोकनिरपेक्षचक्षुषा. तदुक्तम्

तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे।
द्रव्यान्तरं तमः कस्माद् अकस्माद् अपलप्यते।।५।।

चक्षुः प्रकाशनाजन्यरूपवद् वीक्षणक्षमम्।
रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम्।

चक्षुरालोकाजन्यरूपि-द्रव्यसाक्षात्कारजनकं रूपिग्राहकेन्द्रियत्वाद् त्वगिन्द्रियवत् इति अनुमानं निर्दुष्टं तत्र उपपादितम्.

स्वसिद्धान्ते तु साक्षिवेद्यं तमः उपहितब्रह्मणएव झटित्युत्पद्यते लीयते च इति. अतएव उक्तं तत्रैव नयनप्रसादिन्याम् "साक्षिवेद्यं स्वराद्धान्ते ध्यान्तं तच्चाक्षुषं पुनः, आचार्योऽसाधयद्युक्तिवैभवं स्वं विभावयन्".

किञ्च मनस्त्वं स्पर्शवद्वृत्तिवेगवद्वृत्तिजात्यन्यद्, मेयत्वाद् घटवद् इति अनुमानेनापि द्रव्यान्तरत्वं सिध्यति. समन्वयश्च इत्थम् -स्पर्शवन्तः पृथिवीजलतेजोभावाः तद्वृत्तिः जातिः वेगवद्वृत्तिः मनस्त्वम् तदन्यत्वं घटादौ मेयत्वञ्च. पक्षे च स्पर्शवदवृत्तिवेगवद्वृत्तिजातिं तमस्त्वमायायैव साध्यसमन्वय इति तमस्त्वजातिः सिध्यति. तादृशजात्याश्रयः तमः, तथा च द्रव्यान्तरत्वं सिध्यति. एवञ्च अद्वैतसिद्धान्ते मायाविशिष्टब्रह्मणएव तमो जायते. अत्र अन्धकारवादे च इत्थं खण्डितम्

न तद् द्रव्यमसौत्रत्वाद् नान्यो नामादिभेदतः।
मायेत्युक्तेः पुराणे स्यात् मायाकार्यान्तरं तमः।

सूत्रपुराणादिस्मृतौ अनुक्तत्वात् तमसः द्रव्यान्तरत्वे न अनुक्तत्वात् न द्रव्यं तमः इति. तत् न युक्तं प्रतिभाति. मायाकार्यं तमः इत्यादेरपि सूत्रादौ अनुक्तत्वात्. नच "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत" इत्यादि-भागवतस्मृतिवचनं प्रमाणम् इति वाच्यम्. अस्य वाक्यस्य अद्वैतमतेऽपि द्रव्यत्वपक्षे योजयितुं शक्यत्वाद्.

यच्च उक्तं समवायिकारणत्वाद् गुणाश्रयत्वाच्च द्रव्यत्वम् आद्रियते इति चेत् मा एवम्, आरम्भकसिद्धेः आरभ्यसिद्ध्यधीनत्वात्. प्रतियोगिप्रतिबद्धप्रतीकतयापि. क्रियावत्त्वादिप्रतीतिनिर्वाहे तदारभ्यतायाएव वादकवलितत्वेन आरम्भकासिद्धौ समवायितायाः दूरनिरस्तत्वाद्. एतदपि न

चित्सुखीग्रन्थस्य खण्डनाय अलम्.

यतः तमसः क्रियावत्त्वं प्रतिपादितं तत्र. नच प्रतियोगिनः आलोकस्य क्रिययैव तमसि क्रियाप्रतिपत्तिः न स्वतश्चलनादिप्रतीतिः इति वाच्यम्. अनुपपत्तेः, एतद् अच्छङ्कायाः समाहितत्वाच्च. मनसोऽपि आरम्भकत्वं प्रतिपादितम्. आरभ्यस्य भोगादेः सम्भवाद् आरम्भकस्यापि तमः परमाणूनां कल्पनोपपत्तेः.

यच्च उक्तं "गुणाश्रयत्वेन साधनेऽपि पृथिव्याम् अनिवेशं वदता नीलरूपातिरिक्तगुणानङ्गीकाराद् आद्यक्षणे तदभावेन तस्यैव असिद्ध्या द्रव्यत्वस्य दूरनिरस्तत्वाद्" इति तदपि न सम्यक्, नीलरूपातिरिक्तगुणानां संयोगविभागसङ्ख्यादीनां सम्भवात्. पृथिव्याम् अनिवेशेऽपि नीलरूप-गुणसम्भवादेव द्रव्यान्तरत्वसिद्धेः. न च आद्यक्षणे नीलरूपादिगुणस्य अभावादेव न द्रव्यत्वम् इति वाच्यम्. एवं तर्हि किमपि द्रव्यं कार्यं न स्यात्. उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति इति सिद्धान्तात्. अतः गुणक्रियात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव गुणक्रियावत्त्वम्. नच गुणस्य क्रियाया वा अत्यन्ताभावाधिकरणता द्रव्ये भवति इति. अतः तमसः कार्यस्य आद्यक्षणेपि नीलरूपात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् अस्त्येव. तमस्त्वजात्याश्रयत्वेन द्रव्यान्तर-त्वसिद्धिः. यदपि उक्तं भाट्टमतानुसरणम् इति, तदपि न, स्वसिद्धान्तस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वात्, परमतम् आश्रित्यादि युक्तिभिः तद् निरूपणं न दोषावहम्. न हि एतावता स्वसिद्धान्तो भवति. अतः याचितकमण्डनवद् आडम्बरमात्रम् इति उपहासोऽपि अस्थानएव.

किञ्च वाल्लभसिद्धान्तेऽपि या माया व्यामोहिका अङ्गीकृता तस्याअपि तमःकारणत्वम् असम्भवि वादकवलितत्वादेव. न च व्यामोहिकायां मायायां तादृश्यां किञ्चिद् प्रमाणं पश्यामः. श्रुतिस्मृतिप्रतिपादितायाः माया या यत् स्वरूपा सा वाल्लभसम्मतैव न अद्वैतसम्मतेति प्रमाणैः वक्तुम् अशक्यत्वात्. द्वितीयाध्यायस्थोक्तभागवतवाक्यस्य च सकलप्रपञ्चोपादानभूत-ब्रह्माधिष्ठानक-मायायामपि योजयितुं शक्यत्वात्. अतः उक्तदृष्टान्तसङ्गतिरपि

अद्वैतवेदान्तपक्षे न विरुद्धा.

व्यामोह: आवरणकत्वं अन्यथाकरत्वं सर्वम् एतद् अद्वैतसम्मतमाया(या)मपि समानम् इति दिक्.

चर्चा

वाल्लभ-शांकरवेदान्तयोः अन्धारविषये तौलनिको विमर्शः

डॉ. पारसनाथ द्विवेदी

गो. श्या. म. : श्रीपारसनाथजीने पूर्वपक्षका अनुवाद इतने सुंदर ढंगसे किया उसकेलिये मैं उनको अभिनन्दन देना चाहूंगा. रही बात ये कि श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने पूर्वपक्षका अनुवाद भलीभांति नहीं किया है. सच कहूं तो मातृकाओंमें मुझे जो पाठ उपलब्ध हुवे वो काफी सन्दिग्ध थे. इसलिये अन्धकारवादके अन्तमें मैने यही लिखा है कि "मायायाश्च धवायैव माधवाय समर्पितं, क्षमन्तां साधवः सर्वं मातृदोषतमस्कृतम्". एक तकलीफ यह भी रही की अन्य कई वादोंकी प्रतियां श्रीपुरुषोत्तमचरणोंके स्वहस्ताक्षरमें मुझको उपलब्ध हुई थी मगर इस वादकी प्रति मुझको श्रीपुरुषोत्तमचरणोंके स्वहस्ताक्षरोंमें उपलब्ध नहीं हुई. इसलिये मैं स्वयं उनके पाठके बारेमें सन्देहग्रस्त हूं. ऐसा भी सम्भव है कि तत्त्वदीपिकाकार कोई ओर हों. जब तक शुद्ध पाठ उपलब्ध न हो तब तक इस सम्बन्धमें कुछ भी कहनेमें मैं असमर्थ हूं.

व. ना. झा : मायाके बारेमें आप कुछ स्पष्टीकरण करें.

गो. श्या. म. : मायाके सम्बन्धमें सुबोधिनीकी भूमिकामें मैने विस्तृत विवेचन किया है. मायाका अर्थ निरुक्त और निघण्टु में बुद्धि भी किया गया है. तो माया कहीं भगवान्की बुद्धिरूपा है. कहीं माया भगावन्की सामर्थ्यरूपा है. कहीं वो परवञ्चनेच्छारूपा है. महाप्रभुका दृढतर आग्र है कि "ये धातु-शब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिता, तथैवार्थो वेदराशे कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्". इस प्रतिबद्धतासे आचार्यचरण वेदान्तव्याख्यानमें प्रवृत्त हुवे हैं. अतः जो-जो अर्थ प्रसिद्ध हैं उनको लेकर रही अर्थ करना चाहिये, मनस्वी अर्थ नहीं करना चाहिये.

अतः ऐसा नहीं है कि सर्वथा असौत्र है. सूत्रमें नहीं आया है तो न सही परन्तु गीता, पुराणादिमें व्याख्यानमें वो बातें आयी हैं. और मैने अपने आलेखपत्रमें भी मायाके अनेक प्रभेदोंका विवेचन किया है. उसके विस्तारमें अभी नहीं जा रहा हूं. लिखितरूपमें उसका स्पष्टीकरण करूंगा. पर सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाका कार्य तमस् नहीं है, व्यामोहिका मायाका कार्य तमस् है. और यदि अद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे देखा जाये तो तूलाविद्या, मूलाविद्या जैसे प्रभेद वहां भी हैं ही. और सिद्धान्तलेशसंग्रह ग्रन्थको देखें तो मायाको लेकर कितने सारे पक्ष दिखाये हैं. हम तो शुद्धाद्वैती होनेके बावजूद कम पड़ जायेंगे, क्योंकिं द्वैतको मिथ्या नहीं मानते, थोड़ा द्वैत पैदा किया है, पर केवलाद्वैतमें मायाके जितने भेद हैं वो तो नैयायिकोंको भी सहन नहीं होंगे.

बलिराम शुक्ल : एक प्रश्न उपस्थित होता है. मायाके इतने भेद किये हैं, ईश्वरेच्छारूपा माया ये सब नित्य है कि अनित्य?

गो. श्या. म. : भगवान्की सारी माया नित्य है.

बलिराम शुक्ल : नित्य हैं. और नित्य होते हुवे अनेक हैं. तो फिर यदि एक ही मायासे काम चल सकता हो तो अनेक माया माननेकी क्या आवश्यकता है? भगवान् नित्य हैं और भगवान्की माया भी नित्य है तो फिर एक ही मायासे सारा काम हो सकता है.

पारसनाथ द्विवेदी : एक ही मायासे शक्तिभेद कैसे होगा?

बलिराम शुक्ल : भिन्न-भिन्न शक्ति माननेकी क्या आवश्यकता है? सर्वशक्तिमान् ईश्वर होनेसे एक ही मायासे सब कुछ हो सकता है.

गो. श्या. म. : जैसे आपके यहां जीवात्मा विभु है. अब एक ही जीवात्मा सर्व शरीरोंमें वैसे भी है और वैसे भी है, फिर भी आपने अनेक जीवात्मा आपने मानी है.

बलिराम शुक्ल : जीवात्माकी विविधता तो इसलिये है कि प्रयोजन...

गो. श्या. म. : इसी तरह प्रयोजनविशेषसे हमने भी मायाकी विभिन्नता स्वीकारी है. क्योंकि कुछ शास्त्रवचनोंका अर्थ व्यामोहिका मयामें घटित नहीं हो सकता है. जैसे योगमाया. योगमाया व्यामोहिका नहीं

होती है. और यदि व्यामोह भी करती है तो आधिदैविक व्यामोह करती है.

बलिराम शुक्ल : आपके यहां ब्रह्ममें विरुद्धधर्म होते हैं तो मायामें भी विरुद्धधर्म क्यों नहीं रह सकते हैं?

गो. श्या. म. : सबसे पहले तो श्रुति यह कहती है कि ''इन्द्रो मयाभिः पुरुरूप ईयते''. श्रुति 'मायया' नहीं कहती है. अतः बहुवचन श्रुतिमें ही श्रावित है. दूसरी बात यह है कि जब भी हम अनेकत्व कहते हैं तो वह ऐसा एनेकत्व नहीं है कि जो आत्यन्तिक हो. न वो आत्यन्तिक एकत्व है. एकत्वसहिष्णु अनेकत्व प्रकट हुवा है. ऐसा एकत्व हम ब्रह्मका मानते हैं.

पारसनाथ द्विवेदी : जब एकत्व सहिष्णु अनेकत्व अथवा अनेकत्व सहिष्णु एकत्व कहते हैं तो दोमेंसे एक तो भ्रान्त...

गो. श्या. म. : नहीं. क्योंकि शास्त्रवचनमें इसी तरहसे निरूपण है.

पारसनाथ द्विवेदी : शास्त्रवचन तो अवच्छेदभेदेन...

गो. श्या. म. : हो सकता होगा. वो आपकी व्याख्यानपद्धति होगी. हमारी व्याख्यापद्धति ऐसी है कि यदि अनेकत्व श्रुत है उसको अनेक मानकर चलते हैं, जहां एकत्व श्रुत है वहां एक मानकर चलते हैं.

पारसनाथ द्विवेदी : येनैव सम्बन्धेन यदवच्छेदेन एकं वस्तु तेनैव सम्बन्धेन तेनैव अवच्छेदेन तत्र अभावः भवतुम् अर्हति इति बुद्धौ न ...

गो. श्या. म. : बहवोऽपि विषयाः बुद्धौ न समायाति. श्रुतिः तत्र अनुसन्धेया. ''श्रवणायापि बहुभिर् यो न लभ्यः, श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्, आश्चर्यो वक्ता कुशलो...

पारसनाथ द्विवेदी : श्रुत्युपपादनायैव अनुकूलस्तर्कः...केवलं तर्कस्य प्रयोजनं नास्ति. क्वचिदपि वह्निः शीतलम् इति न उक्तम्.

गो. श्या. म. : भगवत्पादशङ्कराचार्या एवं वदन्ति ''न हीदम् अतिगम्भीरं भावगम्यं केवलया युक्त्या कल्पयितुमपि शक्यम्, शास्त्रगम्यत्वा-च्चास्य अर्थस्य''. यथा शास्त्रैकगम्यत्वं तस्य सिद्ध्यति तथा अस्माभिः निरूप्यते.

कृष्णमूति शास्त्री : लौकिकज्ञानामपि मन्त्रौषधिसामर्थ्यादीनां विचित्रकार्यकरत्वं

लोके न तर्कितुमपि शक्यते तथा सैव कथा मायायाम्.

पारसनाथ द्विवेदी : तस्मिन्नेव अधिकरणे यत्सम्बन्धेन यदवच्छेदेन कश्चिद् भावपदार्थः तत्रैव तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धेन कथं तस्य अभावो भवति?

गो. श्या. म. : अस्मन्मते अभावः तिरोभावातिरिक्तं न भवति इति श्रीमदाचार्यचरणैः निरूपितम् अस्ति.

पारसनाथ द्विवेदी : भावएव अस्ति किन्तु तिरोभूतः. तिरोभूतः इति कथ्यतां नास्ति इति उच्यतां, तत्र को भेदः?

गो. श्या. म. : नञर्था षट् प्रकीर्तिता. तत्र एकस्मिन्नेव अर्थे नञर्थं संग्रह्य भवद्भिः उच्यते चेत् तदा वयम् अपराधिनः. असुरो न सुराभावः, सुरविरोधी.

पारसनाथ द्विवेदी : यथा घटे पटस्य अभावो अस्ति, तिरोभूतम्. सर्वं सर्वत्र अस्ति. क्वचित् तिरोभूतं क्वचित् आविर्भूतम्. तर्हि वन्ध्यापुत्रस्यापि तिरोभावम् अङ्गीक्रियताम् यथा घटे पटस्य कदाचितपि प्रादुर्भावो नास्ति तथैव वन्ध्यापुत्रस्यापि कदाचिदपि...

गो. श्या. म. : इदानीं वन्ध्यापुत्रस्य प्रादुर्भावो जातो अस्ति युरोपे. सप्ततिवर्षीया वन्ध्यैव आसीत यस्य रजोदर्शनमपि न आसीत्. तया च गर्भधारणं कृतम्.

बलिराम शुक्ल : वन्ध्या इत्यस्य को अर्थः?

गो. श्या. म. : वन्ध्या इत्यस्य यः कश्चन अर्थो भवेत्, सा तु वैद्यकैः वन्ध्यात्वेन सर्वथा निर्धारिता. यदि कृत्रिमगर्भाधानविधेयः(?) न प्रादुर्भावितः स्युः...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मम एवं प्रतिभाति. वन्ध्यापुत्रम् अत्यन्तम् असन्न इति वक्तृणाम् अयम् आशयः. यदा पुत्रो जातः तदनन्तरम् ''अस्य माता वन्ध्या'' इति न वक्तव्यम् इति. वन्ध्यत्वं नाम प्रसवराहित्यम्.

गो. श्या. म. : सामर्थ्ये...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अयम् उच्यते तस्य छात्रस्य प्रयतकं परीक्षायां सर्वे वन्ध्याः. अस्य एम्.पी. महाशयस्य इलेक्शन् मध्ये सर्वे प्रयतकाः वन्ध्याः. इत्युक्तौ को अर्थः? वन्ध्यप्रयतक्त्वेपि इलेक्शन् कृतम् इति उक्तौ, इलेक्शन् कृतम् अनन्तरं वन्ध्याप्रयतक्म्. परस्परं विरुद्धं... कदा

विरुद्धम् इति उक्तौ पूर्वम् वन्ध्या, इदानीं सपुत्रा इति उक्तौ एतद् दृष्ट्या एतत् पुत्रस्य माता वन्ध्या इति प्रयोगः केनापि न कर्तव्यः. यस्य पुत्रएव नास्ति सा वन्ध्या. परन्तु पारसनाथमहाभागानां प्रश्नः केवलम् आक्षेपार्थम्. यत्र यत् येनरूपेण यदवच्छेदेन यत्सम्बन्धेन वर्तते तत्र तेन तत्सम्बन्धेन तदवच्छेदेन अभावे अस्माकं मुख्यः पक्षः समर्थितः. कथम् इति तु एवं पूपक्षरीत्या पृच्छते. कुतः इति उक्तौ पारमार्थिकत्वावच्छिन्नं प्रतियोगित्वम् इति यः पक्षः स मन्दाधिकारिणां कृतः. अद्वैतसिद्धान्ते स्थित्वा भवद्भिः उच्यते चेत्, यथा नैयायिकैः इतरत्र भावाभावयोः अवच्छेदभेदं विनापि विरोधः स्वीकृतः. कुत्रचित् प्रमाण सत्वे अव्याप्यवृत्तिस्थले अवच्छेदकभेदेन विरोधः, एकावच्छेदेन विरोधः इति उच्यते, कुतः? अन्यत्र तथा न दृश्यते इतरेषु व्याप्यधर्मेषु इति उक्तौ प्रमाणसत्व... अत्र मूले संयोगः, अग्रे संयोगाभावः. तद्वत् ''नेह नानास्ति किञ्चन एकमेवाद्वितीयम्'' इति श्रुतिप्रमाणस्य विद्यमानत्वे यदवच्छेदेन यत्र यत् येन सम्बन्धेन प्रतीयते तत्रैव तदवच्छेदेन तत्कालेन तदभावः वक्तुम् अङ्गीकार्यम् श्रुतिप्रमाणशरणैः इति तु अस्माकं सिद्धान्तः.

पारसनाथ द्विवेदी : वल्लभमते सदसदात्मकं कुतः उपपद्यते ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र मया इदं वक्तव्यम्. अप्पय्यदीक्षितानां बहवः ग्रन्थाः. सर्वमतरीत्यापि व्याख्यानं कृतम्. वैष्णवपरत्वेन, शिवपरत्वेन ब्रह्मसूत्राणाम्. तत्तु सर्वैः ज्ञातं सुप्रसिद्धम्. तैः सर्वत्र मुद्रारूपेण एकः श्लोकः क्रियते ''उद्घाट्ययोगकलयः हृदयाब्जकोषम् धन्यैः ..दिभि यो गृह्यमाणः, ...तु ...मुकुन्दः'' इति श्लोकः बहुषु ग्रन्थेषु मङ्गलश्लोकः. तत्र वरदराजस्तवः तैः चतुरुत्तरशतं श्लोकाः लिखिता. तत्र एको विषयः वल्लभमतानुसारेण उक्तः. कृष्णावतेरे बाललीलासु स्तन्यपानं पिबन् मृद्भक्षणलीला तत्र मुखं विदारयन् अतिपरिच्छिन्ने मुखे अपरिच्छिन्नं सर्वमपि विश्वं दृष्टवति. परिच्छिन्नत्वं पारमार्थिकम् अपरिच्छिन्नत्वं व्यावहारिकम् इति न, व्यावहारिके परिच्छिन्ने मुखे व्यावहारिकमेव अपरिच्छिन्नं सर्वमपि सा दृष्टवति इति उक्तौ भगवतः तादृशी शक्तिः अस्ति. एकस्य न्यूनसत्ताकत्वम् अन्यस्य

अधिकसत्ताकत्वम् इति अङ्गीकारं विनापि दर्शयितुं शक्यते इति ईश्वरस्य महिमा इति. तन्मते स्थित्वा भक्तिग्रन्थरचनाय उभयमपि अविरुद्धम्, तथैव तैः दर्शनात्.

गो. श्या. म. : अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति. कृष्णः यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सकलजगदाधारो भवति.

पारसनाथ द्विवेदी : उभयमपि अविरुद्धम् इति तु केन न अवमन्यते?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सत्ताभेदस्वीकारं विनापि भवितुम् अर्हति ईश्वरस्य ईश्वरत्वात्.

पारसनाथ द्विवेदी : यदवच्छेदेन यस्मिन् काले, यस्मिन् देशे यत्सम्बन्धतया यत् प्रतीयते तस्मिन्नेव तत्काले तद्देशे तदभावः कथं वक्तुं शक्यते? अवच्छेदभेदेन कालभेदेन तु सर्वैः भावाभावौ अङ्गीक्रियते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्रमाण सत्त्वे सर्वम् अङ्गीकार्यम्.

गो. श्या. म. : यत्रापि अस्माभिः 'अभाव'पदप्रयोगः क्रियते तत् तिरोभावार्थकमेव.

पारसनाथ द्विवेदी : तिरोभावएव भवतु.

बलिराम शुक्ल : तिरोभावोऽपि भावरूपएव. द्वयोरपि भावयोः विरोधो नास्ति इति तेषाम् आशयः.

गो. श्या. म. : असुरवत्. यथा कैलाशे महादेवसन्निधौ सुरासुरयोः सान्निध्यं भवति यद्यपि द्वयोः विरोधिता वर्तते.

पारसनाथ द्विवेदी : अभावपदार्थस्य अनङ्गीकारे अङ्गीक्रियते तिरोभावम्. तर्हि तिरोभावः इत्यस्य को अर्थः? पदार्थस्य सत्ता अस्ति?

बलिराम शुक्ल : पदार्थस्य सत्ता अस्ति...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : कार्यकरत्वं नास्ति.

बलिराम शुक्ल : ...परन्तु तस्य प्रतीतिः न जायते इति तेषाम् आशयः.

गो. श्या. म. : तिरो पश्चाद्भावः.

पारसनाथ द्विवेदी : यदि सत्ता स्यात् तर्हि स्वरूपेण नास्ति, कारणात्मना अस्ति इति वक्तव्यम्.

बलिराम शुक्ल : प्रतीतिः न जायते इत्येव ते वदन्ति.

पारसनाथ द्विवेदी : कार्यत्वेन प्रतीतिः न जायते. इति तु अद्वैतिनामपि मते

सम्मतमेव.

गो. श्या. म. : पिशाचस्य अत्र तिरोभावो अस्ति, दृष्टुन्तु न शक्यते अस्माभिः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अन्यदपि पत्रे सन्देहाः सिन्ति. एकन्तु, तमसः केवलस्य आवारकत्वम् अस्ति, अन्यथाकरत्वं भवति वा?

पारसनाथ द्विवेदी : अन्यथाकरत्वमपि अस्ति. अन्धकारे किञ्चिद् वस्तु अस्ति, वृक्षस्थाणुरस्ति. तत्र अन्धकारात् ..स्थाणु प्रेतत्वभ्रमो भवति, क्वचित् सर्पभ्रमो द्रश्यते. गाढान्धाकरे नास्ति, मास्तु. किन्तु भूतभ्रमः, प्रेतभ्रमः इति अनेके भ्रमाः सन्ति. अन्यथाकरत्वन्तु प्रसिद्धम्. लोक अनुभूयते.

गो. श्या. म. : अल्पान्धकारे रक्तवर्णस्य कृष्णवर्णता प्रतीयते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अन्धकारस्य तादृश दृढता वर्णनप्रसङ्गे ''लिम्पतीवतमोङ्गानि वर्षती ...''...तस्य वर्णः तादृशः सुदृढः इति अन्येषामपि स्वसावर्ण्यं सम्पादयति. तस्माद् रक्तवर्णस्यैव परिच्छेदो मास्तु, रक्तवर्णो वा, शुक्लवर्णो वा, पीतवर्णो वा.

गो. श्या. म. : एतत्तु प्रयोगसिद्धम् अस्ति. अन्येषां वर्णानां कदाचित् भवेत् कदाचित् न भवेत्. रक्तवर्णस्य तु कृष्णवर्णता अन्धकारे नियतैव.

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्याम मनोहर

विद्वत्तल्लजाः श्रीमन्तः पारसनाथमहोदयाः चतुर्विधसौगततन्त्र-केवलाद्वैत-वेदान्ताद्यनेकतन्त्रपारंगताः अस्मदायोजितासु विद्वत्संगोष्ठीषु सर्वदा स्ववैदुष्यमहिम्ना चर्चागाम्भिर्यं समभिवर्धयन्तीति वाल्लभवेदान्तीयान्धकारवादीयायां संगोष्ठ्यामपि समाहूताः स्वकर्तव्यभारं निर्वोढुं ''इदन्तु अवधेयम् अन्धकारवादे यो द्रव्यन्तरतानिरासः स न युक्तिसहः'' इति प्रतिपादयन्ति.

ततश्च मयापि इदम् अत्र तावत् प्राथम्येन विचार्यते : तमो हि भावात्मकं द्रव्यान्तरं भवितुम् अर्हति न वा इति. तस्यामेतस्यां विचिकित्सायां मायिकस्य तमसो हि सत्ता व्यावहारिकी वा प्रातिभासिकी वा मन्तव्या? यस्मात् शांकरवाल्लभवेदान्तयोः मिथो विप्रतिपत्तिमूलम् इहैव नेतरत्र इति मे मतिः.

तत्र सत्तात्रैविध्यवादिभिः शांकरैस्तु अन्धकारस्य व्यावहारिकी सत्ता अभ्युपगता, द्वैविध्यवादिनान्तु पुनः अपरैव काचन कथा. अथ वाल्लभवेदान्ते तावत् सत्तात्रैविध्यांगीकारो हि सर्वथा विप्रतिपन्नो ''न असतो विद्यते भावो, न अभावो विद्यते सतः'' (भग.गीता.२।१६) इति भगवद्वचनानुरोधाद्. अतोहि वस्तुतस्तु असतोरेव तमसो मायया सदिव प्रतिभासएव केवलो न पुनः प्रातिभासिकी सत्ता नामेति सत्तायाः कश्चन तृतीयः प्रकारो अभिमतः. तस्माद् वाल्लभसिद्धान्ते असत्ताद्वैविध्यस्य विवक्षितत्वेन एका तावत् स्वभावतः प्रतीत्यनर्हा असत्ता, अपरा हि स्वभावतस्तु तथाभूतापि मायाप्रभावतः प्रतीतिगोचरताम् आपद्यते इति विवेकः. ननु असतो द्वैविध्यं न सम्भवति असत्त्वादेव इति शंकनीयं, ''शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो विकल्पः'' इति न्यायेन असतो द्वैविध्यमपि शब्दज्ञानानुपाति नतु वस्तुस्वभावानुपाति इति वेदितव्यम्. ततोहि मायाप्रयुक्ते असत्प्रतिभासेऽपि वस्तुनो मौलिकम् असत्त्वं नापैति. तेनैतेन आभासेन बुद्धेः व्यामोहने तु मुग्धे द्रष्टरि सत्त्वनिश्चयविपर्यासात्मिका अन्यख्यातिः तत्र बुद्धौ उत्पद्यते. क्वचित्तु बुद्धिविपर्यासाभावेन अमुग्धस्यापि नरस्य तेजस्तिरोभावविशिष्टदेश-तदवलोकनपरनयनयोर्हि मध्ये असन्नपि अन्धकारो मायया सद्वत् प्रदर्शितो भवति. इत्येवं व्यामोहिकायाः मायायाअपि स्वकार्ये द्वैविध्योपलम्भेन पूर्वत्र अन्यख्यातिः अपरत्र अन्यथाभानमेव केवलम् इति वाल्लभो विवेकः.

उभयोरपि प्रकारयोः एकत्र बुद्धिव्यामोहो अपरत्र चक्षुर्व्यामोहएव वा, मायया क्रियते. न पुनः असद्वस्तुनः सत्त्वापादनं, सत्त्वप्रतिभासमात्रेण मायायाः व्यामोहनप्रयोजनपूर्तेः वक्तुं शक्यत्वात्. अतोहि असतः सत्त्वप्रकारकप्रतीतिजननेन कृतकृत्या हि माया नहि असतो वस्तुदृष्ट्या सत्वम् आपादयति तद् उक्तं :

''ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत, न प्रतीयेत च आत्मनि।
तद् विद्याद् आत्मनो मायां, यथा आभासो यथा तमः।।''

(भाग.पुरा.२।९।३३) इति भागवतपद्ये.

पद्येऽस्मिन् आभासतमसोः हि एकहेलया मायिकत्वोक्तिः विशेषतो अवधेया, तदेतद् मायिकत्वं व्यावहारिकं वा प्रातिभासिकं वा? इत्यत्र विप्रतिपत्तेः सम्भवेऽपि. तदिदमपि विशेषतो अवधारणीयं यद् इह अस्मिन् पद्ये द्वे पदे तावद् दार्ष्टान्तिकतया परमार्थसद्वस्तुवाचके उपलभ्येते 'अर्थम्' इति एकम्, अपरञ्च 'आत्मा' इति. असतोऽपि सत्त्वेन वा, सतो वा असत्त्वेनापि, अयथार्थप्रतिभासाप्रतिभासदृष्टान्तवाचकेअपि द्वे पदे अत्र प्रयुक्ते समुपलभ्येते 'आभासः' इति एकम्, अपरञ्च 'तमः' इति पदम्.

तदत्र श्रीमद्वल्लभाचार्यैः **''नहि विषयः चक्षुः वा, जडं, नियतस्वभावम् अन्यथाप्रतीतिहेतुः भवति... एवं विषयतापि मायया जन्यते... साच विषयता द्विधा आच्छादिका एका, अन्यथाप्रतीतिहेतुः च अपरा. सा उभयविधापि माययैव जन्यते''** (सुबो.२।९।३३) इति यद् उक्तं तदपि अस्मिन् विमर्शे प्राक् अविस्मरणीयमेव खलु.

एवं सति दृष्टान्तीभूतयोः 'आभास'-'तमः'पदयोः अभिप्रेतार्थमीमांसायाम् ''अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत्'' इत्यस्य वाक्यांशस्य अर्थस्तु एवं विभाव्यते : 'अर्थं'=परमार्थसद्वस्तुरूपं ब्रह्म ऋते यद् आभासरूपसदृशं वा तमोरूपसदृशं वा प्रतीयेत तद् आत्मनो=ब्रह्मणो 'मायां विद्याद्'=तदधिष्ठानिकां मायिकीं प्रतीतिं विद्यात्.

सैयं मायिकी प्रतीतिः हि केवलाद्वैतवादेतु ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वे ब्रह्माद्वैत-ज्ञानैकबाध्यतया व्यावहारिकसत्तायां प्रमाणम् इति अंगीक्रियते. ततोहि चान्द्रद्वित्वाभासस्य, दर्पणगतबिम्बाभासस्य, आवरणरूपतमसो वापि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वेतु व्यावहारिक-सत्तावत्त्वस्य अवश्यंवक्तव्यता आपतति. अथ ब्रह्मज्ञानेतरचान्द्रैक्यज्ञानेन वा दर्पणगत-बिम्बाभावज्ञानेन वा चन्द्रसूर्ययोः अकृत्रिमस्वपरप्रकाशकरूपत्वज्ञानेन वा द्वित्वप्रतिबिम्ब-

तमसां बाध्यत्वाभ्युपगमेतु न तयोः व्यावहारिकी सत्ता प्रत्युत प्रातिभासिक्येव अभिमन्तव्या इति युक्तम् उत्पश्यामि. सति चैवम् एतयोः प्रातिभासिक्येव सत्ता अकामं गले पतति.

अथ अर्धजरतीयन्यायेन अत्र आभासस्यैव मायिकत्वं न पुनः तमसोऽपि. किञ्च यथा चान्द्रैक्ययाथार्थ्यज्ञाने तथा बिम्बाभाववद्दर्पणयाथार्थ्यज्ञानेऽपि वा द्वित्वप्रतिबिम्बयोः प्रतिभासापगमाभावस्य दर्शनेन एतयोः भ्रमयोः औपाधिकत्वमेव अंगीकार्यं न निरुपाधिकत्वम् इति चेत् तत् काचकामलादिदोषोपहतनेत्राभ्यां "पीतः शंखः" भ्रान्तिवद् भवेद्. नहि तादृङ्नेत्रयोः प्रतिभासमाना पीतिमा व्यावहारिकी इति वक्तुं युक्ता. तथैव "... **माया अन्तरा आपतति... आद्यन्तयोः यद् असतो अस्ति तदेव मध्ये**" (भाग.पुरा. ११।१९।७) इति न्यायेन चन्द्रसूर्योपरागात् प्राक्पश्चात् च तत्र अविद्यमानं मध्ये उपरागकालएव प्रतीयमानस्य तमसः तत्र असत्त्वे निर्धार्यमाणे तु असतोऽपि सत्त्वेन भानाद् व्यावहारिकचन्द्रसूर्ययोः अन्यथाभानकुक्षिसंनिविष्टतया प्रातिभासिक्येव सत्ता तमसः कुतो न शक्यते कल्पयितुम्?

वाल्लभमतेतु बुद्धिविपर्यासाभावात् तस्य न मायिकी अन्यख्यातिरूपता किमुत मायिकी अन्यथाप्रतीतिरेव केवला. नच इह बहुवक्तव्यं किमपि उत्पश्यामः. सर्वथातु केवलाद्वैतवादिनां मते व्यावहारिकसत्वरूप-प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधने एषा वाचोयुक्तिः प्रातिभासिकीमेव सत्ताम् अभ्युपेत्य दृष्टान्ततया विनियोगाय युक्ता. इत्थम्भूतो हि व्यावहारिकचन्द्रदर्पणयोः प्रातिभासिकं द्वित्वं वा प्रतिबिम्बो वा विक्षेपतयैव दृष्टान्ततां भजते. अन्यथा व्यावहारिके जगति एतयोः दृष्टान्तयोः अकल्पितत्वांगीकारे तु दार्ष्टान्तिके परमार्थिके ब्रह्मणि द्वैतप्रपञ्चस्यापि अकल्पितत्वप्रसक्त्या स्वसिद्धान्ताभिमतप्रक्रियाहानिरेव भवित्री. तस्माद् दृष्टान्तभूताभासस्य तु शांकराद्वैतेऽपि भावात्मकं व्यावहारिकं द्रव्यत्वं प्रतिपादयितुं भृशम् अशक्यमेव आभाति.

अथ अवशिष्यते "**आत्मनि च यद् न प्रतीयते तद् (अपि) आत्मनो मायां विद्याद्**" इतिवाक्यांशतात्पर्यमीमांसा.

तदत्र अवश्यं मीमांसितव्यं तावद् भ्रान्तिज्ञानस्य अधिष्ठानारोपयोः मध्ये अधिष्ठानावरणाभावे तत्र अधिष्ठाने मिथ्यारोपरूपो विक्षेपो सम्भवति न वा? इति. तस्यैतस्य विचिकित्सायाम् अधिष्ठानावरणाभावे तत्र विक्षेपरूपस्य आरोपस्य असम्भवेन; अन्यथा, आवरणस्य विक्षेपाहेतुत्वप्रसक्त्या "ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम्" इत्यस्यापि नियमस्य

अभ्युपगतत्वेन हि अधिष्ठानतत्त्वज्ञानेनापि भ्रान्तिविक्षेपस्य निवृत्तेः अनुपपत्तिप्रसंगात् च, अधिष्ठाने आवरणरूपो विक्षेपो न जातु अनंगीकरणीयो भवितुम् अर्हति.

तस्माद् आवरणविक्षेपयोः बीजांकुरन्यायेन इतरेतरपूर्वभावित्वे इतरेतर-पश्चाद्भावित्वमपि अवश्यम् अंगीकरणीयमेव, यथाहि अधिष्ठानयाथार्थ्यज्ञाने सति पूर्वम् आवरणनिवृत्तिः आवश्यकी तथैव निवृत्तावरणेऽपि हि अधिष्ठाने क्वचिद् विक्षेपानिवृत्तिरपि रज्जौ तत्वज्ञानेन सर्पभ्रान्तिनिवृत्तावपि सर्पभीतिजन्यशरीरकम्पादेः बाधितार्थानुवृत्तिन्यायेन उन्नेयैवेति स्वतएव तस्य उपशमनम् इत्यस्याअपि प्रक्रियायाः अभिप्रेतत्वात्.

इहापि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यतारतम्यविमर्शे प्रथमं तावत् 'आत्मनि'=स्वतःप्रकाशरूपे चैतन्ये, अस्वप्रकाशरूपदेहेन्द्रियविषयाणां विक्षेपहेतुभूतम् "न प्रतीयेत"=इति आवरणं तमोरूपं आत्ममायाहेतुकम् इति व्याख्यानस्य आवश्यकत्वेन दार्ष्टान्तिके तद् मायिकावरणं ब्रह्माद्वैतज्ञानेतराबाध्यं सद् ब्रह्मज्ञानैक्यबाध्यम् इत्येवमेव व्याचिख्यासितुं युक्तम्. नच इहापि कैवलाद्वैतसिद्धान्तप्रक्रियानुरोधेन विसंगतिः काचन आपादयितुं शक्या. दृष्टान्तविमर्शेतु पुनः सर्वसाक्षिभूते स्वप्रकाशरूपे चैतन्ये अध्यस्तस्य सर्वस्यापि आवरणस्य वा विक्षेपस्य वापि आरोपितापरपर्यायरूपा विक्षेपरूपतैव अंगीकार्या, अन्यथा एकतरस्य अनारोपितत्वं तस्य पारमार्थिकत्वएव पर्यवसास्यति. सोऽयं मिथ्याप्रतिभासः नित्यस्वपरप्रकाशरूपे चैतन्ये सार्वदिको भवितव्यो न खलु असार्वदिकः इति. अत्र कल्पनाक्लेशं वारयितुं कश्चन विषयो अपरोक्षतया साक्षिगोचरो भवति कश्चित्तु पुनः परोक्षतया इत्यपि अंगीकार्यमेव. ननु तत्रैव अध्यस्तत्वे कथम् एतद् एवम् उपपद्येत? इतीमामपि शंकां निवारयितुम् अधिष्ठानस्य अकृत्रिमस्वपरप्रकाशत्वाभ्युपगमेऽपि असत्त्वापादकावरणाभावेऽपि अभानापादकावरणम् अंगीकृतमिति तदेव एतस्मिन् विषये प्रमाणम्. यथाहि स्वप्रकाशने स्वेतरप्रकाशनिरपेक्षाभ्यामपि चन्द्रसूर्याभ्यां तदावरकीभूततमोरूपयोः राहुकेत्वोः कदाचिद् अपरोक्षतया प्रकाशनं क्रियते, कदाचित्तु परोक्षतयापि. सति चैवं सर्वसाक्षिभूतेन चैतन्येनापि उभयविधयोः परोक्षापरोक्षभूतयोः निखिलद्वैतप्रपञ्चविषययोरपि असार्वदिकः प्रतिभासः इति शांकरसैद्धान्तिकी प्रक्रिया.

तत्र इह तमोरूपयोः राहुकेत्वोः सत्वं प्रातिभासिकं व्यावहारिकं वा? इत्येवंरूपायां दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावसमीक्षायां आत्मनि=ब्रह्माद्वैते द्वैतप्रपञ्चान्तर्गतयोः परोक्षतया वा अपरोक्षतया वा प्रतिभासितयोः उपपत्तिः राहुकेतुदृष्टान्तेन शक्या इति कल्प्यमाने राहुकेत्वोः ब्रह्मरूपाधिष्ठाने प्रातिभासिकं सत्वं विहाय व्यावहारिकसत्त्वे

प्रतिपिपादयिषितव्ये दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मणि अज्ञातसत्ताकानां अत्यन्तपरोक्षविषयाणां स्वर्गादिदेवलोकसदृशानां **''अयं वै हरयो... सहस्राणि बहूनि च अनन्तानि''** (बृह.उप.२।५।१९) इति मनसापि आकलयितुम् अशक्यानां श्रुत्युक्तानन्तसंख्याकानां द्वैतघटितानां धर्माणामपि पारमार्थिकम् अमिथ्यात्वमेव सिध्येद्, व्यावहारिकसत्तावतोः चन्द्रसूर्ययोः आवरकराहुकेत्वोः व्यावहारिकसत्तावदेव. तस्मात् तमसो व्यावहारिकसत्वाभ्युपगमे दृष्टान्तो विषमएव भवेत्.

यदिच व्यावहारिकप्रातिभासिकान्यतरसत्वनिरपेक्षं क्वचिद् अधिष्ठाने सत्वेऽपि मायिकम् अभासमानत्वम् इत्येतात्येव अंशे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावो अभ्युपगतः इति उच्यते चेद्, असत्वेऽपि मायया क्वचिद् भासमानत्वम् अन्यथा अभासमानत्वम् इति अंगीकारेणापि मायिकप्रतिभासएवं अंगीकरणीयो न पुनः अभासमानतायाएव मायिकता. यतोहि व्यावहारिकसत्तावतः पदार्थस्य सैषा मायिकी अभासमानता व्यावहारिकी वा प्रातिभासिकी वा अभ्युपेतव्या स्यात्? यदि व्यावहारिकी तदापि यस्य अभासमानता तस्य वस्तुनो व्यवहारे ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वकल्पिकया मूलाविद्यया प्रयुक्ता उत अन्यया कयाचन तूलाविद्यया प्रयुक्ता? नाद्याद्या, एतदद्दृष्टान्तावलम्बनेन व्यावहारिके प्रपञ्चे परमार्थिकब्रह्मावरण-प्रयुक्तमिथ्यात्वस्य उपपादनप्रयासवैयर्थ्यापातात्. भ्रमाधिष्ठानावरण-भ्रमारोपयोः समानसत्ताकत्वे भ्रमत्वायोगात् च. नहि पटावृतो ''घटो नास्ति'' इति मिथ्याप्रतिभासो अनुपलब्धिप्रमाणगोचरो वास्तविको घटाभावः इति वक्तुं शक्यो, घट-तदभावयोः उभयोः व्यावहारिकत्वे उभयोः अभ्रान्ततापत्तेः. तस्माद् व्यावहारिकावरणरूपेण पटेन आवृतस्य घटस्य सत्त्वन्तु व्यावहारिकं तदभावस्तु पुनः प्रातिभासिकएव.

ननु व्यावहारिकमूलाविद्यावृतब्रह्माधिष्ठानके अध्यस्ते प्रपञ्चे विद्यमानं ''घटं हिमशैलं वा अहं न जानामि, अस्ति न वा'' इति तूलाविद्यावृतेन ज्ञात्रा देवदत्तेन अवच्छिन्नस्य चैतन्यस्य आवरणरूपम् अज्ञानमपि व्यावहारिकमेव अंगीक्रियते इति चेद् न, तूलाविद्याकृतम् आवरणमपि असत्त्वापादकं वा स्याद् अभानापादकं वा? व्यावहारिके जगति व्यावहारिकसत्तावद्घटविषयिणी असत्त्वप्रकारिका बुद्धिः भ्रान्तिरेवेति तत्र आभासमानो अभावोऽपि प्रातिभासिकएव भवेत्. अथ विद्यमानस्य भाननैयत्याभावेन अभानापादकमेव तद् आवरणं चेत्, तदापि क्वचिद् विद्यमानस्य घटस्य हिमशैलस्य यदा भानं भवेत् तदा तदावरकस्य अज्ञानस्य बाधेतु आवरणविषयसत्त्वेऽपि आवरणबाधांगीकारेण आवरणविषयापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वं तस्य अवश्यम् अंगीकरणीयमेव. अन्यथा बाध्यत्वस्य व्यवहारप्रतिभाससाधारणी सापेक्षमिथ्यात्वहेतुतैव खण्डिता स्यात्. अथ अबाधेतु

अबाधितत्वादेव तदावरणापगमाभावेन घटहिमशैलादिभानमेव नोपपद्येत.

नच भीतभटापसरणन्यायेन आविद्यकावरणसत्त्वेऽपि घटादिविषयकत्वापगमः सिद्धान्तलेशसंग्रहोक्तो (सि.ले.सं.१।७३) न विस्मर्तव्यः इति वाच्यं, यच्च यदावरणं तस्य ततो भीतभटवत् पलायने स्वस्य आवरणरूपतां त्यजति चेद् न आवरणत्वाय कदापि अलम्. अथ यदि आवरणरूपतापरित्यागं विनैव पलायनं करोति चेत् तदा यस्य तदावरणं तस्यैव आहोस्विद् अन्यस्य वा स्याद्? यथाहि घटावरकः पटो घटाद् निवृत्तो भूमिं वा तृणं वा न नावृणोति. नहि घटाद् निवृत्तस्य तस्य आवरणस्वभावापगमो दृष्टचरः.

तस्माद् घटभानोत्तरं घटावरकस्य अभानापादकस्य आवरणस्य दृश्यदेशपरित्यागो किंवा द्रष्टृदेशपरित्यागो वा? तत्र दृश्यदेशपरित्यागे यस्मिन् देशे तदपसरणं तद्देशाभानसहचरितं घटभानम् अंगीकार्यं द्रष्टृदेशापरित्यागात्. द्रष्टृदेशपरित्यागे तु दृश्यावरणस्य अनिवृत्त्या न तद्विषयभानसम्भावना नाम. तस्माद् आवरणरूपतमसो अप्रातिभासिकमायिकत्वे तु द्वैतप्रपञ्चगतव्यावहारिकसत्वस्यापि पारमार्थिकत्वापादकम् अमायिकत्वम् अकामं गलेपतितं स्यात्.

किञ्च अर्जुनाय दिव्यदृष्टिदानतः प्राङ् निखिलब्रह्माण्डस्य विराट्पुरुषाधिकरण-कत्वाप्रतिभासनवत् दिव्यदृष्ट्यैकगोचरं कोटिब्रह्माण्डराशेरिव पारमार्थिकं सत्वं कुतो न अंगीक्रियते?

नच ग्रहमण्डले विद्यमानस्यैव तमसः कदाचित् चन्द्रसूर्योपरागे प्रतीतौ अन्यदातु अप्रतीतावेव दृष्टान्तीभावः इति वाच्यं, स्वप्रकाशचैतन्यरूपे ब्रह्मणि अविद्यावरणस्यापि तथा अप्रतीयमानत्वेऽपि विद्यमानत्वस्य सम्भाव्यतया विक्षेपाप्रसरप्रसंगाद्, ब्रह्मज्ञानात् प्राग् आवरणस्य अप्रतीयमानत्वे तु निरावरणस्वप्रकाशचैतन्यभानेन ब्रह्मज्ञानं विनापि मोक्षापत्तेः दुरुद्धरत्वात्. तद् उक्तं महाकविना ''छायाहि भूमेः शशिनो मलत्वेन आरोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः'' (रघुवं.१४।४०) इति चन्द्रमसि राहोः आरोपतायां प्रमाणम्. नच इयं काव्योक्तिः तत्त्वचिन्तायां न प्रमाणम् इति वाच्यं, ''नीलं तमः चलति'' इति पामरलोकसिद्धप्रतीति-पदप्रयोगयोरिव अस्याअपि काव्योक्तेः प्रामाण्योपपत्तौ बाधाभावात्. भागवतीये पद्ये आभाससाधारणी हि मायिकता राहूरूपतमसः आभासवैषम्ये बाधिका परेति न शंकालेशः.

तस्माद् इतरत्रापि यद् ''अन्धकारवादे वल्लभसिद्धान्ते सौगताक्षेपः'' इति श्रीमतां

पारसनाथमहोदयानां निबन्धे तर्काः प्रदत्ताः तेषां केवलाद्वैतवादेऽपि कश्चन भरः इति विभाव्य तेषामपि विमर्शाय प्रयते. तथाहि—

''[१]तमसो मायाजन्यत्वेन भ्रान्तरूपत्वेन तेजसा निवृत्त्यनुपपत्तेः अधिष्ठानसाक्षात्कारादेव तन्निवृतेः दर्शनात्. नच शुक्तिरजतादेरपि प्रकाशसंयोगात् निवृत्तिः दृश्यते इति वाच्यं, [२]तत्र प्रकाशेन अधिष्ठानभूतशुक्तिसाक्षात्कारादेव निवृत्त्यंगीकारात्. नच अत्रापि तमोविरोधितेजःसंयोगाद् घटाद्यधिष्ठानदर्शनात् तमोनिवृत्तिः इति वाच्यं, [३]मन्दालोके निपुणतरनिरीक्षणाद् घटाद्यधिष्ठानज्ञानात् तमोनिवृत्तिप्रसंगात्. कतिपयाधिष्ठानदर्शनात् सर्वत्र तमोनिवृत्तिप्रसंगात् च. [४]नहि सर्वं स्वेतरत् क्षपयत् तमः कतिपयघटादिसाक्षात्काराद् निवर्तते. नच [५]भ्रान्तस्य तमसो घटाद्यधिष्ठानं सम्भवति, तज्ज्ञानं विनापि तेजसा निवृत्ति- दर्शनात्''.

इति तदेतत् वाल्लभमते आक्षेपपरम्परानुसन्धानं केवलाद्वैतं निजमतत्वेन विभाव्य कृतं चेत् तदातु विरुद्धमेव. सौगतमतेन तु एतादृशे आक्षेपे चिकीर्षिते सति तत्समाधानस्य तत्रैव उचितत्वेन तत्रैव निराचिकीर्षा न पुनः इह. तथापि सौगतकेवलाद्वैतमते संकलीकृत्य उभयसमर्थनाय एवम् आलेखने तु तच्चिन्तनस्य इहापि प्रसक्तिरिति न निरनुयोज्यानुयोगो भावनीयः.

तथाहि केवलाद्वैतवादेऽपि [१]स्वप्रकाशरूपचिति अविद्याजन्यस्य मायिकावरणस्य भ्रान्तरूपत्वेऽपि तस्य न स्वप्रकाशसाक्षिभूतचैतन्यज्ञानेन निवृत्तिः किन्तु ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याकारकाविद्यकवृत्त्यन्तरेणैव निवृत्तिः अभिप्रेता, अधिष्ठानभूतस्यतु स्वप्रकाशसाक्षि-चैतन्यस्य प्रत्युत आवरणविक्षेपरूपभ्रान्तिप्रकाशकत्वाभ्युपगमएवेति चित्रम् [२]केवलाद्वैतवादेऽपि मायिकावरणविक्षेपयोः अधिष्ठानभूतस्य स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्यस्य साक्षात्काराद् आवरणविक्षेपनिवृत्तेः अंगीकारो न कुत्रापि आकरग्रन्थेषु उपलभ्यते प्रत्युत ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याकारकवृत्तिरूपज्ञानादेव निवृत्तिः अंगीकृता. नच तादृग्वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य मायिकावरणविक्षेपयोः अधिष्ठानत्वमपि कुत्रापि आकरग्रन्थेषु स्वीकृतम् उपलभ्यते. [३]नित्यानित्यवस्तुविवेकरहितस्य इहामुत्रार्थफलभोगानुरक्तस्य शमदमादिसाधन-सम्पद्विहीनस्य अमुमुक्षोः ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याकारकमन्दालोकसदृशवृत्तिजन्य-ज्ञानसम्पन्नस्य निरस्तसमस्तद्वैतप्रपञ्चसाक्षिचैन्यज्ञानेनापि अविद्यावरणरूपतमोनिवृत्ति-प्रसंगस्य समानयोगक्षेमन्यायेन एतादृगापत्तेः दुरुद्धरत्वात्. कथञ्चिद् निजात्मनि

सर्वसाक्षिभूतचैतन्यविषयकेन निरस्तसमस्तोपाधिताज्ञानेन जगन्मुक्तिप्रसंगात् च. [४]परोक्षापरोक्षभेदेन ज्ञाताज्ञातसर्वविषयेषु विक्षेपकारिका हि अविद्या स्वमात्रवच्छिन्न-सर्वसाक्षिभूतचैतन्यावारिका सती स्वाधिष्ठानभूतसाक्षिचैतन्यज्ञानेन निवर्तते चेद् एकमुक्त्या सर्वमुक्तिप्रसंगः. [५]भ्रान्तस्य तमोरूपमायावरणस्य स्वशरीरावच्छिन्न-साक्षिचैतन्यं कथमपि अधिष्ठानं भवितुम् नार्हति, साक्षिचैतन्यज्ञानं विनापि जगद्भ्रमानधिष्ठानभूतायाः ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याकारिकायाः शाब्दवृत्तेः जगद्भ्रमनिवृत्तेः अभ्युपगमात् च.

यदपि उदितं ''नच व्यामोहिकायां मायायां किञ्चित् प्रमाणं पश्यामः. श्रुतिस्मृतिप्रतिपादिता या माया सा यत्स्वरूपा सा वाल्लभसम्मतैव न अद्वैतसम्मता इति प्रमाणैः वक्तुम् अशक्यत्वात्. (भागवत)द्वितीयाध्यायस्थोक्तवाक्यस्य च सकल-प्रपञ्चोपादानभूत-ब्रह्माधिष्ठानक-मायायामपि योजयितुं शक्यात्वात्... व्यामोहः आवरणं अन्यथाकरत्वं सर्वम् एतद् अद्वैतसम्मतमायायामपि समानम् इति दिक्'' इति तदपि विचारणीयमेव.

यस्माद्धि माया तावद् अद्वैतमते नैकविधा मूलतूलाविद्याभेदभिन्ना द्विविधा. ते उभेअपि आवरणविक्षेपभेदैः चातुर्विध्यमपि आपद्येते. एवं चतुर्विधासु मायासु पुनः याहि आवरणरूपा सा असत्त्वापादनाभानापादनभेदाभ्यां पुनः द्वैविध्यम् आप्नोति. एवम् आहत्य षड् भेदास्तु अंगीकर्तव्याएव भवन्ति. एतासु कतमा हि तावत् श्रुतिस्मृतिप्रतिपादिता कतमा च श्रुतार्थापत्त्या उत्प्रेक्षिता तत्र मया बहुविचारो न अनुष्ठीयते तथापि शांकरवाल्लभवेदान्तयोः ''**इन्द्रो मायाभिः**'' (बृह.उप.२।५।१५), ''**प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवामि आत्ममायया**'' (भग.गीता.४।६), ''**मायी सृजते विश्वम् एतत्, तस्मिन् च अन्यो मायया संनिरुद्धः**'' (श्वेता.उप.४।९), ''**मायया अपहृतज्ञानाः**''(भग.गीता.७।१५), ''**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः**'' (भग.गीता.७।२५) इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनैः ब्रह्मणि काचन माया बहुभवनसामर्थ्यरूपा, अन्या आत्ममाया स्वप्रकृतिरूपा भूतले अवतारकाले स्वाधिष्ठानरूपा, अपरा पुनः विश्वसृष्टुः माया यस्यां तदन्यः संनिरुद्धो भवति नतु सएव, इतरापि जनानां ज्ञानापहारिणी, सर्वस्य जनस्य भगवत्स्वरूपाप्रकाशनाय भगवदावरणरूपा च काचन. इमाः सर्वाः भिन्नाः वा भवेयुः, कल्पनालाघवाय एकैव सती बहुधा कार्यकारिणी वापि, तत्रतु विप्रतिपत्तिसम्भवेऽपि सर्वथा ''**अविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्**'' (भाग.पुरा.१०।३९।५५) इति भागवतपुराणवचनेन भगवति भगवच्छक्तयो नैकविधाः इत्यत्र न विवादलेशोऽपि शास्त्रप्रामाण्यवादिषु शक्यः.

सति चैवं "**तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः**" (भाग.पुरा.२।९।३३) इत्यस्मिन् पद्ये विमृष्टायाः मायायाः—

> "सदपि न प्रतीयेत तद् आत्मनो मायां विद्यात्. 'यथा आभासः' इति द्विचन्द्रादिः इति अर्थं विना प्रतीतौ दृष्टान्तः. 'यथा तमः' इति सतो अप्रतीतौ तमो राहुमण्डले स्थितोऽपि न दृश्यते तथा".
>
> (भाग.श्रीध.तत्रैव)

इत्येवं प्रतिपादनपराणां तमसो भावरूपत्वांगीकुर्वतामपि प्राचाम् अद्वैतवादानुसारिव्याख्याकाराणाम् अभिप्रायेणापि तमसो मायिकत्वन्तु अविप्रतिपन्नमेव. यदि च अत्र कण्ठतः तमसो भावरूपत्वांगीकारो अप्रातिभासिकताभ्युपगमपूर्वकव्यावहारिक-मायिकत्वांगीकाररूपएव वाच्यः इति उच्येत, तदा समानयोगक्षेमात् आभासस्यापि भ्रान्तिरूपतां विहाय भावरूपता अंगीकरणीया, नच एतत् सम्भवति "**एकस्मिन् चन्द्रे तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवद् अविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापितव्यः**" (ब्र.सू.शां.भा.३।२।२१) इति भगवत्पादशंकरवचनात्. तस्माद् आभासमिथ्यात्वसमानयोगक्षेमात् तमोऽपि भावरूपत्वेन आभासमानोऽपि न व्यावहारिकः प्रत्युत प्रातिभासिकएवेति. ततोहि भागवतवचनस्यापि द्रव्यत्वपक्षेऽपि योजयितुं नवै शक्यत्वम्. तस्मात् मायाम् उद्दिश्य श्रीमतां द्विवेदिमहोदयानां "तस्याअपि तमःकारणत्वम् असम्भवि" इति विधानमेव तावद् असम्भवि प्रतिभासते.

यदितु एतस्यैव तमसः सकलप्रपञ्चोपादानभूत-ब्रह्माधिष्ठानकत्वमपि अभिमतं चेत्, चेत् तदा अभिमता मूलतूलासत्त्वापादानाभानापादनरूपद्विविधावरणविक्षेपप्रभेदायापि वितीर्णो जलाञ्जलिरिति "**अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः, ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितम् आत्मनः, तेषाम् आदित्यवद् ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्**" (भग.गीता.५।१५-१६) इति वचनेन अज्ञानेन जन्तूनां मोहो, ज्ञानेनतु तन्मोहनाशोऽपि इत्यत्र को विवादः शांकरवाल्लभयोः येन एकतरमतनिरसनस्य प्रंसगो युक्तः स्यात्.

सर्वथातु उभयोः वेदान्तयोः अन्धकारविषये पूर्वोत्तरपक्षोद्भावनशेमुषीप्रकर्षेण एतद्विद्वत्संगोष्ठ्यां तत्र बहूपकुर्वतां श्रीमतां पारसनाथद्विवेदिमहोदयानां कथमु जिज्ञासवो अनृणाः भवितुम् अर्हेयुः विषयेऽस्मिन् तस्माद् वयन्तु सर्वेऽपि नूनं बहुतरकृतज्ञाएव इति विरमामि.

विवरणप्रस्थानदृष्ट्या तमःस्वरूपविवेचनम्

डॉ. मणि द्राविड

यद्यपि तमःशब्दः अन्धकार-माया-तमोगुणादिषु अनेकेषु अर्थेषु प्रयुज्यते तथापि अन्धकाररूपएव अर्थः प्रस्तुतविचारस्य विषयः. अतः अन्धकारार्थे एव अत्र तमः शब्दः प्रयुज्यते. तत्र 'तमः' 'प्रकाशः' इति मिथो विरुद्धं पदार्थद्वयं लोके प्रसिद्धम्. तमसः स्वरूपं विभिन्नैः दार्शनिकैः अनेकधा निरूपितम्. केचिद् दार्शनिकाः तमसो भावरूपत्वम् अङ्गीकुर्वन्ति, केचित् अभावरूपत्वम्. तत्र अद्वैतवेदान्ते विवरणप्रस्थानानुसारेण तमःस्वरूपम् इह निरूप्यते.

आत्मानात्मनोः परस्पराध्यासस्य आक्षेपावसरे तयोः विरोधे तमःप्रकाशौ दृष्टान्तितौ भाष्यकारैः "तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः" इति. तमःप्रकाशयोः लोके सहानवस्थानरूपो विरोधः प्रसिद्धः. आत्मानात्मनोस्तु सहावस्थानेन न तादृशो विरोधः सम्भवतीति कथं दृष्टान्तसङ्गतिः? इति आशङ्का जायते. तस्याः समाधानं पञ्चपादिकाकारैः इत्थं क्रियते "अत्यन्तभिन्नयोः तमःप्रकाशयोः परस्परतादात्म्यासम्भवरूपो विरोधः इह विवक्षितः. स च आत्मानात्मनोरपि तुल्य इति युज्यते दृष्टान्तः" इति. तर्हि तमःप्रकाशयोः प्रसिद्धं विरोधं परित्यज्य कुतः उक्तरूपो विरोधो विवक्ष्यते? इति आकांक्षायां तमःप्रकाशयोः सहानवस्थानरूपो विरोधः आपाततएव लोके प्रतिभासते. मन्दप्रकाशे वेश्मनि अस्पष्टरूपदर्शनेन प्रकाशेन सह तमसोऽपि अवस्थानाङ्गीकारात् इति उक्तम्.

एतावता च तमसो भावत्वं सूचितम्. तस्य प्रकाशाभावरूपत्वे प्रतियोग्यभावयोः प्रकाशतमसोः सहावस्थानस्य असम्भवदुक्तिकत्वात्. तदुपपत्तये च तमसो अभावरूपत्वावादनिराकरणेन भावरूपत्वपक्षव्यवस्थापनं विवरणाचार्यैः कृतम्.

तत्र नैयायिकाः प्रकृष्टमहत्त्व-उद्भूतवत्तेजस्सामान्याभावः तमः इति वदन्ति. तत्र अभावरूपत्वं तमसो न युज्यते. "गाढ तमः" "क्षीणं तमः" इत्यनुभवबलात् गाढत्वरूपोपचितावस्था, क्षीणत्वरूपापचितावस्था च तमसः सिध्यति. ईदृशावस्थाविशेषविशिष्टवाचकत्वेन च 'अन्धतमसम्' 'अवतमसम्' इति अनयोः पदयोः अपर्यायता च लोकप्रसिद्धा सिद्धा भवति. उपचयापचयौ च भावधर्मौ न अभावस्य सम्भवतः. तेन तमो न अभावः, अवस्थाविशेषवत्त्वात्, प्रकाशवत् इति अनुमीयते.

किञ्च "नीलं तमः" इति रूपवत्तया तमः प्रतीयते. न च अस्याः प्रतीतेः बाधकम् उपलभामहे. तेन अबाधितयोक्तप्रतीत्या रूपवत्त्वं तमसः सिध्यति. रूपवत्त्वं च न अभावस्य सम्भवति. तेन तमः न अभावः, रूपवत्त्वात्, घटवत् इति अनुमीयते.

ननु तमसः भावरूपत्वाङ्गीकारेऽपि आलोकनिवर्त्यत्वात् बहुलालोकवति प्रदेशे तमसः असत्त्वात् तत्र निमीलितनयनस्य अन्धकारोपलब्धिः कथम्? इति चेत्, उच्यते, यथा पिहितकर्णस्य आन्तरशब्दोपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियेण तथा निमीलितनयनस्य गोलकान्तर्वर्तितमसः चक्षुरिन्द्रियेण उपलब्धिः. न च एवं नयनस्थाञ्जनादेः कुतो न उपलब्धिः इति शङ्कनीयम्, तस्य नयनरश्मिसम्बन्धाभावात्.

ननु आलोकवति प्रदेशे आलोकापगमे झटित्यन्धकारः अनुभूयते. अन्धकारस्य भावरूपत्वे द्व्यणुकादिक्रमेण तदुत्पत्तौ विलम्बो अवश्यम्भावी इति अनुभवविरोधः इति चेत्, न, न वयं द्व्यणुकादिपरम्परया तमसः उत्पत्तिं स्वीकुर्मः, किन्तु महतएव अन्धकारस्य मूलकारणात् मायातः उत्पत्तिं ब्रूमः. तदुक्तं विवरणे "आलोकविनाशितस्य च तमसः पुनः मूलकारणादेव झटिति महाविद्युदादिजन्मवत् जन्म सिध्यति" (प्रथमवर्णके पृ. ५२ तिरुपति संस्करणे) इति.

ननु तमसः रूपवत्त्वाद् भावरूपत्वं साधितम् अद्वैतिभिः. रूपवत्वं च

अबाधितप्रत्यक्षप्रतीत्या. तत् न युज्यते. रूपवत्ताप्रतीतेः अनुमानेन बाधात्. तथाहि तमो रूपशून्यम्, स्पर्शशून्यत्वात्, आकाशवत्. यद् रूपवत् तत् स्पर्शवत् इति व्याप्तेः घटादौ दृष्टत्वाद् इति चेत्, न, उक्तानुमानस्य वायुःस्पर्शशून्यः रूपशून्यत्वात् आकाशावत् इति अनुमानाभासेन साम्यात्. तत्रापि हि प्रत्यक्षेण वायौ स्पर्शोपलब्धेः उक्तानुमानेन बाधः कुतो न स्यात्? यत् स्पर्शवत् तद्रूपवत् इति व्याप्तेरपि घटादौ सुलभत्वात्. इत्थं च अनुभवबलात् रूपरहितः स्पर्शवान् वायुः यथा स्वीक्रियते, तथा स्पर्शरहितं रूपवत् तमोऽपि स्वीक्रियताम्. केचित्तु तमसोऽपि अनुद्भूतस्पर्शवत्त्वं स्वीकुर्वन्ति.

ननु तमसः प्रौढप्रकाशक-तेजस्सामान्याभावरूपत्वेऽपि उक्ताभावस्य सर्वसिद्धत्वात्, प्रतियोगितेजोगतम् उपचयादिकम् अपेक्ष्य तमसि तद्वत्ताप्रतीतेः औपाधिकत्वात्, तत्र नीलरूपवत्ताप्रतीतेश्च भ्रान्तित्वात् उपपत्तौ किमर्थम् अतिरिक्तं तमः कल्पनीयम् इति चेत्? मा एवम्, श्रुतिमूलकत्वात् तत्स्वीकारस्य. अन्तर्यामिब्राह्मणे हि "यस्तेजसि तिष्ठन्" "यस्तमसि तिष्ठन्" इति पर्यायद्वयं श्रूयते. तच्च तमसः भावरूपत्वएव संगच्छते. अतः तद्बलात् तेजोऽभावातिरिक्तं तमः स्वीक्रियते वेदान्तिभिः. ननु तार्किकमते द्वेषेण, भाट्टमते वा पक्षपातेन.

ननु द्रव्यवृत्ति-लौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषप्रत्यक्षे संयोगेन आलोकस्य कारणत्वात्, आलोकरूपकारणाभावे कथं तमसः चाक्षुषप्रत्यक्षम् इति चेत्, उच्यते. उक्तरीत्या तमसः अतिरिक्तत्वसिद्धौ अनुभवानुरोधेन तमोभिन्नद्रव्यप्रत्यक्षविषयतयोक्तकार्यकारणभावस्य सङ्कोचनीयत्वात्. आलोकचाक्षुषे एव उक्तकार्यकारणभावस्य व्यभिचारः इत्यपि केचित्.

आलोकस्य चाक्षुषं प्रति कारणत्वमेव नास्ति. घटादिप्रत्यक्षे तमोरूपावरणनिवृत्त्यर्थमेव आलोकापेक्षा. तेन आलोकाभावेऽपि तमसः चाक्षुषे न किमपि बाधकम् इति नृसिंहाश्रमश्रीचरणाः.

वस्तुतः तमश्चाक्षुषवादः वैभवमात्रेण, सिद्धान्ते तमसः साक्षिवेद्य-

त्वाङ्गीकाराद् इति नयनप्रसादिनीकाराः "साक्षिवेद्यं स्वराद्धान्ते ध्वान्तं तच्चाक्षुषं पुनः, आचार्योऽसाधयद् युक्तिवैभवं स्वं विभावयन्" इति.

तमश्च चाक्षुषप्रत्यक्षविषयस्य आवरणं करोति इति सिद्धान्तः. तच्च विषयसम्बन्द्धं सदेव विषयम् आवृणोति. आवरणं च तत्र चाक्षुषप्रत्यक्षप्रतिबन्धएव विवक्षितः. नतु व्यवधायकत्वेन कुड्यादिवत् विषयेन्द्रियसन्निकर्षप्रतिबन्धः. अन्धकारसंवृतापवरकस्थितस्यापि पुरुषस्य बहिः आलोके स्थित वस्तुदर्शनेन तमसो व्यवधायकत्वकल्पनस्य अयुक्तत्वात्.

उक्त प्रक्रियायाः वाल्लभप्रक्रियया साम्य-वैषम्यविचारः

एवं स्थिते अद्वैतसिद्धान्तस्य वाल्लभसिद्धान्तेन सह तमोविषये साम्यवैषम्ये विविच्येते. मूलकारणात् तमसः उत्पत्तिस्वीकारः सिद्धान्तद्वयेऽपि समानः. तथा तमसः अभावभिन्नत्वं सिद्धान्तद्वयेऽपि समानम्. तमसः चाक्षुषत्वमपि उभयोः अविरुद्धमेव. आलोकस्य चाक्षुषप्रत्यक्षकारणत्वाभावोऽपि पूर्वोक्तनृसिंहाश्रममतानुसरणे उभयोः समानः. आवरणात्मकत्वस्वीकारः उभयोः समानः. परन्तु प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वेन आवरणात्मकत्वं तमसः अद्वैतसिद्धान्ते, वाल्लभसिद्धान्ते तु कुड्यादिवद् व्यवधायकत्वेन सन्निकर्षवारकतया इति विशेषः. तमसः द्रव्यत्वं परं वाल्लभैः न अङ्गीक्रियते. अद्वैतिनस्तु तत् स्वीकुर्वन्ति इति वैषम्यम्.

वाल्लभकृताद्वैतमतखण्डनविमर्शः

श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचिते अन्धकारवादे मतान्तरनिरासपुरस्सरं स्वाभिमतम् अन्धकारस्वरूपं विस्तरेण निरूपितम्. तत्र अद्वैतिप्रक्रियायाः सम्यगनुवादं कृत्वा उक्तरीत्या तमसो भावत्वेऽपि द्रव्यत्वाङ्गीकारस्य निष्प्रमाणकत्वात् अद्वैतिनां तदंशे भट्टानुसरणं सुहृदादियाचितकमण्डनवत् आडम्बरमात्रमेव इति उपसंहृतम्. अत्र तदुक्ताः युक्तयः प्रसङ्गात् विमृश्यन्ते.

"भगवता बादरायणेन जैमिनिना च स्वशास्त्रे तमसो द्रव्यत्वस्य अनुक्तत्वात्" इति यद् उक्तं तस्य उत्तरं स्वयमेव ग्रन्थकारेण दत्तम् "सूत्रकारस्य

लौकिकपदार्थशोधनायाप्रवृत्तत्वात् तदनुक्तिः न दोषाय" इति. यद् उक्तं सूत्रकारेण द्रव्यत्वानुक्तेः विरोधाभावात् काणादोक्तएव अर्थः अङ्गीक्रियताम् इति, तत् न. श्रुतिविरोधस्य दर्शितत्वात्, यदुक्तं "अथ शिष्टापरिग्रहसूत्रादौ तन्मतदूषणात् तन्नाद्रियते, तर्हि नियतपदार्थवादोऽपि नादरणीयः इति व्यर्थः दशमद्रव्यत्वप्रवादः युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि आदरणीयत्वात्" इति. तत् न. श्रुत्यविरोधियुक्तीनां सिद्धान्ते स्वीकारेण युक्तिसिद्धस्यैव द्रव्यत्वस्य तमसि स्वीकारात्. नीलरूपपरिमाणपरत्वापरत्व-क्रियादिमत्त्वस्य द्रव्यत्वसाधक-युक्तित्वात्.

यत्तु समवायिकारणत्वस्य गुणाश्रयत्वस्य वा द्रव्यलक्षणस्य तमसि अभावात् द्रव्यत्वस्य दूरनिरस्तत्वम् उक्तम्, तत् न, उभयोरपि लक्षणयोः तत्र सद्भावात्. समवायिकारणत्वं तावत् गुणं क्रियां च प्रति तमसो भवितुम् अर्हति. न हि द्रव्यसमवायिकारणत्वं द्रव्यलक्षणम्, आकाशादौ घटादौ च अव्याप्तेः. गुणाश्रयत्वं तु तत्र स्पष्टमेव. यत्तु "गुणाश्रयत्वेन तत्साधनेऽपि पृथिव्याम् अनिवेशं वदता नीलरूपातिरिक्त-गुणानङ्गीकारात्" इति उक्तं तद् अनुक्तोपालम्भनम्. भवदनूदिताद्वैतिग्रन्थे पृथिव्याः चतुर्दशगुणवत्त्वं निरूप्य तमसः पृथिव्याम् अन्तर्भावे तावद्गुणकत्वप्रसङ्गात् इत्येव उक्तत्वेन नीलरूपातिरिक्तागुणाभावस्य अनुक्तेः.

यत्तु पुराणादिषु द्रव्यत्वेन तमसः अनुक्तेः इति उक्तम्, तत् न द्रव्यत्वे बाधकम्. द्रव्यगुणादिपदार्थविभागस्य वैशेषिकपरिभाषासिद्धत्वेन पुराणादिषु तत्कथनस्य अप्रसक्तेः.

यत्तु आद्यक्षणे तमसि नीलरूपाभावेन तेन द्रव्यत्वासिद्धिः इति उक्तम्. तत् न, आद्यक्षणे तदभावस्य अद्वैत्यसम्मतत्वात्. उत्पन्नं द्रव्यं क्षणम् अगुणं तिष्ठति इति हि वैशेषिकस्यैव मतम्. अद्वैतिनान्तु रूपादिना सहैव द्रव्यम् उत्पद्यते. न च एवं स्वगतगुणं प्रति द्रव्यस्य समवायिकारणत्वानुपपत्तिः. पाकादिना रूपाद्यन्तरोत्पत्तौ, संयोगादिकं प्रति च समवायिकारणत्वस्य एवमपि निर्बाधत्वात्.

उपसंहारः

सर्वथा तमसो भावरूपत्वाङ्गीकारे दोषाभावात्, ''नीलं तमः'' ''गाढं तमः'' ''ईषत् तमः'' ''आलोकेन नष्टं तमः'' ''आलोकापगमे पुनरुत्पन्नं तमः'' इत्यादिप्रतीतीनां भ्रान्तित्वकल्पनाभावप्रयुक्तलाघवेन च भावरूपतमोवादः युक्तः इति अलम्.

चर्चा

विवरणप्रस्थानदृष्ट्या तमःस्वरूपविवेचनम्

डॉ. मणि द्राविड

सच्चिदानन्द मिश्र : यथा उक्तं नैयायिकानां सह विरोधो नास्ति किन्तु श्रुतिविरोधः स्यात् नैयायिकमतस्वीकारे. तत्र या पंक्ति उत्थिता ''यस्तेजसि तिष्ठन् यस्तमसि तिष्ठन्'' 'तमः' पदं यदि तेजोभावपर्यायं स्यात् तदापि अस्याः पंक्तेः कश्चन विरोधो न भवेत् इति प्रतिभाति. कथं तर्हि न्यायमतं परित्यज्य एवं वेदान्तमतं स्वीकृतम्?

मणि द्राविड : मया तमसः भावरूपत्वाङ्गीकारे श्रुतिप्रमाणं प्रदर्शितम्. ''यस्तेजसि तिष्ठन् यस्तमसि तिष्ठन्'' इति पर्यायद्वयम् अत्र प्रमाणम् इति. परन्तु इदं कथं तमसः भावरूपत्वे साधकं भवितुम् अर्हति? कुतः? तमसः अभावरूपत्वेऽपि तमो नाम किञ्चिद् वर्तते खलु तेजोभावरूपम्? तथा च तेजसातिरिक्तं तेजोभावरूपं यत् तमः तदेव श्रुतौ 'तमः' शब्देन निर्दिष्टम्. तथा च इदं श्रुतिवाक्यं कथं तमसः भावरूपत्वसाधकं स्यात् इति प्रश्नः. तत्र इदं समाधानम्. अन्तर्यामिब्राह्मणे ''यः पृथिव्या तिष्ठन्'' इत्यादिना बहवः पर्यायाः उक्ताः. प्रत्येकं भावरूपपर्यायाः सन्ति. तत्र ''तेजसि तिष्ठन्'' इति एकस्यैव पर्यायस्य यदि तेजोभावे तिष्ठन् इति अयं पर्यायः अनुवादं करोति इति चेत् तर्हि ''यत् प्रथिव्यां तिष्ठन्'' इत्यत्रापि पृथिव्यभावे यः तिष्ठन् इत्यत्रापि पर्यायेण भवितुम् ... यतः सर्वस्य अन्तर्यामि अत्र वक्तव्यः. केवलं तेजोभावरूपतमसएव अन्तर्यामि, अभावमध्ये, तेजोभावरूपतमसएव अन्तर्यामी इति अनेन उच्यते इत्यत्रतु श्रुतेः तात्पर्यं वक्तुं न शक्यते.

के. ई. देवनाथन : श्रुतौ पञ्च अंशाः उक्ताः. ''यस्तमसि तिष्ठन्, तमसोन्तरः, यं तमो न वेद, यस्य तमः शरीरं, यस्तमो अन्तरा यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः''. तत्र पञ्च अंशाः लिखिता आधाराधेयभावः

... तत्र एते सर्वेपि अंशाः अभावपदार्थे न भवेयुः. आधाराधेयभावः नियम्यनियामकभावः...अभावस्य नियमनं कथम्?

मणि द्राविड : कथञ्चित् अभाव...ति व्याख्याने निस्तात्पर्यकम् इदं वाक्यम्. कथं तेजोभावएव तिष्ठति, पृथिव्याद्यभावे न तिष्ठति?

के. ई. देवनाथन : आधाराधेयभावः नियम्यनियामकभावः व्याप्यव्यापकभावः इदं सर्वम् उक्तम्. ''यः पृथिव्या अन्तरा'' इति तत्र अन्तरव्याप्तिः उक्ता. इदं सर्वं द्रव्यएव भवति.

बलिराम शुक्ल : तत्र विपक्षबाधकः कश्चित् तर्कः अस्ति.

के. ई. देवनाथन : श्रुतौ को नाम बाधकः?

मणि द्राविड : इयं श्रुतिः तथा नियते चेदपि श्रुत्यन्तरम् अन्तर्विरुद्ध्यते.

के. ई. देवनाथन : परन्तु अत्र कश्चन क्लेशः भवेत्. ''यो वेदे तिष्ठन् यः यज्ञे तिष्ठन्'' इति अस्ति. तत्र वेदादिकं यदि गुणः तर्हि द्रव्यत्वं अनया श्रुत्या न भवेत् इति शंका कर्तुं शक्यते. तत्र समाधानन्तु वेदान्तिनः वदन्ति. तत्र शब्दः द्रव्यरूपम् इति स्वीक्रियते चेत् वेदोऽपि द्रव्यमेव इति द्रव्यत्वपक्षे. परन्तु यज्ञः यदि इच्छास्वरूपः तर्हि तु यज्ञादीनाम् अभिमानिदेवतापरतया व्याख्यानं क्रियते.

सच्चिदानन्द मिश्र : भावमध्ये अभावस्यापि ...सम्भवत्येव. यथा ''वेदान् अध्यापयामासः''...

मणि द्राविड : सत्यम्. तत्तु अङ्गीकृतम्. परन्तु एकस्यैव अभावस्य पाठे श्रुतेः तात्पर्यं बाध्येत इति. कथं तेजोभावस्यैव अन्तर्यामी भवति पृथिव्यादि अभावस्य न भवति. न तावन् मात्रम्. अन्यत्र ...

सच्चिदानन्द मिश्र : अस्मादेव कारणात् न भवति. यतो हि तेजोभावः तमो रूपेण पृथक्तया प्रतिभाति, पृथिव्यभावस्तु पृथक्तया एवं न प्रतिभाति यथा तमः.

मणि द्राविड : पृथिवी नास्ति, घटो नास्ति इति प्रतेयते खलु.

सच्चिदानन्द मिश्र : प्रतीयते किन्तु अतिरिक्तपदार्थरूपेण तस्य प्रतीतिः भावत्वेन न भवति. तमसः प्रतीतिस्तु भावत्वेन भवति.

मणि द्राविड : यदि इमां प्रतीतिम् अवलम्ब्य श्रुतिः प्रवृत्ता तर्हि प्रतीतेः यथार्थत्वम् अवलम्ब्यताम्.

के. ई. देवनाथन : मम तु एवं भाति. एते पञ्चापि अंशाः अभावे तु उपपादयितुं न शक्येत.

मणि द्राविड : कैरपि नोपपादिताः परन्तु ...इदानीम् अक्षणब्राह्मणे ''अतेजस्कम् अतमस्कम्'' द्वयमपि वर्तते. तमःशून्यम् इत्यपि वर्तते, तेजोवर्जितम् इत्यपि वर्तते. तत् कथं सङ्गच्छेत? यदि तेजोवर्जितम् ...

के. ई. देवनाथन : भवतां सिद्धान्ते भेदार्थकं वा शून्यार्थकं वा?

मणि द्राविड : शून्यार्थकम्.

के. ई. देवनाथन : अस्थूलमनणु इत्यादि.

मणि द्राविड : तद्रहितम्. तेजोरहितम्. तत्र उभयत्र समानार्थः करणीयः.

पारसनाथ द्विवेदी : अतमस्कम् इति तमोभावः अतेजस्कम् इति तेजोविरोधी. स्वस्वमते श्रुतिः नया(!) भवति, युक्तिः तत्र प्रदर्शनीया.

के. ई. देवनाथन : असुखम् इति पाठः वर्तते न वा?

मणि द्राविड : माध्यन्दिनपाठे वर्तते.

के. ई. देवनाथन : लयप्रकरणे तमसः तेजसश्च लयः एकत्र उक्तः किल, तत् कथं युज्यते? भावाभावयोः कथं लयः भवति? लयो नाम अभावः.

प्रह्लादाचार्य : जडस्य तमसः भावरूपत्वे इयं श्रुतिः कथं प्रमाणं भवति इत्यपि चिन्तनीयम्. पृथिव्यादि पादानि सर्वाण्यपि ...अयं ...भवति ''यं पृथिवी न वेद, यं तेजो न वेद'' इत्येवं वर्तते. तत्र ज्ञानाभावः उच्यते. अप्रसक्तस्य ज्ञानस्य निषेधः जडविषये कथं क्रियते? अतः जडस्य तमसः भावरूपस्य सद्भावे अस्याः श्रुतेः उदाहरणं कथम् इति नैयायिकानां कश्चन प्रश्नो भवति.

के. ई. देवनाथन : ममतु एवं भाति अप्रसक्तनिषेधाकरणात् परमात्मनः महत्वम् उच्यते, अन्तर्यामिणः महत्वम् उच्यते तस्य अन्तर्यामित्वहेतुभूताः पञ्च अंशाः अत्र प्रतिपाद्यन्ते. तत्र एकः अंशः भवति तस्य ज्ञानित्वम्. सः ज्ञानी भवति, तेने नियम्यपदार्थाः अज्ञा भवन्ति इति तत्र प्रतिपादन...अतएव आत्मानं न वेद इत्यत्र आत्मा तु स्वयं ज्ञएव, अज्ञः नास्ति. जीवात्मा इति स्वीक्रियते. अस्मत्सिद्धान्ते वदामि.

गो. श्या. म. : य आत्मनि तिष्ठन्...

के. ई. देवनाथन : माध्यन्दिनशाखायां "य आत्मनि तिष्ठन्". तत्र उभयेपि भेदेन व्यपदिश्यते. तत्र आत्मनः ज्ञत्वम् अस्ति किल. तर्हि कथं प्रतिषेधः क्रियते इति उक्तौ आत्मा न जानाति चेदपि स जानाति.

मणि द्राविड : तथा किमर्थं वक्तव्यम्? "यम् आत्मा न वेद" इति वर्तते. "आत्मा न वेद" इति सामान्यतः नास्ति. घटपटादिकं जानाति.

के. ई. देवनाथन : तदेव वदामि. जीवात्मा यः नियम्यः सः भगवन्तं न जानाति चेदपि, कदाचिद् अस्माकं सिद्धान्ते मुक्तात्मा तु भगवन्तं जानाति, स न जानाति इति नास्ति. मादृशा न जानाति चेदपि भगवन्तं वेद.

प्रह्लादाचार्य : श्रुतौ "यं पृथिवी न वेद" इत्यस्य अभावेपि अन्तर्यामित्वम् उपपादयितुं शक्यम्, नियामकत्वं वक्तुं शक्यम्. अतः "यं पृथिवी न वेद" इत्यनेन अप्रसक्तस्य निषेधः नात्र कथ्यते किन्तु... कथम् उच्यते तर्हि? प्रसक्तस्य निषेधः...

बलिराम शुक्ल : 'पृथिवी'पदेन तत्र अधिष्ठातृदेवता गृह्यते.

के. ई. देवनाथन : वेदविषये यज्ञविषये "यो यज्ञे तिष्ठन्" इति अस्ति. तत्र उच्यते. यज्ञः यदि गुणस्वरूपः.

मणि द्राविड : "सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्" इति वर्तते.

प्रह्लादाचार्य : 'भूत'पदेन किं गृह्यते?

मणि द्राविड : "यः आत्मनि तिष्ठन्" इत्यनेन सर्वोऽपि जीवः गृहीतः न तु यः कश्चिद् एको जीवः. एवञ्च तत्र पृथिव्यादिदेवताः गृहीताः इति चेत्, तत्र पर्यायाणां वैयर्थ्यं भवति. यतः "आत्मनि तिष्ठन्" इत्यनेन सर्वोऽपि जीवसङ्घः गृहीतः, जीवस्य अन्तर्यामी. एवञ्च "पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादिना किं विवक्षणीयं श्रुत्या? न केवलम् आत्मनएव अन्तर्यामी किन्तु सर्वस्यापि जगतः अन्तर्यामी इति वक्तव्यम्. यद्यपि पृथिव्याम् अन्तः वर्तते तथापि पृथिवी तन् न वेद इति कथञ्चित् योजनीयम्.

गो. श्या. म. : ...विषये...कथञ्चित् न योजनीयं, सर्वथैव प्रसक्तम् इदम्. यतश्च अस्मिन् जडशरीरे आत्मा विद्यते. तेन शरीररूपम् आत्मानं विजानीम. ...न विभज्य. शरीरे यदा आत्मा भवति तदा शरीरादपि...

पारसनाथ द्विवेदी : एवं भवताम् आशयः पृथिवीव्यवच्छेदेन पृथिव्यात्मा इति

गृह्यते.

गो. श्या. म. : ...तस्य परमात्मनः पृथिव्यां विद्यमानत्वेऽपि कथं पृथिवी तं न जानाति? शुद्धजीवांशस्य अस्मिन् शरीरे विद्यमान...आत्मानन्तु जानाति "अहम् अस्मि". न कोऽपि "नाहमस्मि" इति...

पारसनाथ द्विवेदी : पृथिवी अभिमानिनी देवता...

के. ई. देवनाथन : बहु श्रुतयः सन्ति. इमां श्रुतिं त्यजन्नपि एतैः उक्तरीत्या...

मणि द्राविड : न वेद इत्यत्र कापि बाधा नास्ति. नान्तरिक्षे अग्निः न तेजः ...इत्यत्र मीमांसकैः विचारितम्.

पारसनाथ द्विवेदी : अन्धकारस्य अभावत्वाङ्गिकारे इयं श्रुतिः ...अनुकूला श्रुति...तथापि न समञ्जसम्.

प्रह्लादाचार : अर्थवादत्वं स्वीक्रियते खलु तत्र?

के. ई. देवनाथन : ... उत्तरवाक्येन केवले भूतले चयनं न कर्तव्यम्. हिरण्यं निधाय चैतन्यम्.

प्रह्लादाचार : तत्र तात्पर्यम्?

मणि द्राविड : तत्र तात्पर्यम्. एतावता अर्थवादस्य अर्थएव नास्ति इति न. अर्थवादस्य अर्थः अवबुद्ध्यते परन्तु तात्पर्यम् अन्यत्र.

के. ई. देवनाथन : मन्दालोकस्थले तेजस्तमसोः सहानवस्थानरूपः विरोधः इति मणिकारस्य सिद्धान्तः. परन्तु मन्दालोकस्थले आलोकस्तु कुत्रचिद् अस्ति, तमस्तु अन्यत्र अस्ति. आलोकाधिकरणे आलोकसंयुक्ते प्रदेशे तमः अस्ति इति नास्ति.

मणि द्राविड : तदेव मया उक्तम्. अलोकः कस्मिन्श्चिद्भागे, कस्मिन्श्चिद्-भागे तमः इति अयं अत्र न दृष्टान्तः. किन्तु अत्रैव प्रकाशोपि वर्तते, अत्रैव तमोऽपि वर्तते. अतएव अस्पष्टरूपदर्शनं गृहीतम्. प्रकाशो वर्तते इति कृत्वा किञ्चिद् दृश्यते ब्राह्ममुहूर्ते परन्तु विशेष्य स्पष्टतया न दृश्यते.

के. ई. देवनाथन : सहानवस्थानन्तु स्वीकृतं शक्यते खलु.

मणि द्राविड : सहावस्थानेएव अयं दृष्टान्तः.

के. ई. देवनाथन : सहवस्थानं कथम्?

मणि द्राविड : एकस्मिन् देशे...

के. ई. देवनाथन : 'देश' शब्दस्य तु अपवर्गाख्यादेश...

मणि द्राविड : यदवच्छेदेन..

के. ई. देवनाथन : ...स्वीकृतम् अस्ति. अस्य आलोकस्य यः भागः अधिकरणं वर्तते.

पारसनाथ द्विवेदी : यदवच्छेदेन आलोकः तदवच्छेदेन

के. ई. देवनाथन : अवच्छेद इति भवद्भिः उच्यते. 'अवच्छाद'शब्दं विना अधिकरणं स्वीक्रियते चेत्.

पारसनाथ द्विवेदी : अवच्छेदभेदेन अधिकरणस्य भेदो भविष्यति तथा नास्ति. यदवच्छेदेनं प्रकाशः तदवच्छेदेनैव अन्धकारः तिष्ठति इति विवरणाचार्यस्य मतम्.

के. ई. देवनाथन : कपिसंयोगस्थले वृक्षः एकः अवयवी इति नैयायिकैः स्वीक्रियते.

प्रह्लादाचार : सहावस्थानम् अङ्गीकरणीयं भवद्भिः. एकस्मिन् अपवर्गे ...

बलिराम शुक्ल : मन्दालोक इत्यत्र यादृशप्रतियोगिरूप आलोकः अपेक्षितः सः तत्र नास्ति.

के. ई. देवनाथन : तत्तु स्वीक्रियते. परन्तु मणिकारेण सहानवस्थान-लक्षणविरोधः ...

मणि द्राविड : तेषां मते तु प्रतियोग्यभावरूपः खलु तेजःप्रकाशौ अतः सहानवस्थानम्.

के. ई. देवनाथन : भावरूपं वा अभावरूपं वा, तेजस्तमसो विरोधः सर्वदार्शनिकैः स्वीकृतम् अस्ति.

गो. श्या. म. : जस्तमसोः सूर्ये विरोधो नास्ति इति वैज्ञानिकैः कथ्यते. सूर्येएव ब्लेक् स्पोट्स् वर्तते.

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्याम मनोहर

अन्धकारचर्चाम् अधिकृत्य श्रीवल्लभाचार्यन्यासेन आयोजितायां विद्वद्गोष्ठ्यां समाहुतैः विद्वद्वर्यैः श्रीमद्भिः डॉ.मणिद्राविडमहोदयैः प्रथमतस्तु आमन्त्रणस्वीकारेण तदनु स्वविश्रुतयशोनुरूपेण मनोरमेन **''विवरणप्रस्थानदृष्ट्या तमःस्वरूपविवेचनेन''** नूनं भृशम् उपकृताः सर्वेऽपि सहभागिनः अत्र.

तत्र विवेचने अस्मिन् वाल्लभकृताद्वैतमतखण्डनविमर्शोऽपि एभिः कृतः सोऽयं हि विमर्शः उभयोरपि वेदान्तप्रस्थानयोः मिथः चर्चाकोटिक्रमम् अग्रे नेतुम् अतीवोपकारीति मे कार्तज्ञ्यपुरस्सरं मनःप्रत्ययः.

तत्र पूर्वोत्तरमीमांसासूत्रकाराभ्यां जैमिनिबादरायणाभ्यां महर्षिभ्यां स्वस्वमीमांसायोः तमसो द्रव्यत्वेन अनुक्तिः सूत्रकारयोः एतयोः लौकिकपदार्थशोधनाय अप्रवृत्तयोः न दोषाय कस्मैचन भवित्री इत्येवं अन्धकारवादकर्तृभिः श्रीपुरुषोत्तमचरणैः निरस्तामपि युक्तिम् एते अनिरस्तां समीचीनाम् अभ्युपगच्छन्ति. तत्र सूत्रानुसारिचिन्तकैः सूत्रकारानुक्तपदार्थस्वीकारे काणादादिसदृशेतरप्रस्थानसूत्रकारानुसरणमपि निर्दुष्टतायै भवेदिति आपत्तेः परिहारे प्रस्थानान्तरीययुक्तीनामपि अंगीकारानंगीकारयोः श्रुतिविरोधित्वाविरोधित्वेएव नियामके न पुनः स्वीयसूत्रकारोक्तानुक्तत्वे इति द्राविडमहोदयानाम् अभ्युपगमविषये मम मनसि भाताः काश्चन अनुपपत्तीः प्रकाशयितुम् इच्छामि.

भवेद् एतदेवं यदि पूर्वमीमांसावद् ब्रह्ममीमांसायामपि सूत्रकारेण लौकिकपदार्थानां विषये स्वाभिप्रायो नावेदितः स्याद् इति. तथाहि : **''न वियद् अश्रुतेः, एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः, तेजो अतः तथाहि आह, आपः, पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः, अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिंगाद् इति चेद् न, अविशेषाद्''** (ब्र.सू.२।३।१-१५) इत्येवमादिसूत्रेषु लौकिकपदार्थानामपि उपनिषद्दृष्ट्यापि शोधनाय प्रवृत्तिः न अदृष्टचरा. एतेषु सूत्रेषु यथा तमसो

दशमद्रव्यत्वेन अनुल्लेखो तथैव उपनिषत्स्वपि आकाशवायुरग्नि-जलपृथिव्यौषधान्नमयपुरुषादितत्वेषु ब्रह्मणः सकाशात् संजातेषु तमोरूपद्रव्योत्पत्तेः उल्लेखानुपलब्धेः दशमद्रव्यस्य वेदान्ताभिमतप्रवादं न न शिथिलीकरोति.

किञ्च पुराणमूर्धन्ये श्रीमद्भागवते **"ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत् च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः"** (भाग.पुरा.२।९।३३), **"छाया प्रत्याह्वयाभासाः ह्यसन्तोऽपि अर्थकारिणः"** (भाग.पुरा.११।२८।५) इत्येवमादिवचनेषु कण्ठतो हि तमसो मायिकत्वाभ्युपगमाच्च. युक्तीनामपि श्रुतिविरोधित्वाविरोधित्वयोः सन्देहे **" 'इतिहासपुराणः वेदानां पञ्चमो वेदः'... 'वेद'शब्दस्य प्रकृतत्वात् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदं, वेदानां भारतपञ्चमानां 'वेद'=व्याकरणम् इति अर्थः. व्याकरणेन हि पदादिविभागशः ऋग्वेदादयो ज्ञायन्ते"** (छान्दो.उप.शां.भा.७।१।२) इति श्रुत्युपोद्बलितेतिहासपुराणानां श्रुत्युपोद्बलकतायाः अद्वैतसम्प्रदायेऽपि प्रामाण्याभ्युपगमाच्च तथा. तस्मात् तमसो दशमद्रव्यत्ववादो अद्वैतसम्प्रदायशरीरे अन्येभ्यो याचितेन अलंकारेण आत्मनो मण्डनमिवैव प्रतिभाति.

श्रीमच्छंकराचार्यभगवत्पादाअपि **"पञ्चविशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकांक्ष्यन्ते तावन्त्येव च तत्वानि सांख्यै संख्यायन्ते... ततो ब्रूमो न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्वप्रत्याशा कर्तव्या... नानाहि एतानि पञ्चविंशतिः तत्वानि. नैषां पञ्चशः-पञ्चशः साधारणो धर्मो अस्ति, येन पञ्चविंशतेः अन्तराले पराः पञ्च-पञ्चसंख्याः निविशेरन्. नहि एकनिबन्धनम् अन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वादिकाः संख्या निविशन्ते..."** (ब्र.सू.शां.भा.१।४।११) इत्यत्र सांख्यानां नियतपदार्थवादं निराचिकिर्षन्ति. तदेतन्निराकरणं तमसोऽपि नियतदशमसंख्याविरोधि इति न दशमद्रव्यत्वम् अद्वैतिभिः अंगीकरणीयम् इति सिध्यति.

सति चैवं तमसि नीलरूप-परिमाण-परत्वापरत्व-क्रियादि-मत्वानां द्रव्यत्वसाधकलिंगानां का गतिः? इति जिज्ञासायां श्रीमद्भागवतपुराणोक्ता **"तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्"**, **"असन्तोऽपि अर्थकारिणः"** इति असत्यपि अर्थे अर्थक्रियाकारित्व-गुणसमवायित्वयोः भासनकर्त्री मायैव शरणम् इति वल्लभवेदान्तिनाम्

अभिप्रायः. नच सर्वस्यापि द्वैतप्रपञ्चस्य मायिकत्वम् अंगीकुर्वतां मायावादिनां कृते नैतद्विधानं कस्मैचिद् विशेषप्रयोजनाय भवेद् इति वाच्यं, "प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवद्" इति अंगीकुर्वतामपि तेषां कृते **"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्"** (ब्र.सू.२।२।२९) इत्यस्मिन् अधिकरणे समानेऽपि मिथ्यात्वे स्वाप्निकाद् व्यावहारिकवद् व्यावहारिकादपि स्वाप्निकप्रतिभासस्य समुपगतं वैधर्म्यम् अंगीकरणीयमेव. तत्र एवं सति समग्रस्यापि प्रपञ्चस्य व्यावहारिक-मायिकत्वांगीकारेऽपि तमस्समवेततया रूपगुणक्रियापरिमाणानां मायिकप्रतिभासमात्रांगीकरणेन उपपत्तौ कोऽयं निर्बन्धः तमसो व्यावहारिकदशमद्रव्यत्वे? इति श्रीपुरुषोत्तमचरणानां हार्दं मन्तव्यम्.

ननु तमसो असत्त्वे तत्र तमसोऽन्तर्यामिणोः मिथः आधाराधेयभावो नियम्यनियामकभावः शरीरशरीरिभावः अज्ञातृज्ञातृभावः उपनिषदा बोधितो अनुपपद्येत. तस्मात् तमसो भावात्मकद्रव्यतावादएव श्रौतः इति चेद् न, उपनिषदि तावत् पृथिव्याद्याकाशान्तान् दशपदार्थप्रतिपादनानन्तरं निरूप्यमाणे तमस्तेजसी न भौतिकान्धकारप्रकाशरूपे भवितुम् अर्हतः **"इति अधिदैवतम्"** (बृह.उप.३।९।१४) इति उपसंहारोपलम्भात्. नच एवं सति पृथिव्यादीनामपि अभौतिकत्वम् आस्थेयं स्याद् इति वाच्यं, पृथिव्याद्यग्न्यन्तान् त्रीन् भौतिकतत्त्वान् निरूप्य, अन्तरिक्षवायुद्यवां निरूपणेन पञ्चानामपि भौतिकपदार्थानां निरूपणम् उपसंहृत्य, तदूर्ध्वस्थितान् ज्योतीरूपान् आदित्यदिक्चन्द्रतारकान्तानपि निरूप्य, तेभ्यो हि एतेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सर्वाधारस्य आकाशस्यापि पुनः निरूपणानन्तरं सर्वेभ्योऽपि एतेभ्यो व्यतिरिक्तयोः तमस्तेजसोः कथंकारं को नाम भौतिकत्वं मन्वीत?

वस्तुतस्तु एतेषां सर्वेषाम् **'अधिदैवतम्'** इति उक्तेः नेह भूतले हि उपलभ्यमानानां पाञ्चभौतिकानां किन्तु एतत्कारणीभूतानां देवलोकेष्वेव स्थितानां पृथिव्यादितत्त्वानाम् इह विवक्षा वेदितव्या. ननु कुतः प्रसिद्धार्थपरित्यागेन अप्रसिद्धार्थः कल्पनीयः? इति चेद् न, **"अथ आधिभौतिकम्"** (तत्रैव.३।७।१४) इति उपक्रमानन्तरं भौतिकद्रव्यानां निरूपणे तमसो अप्रतिपादनोपलम्भात्. तस्माद् उपक्रमोपसंहारालोचनेन न तमसो भौतिकद्रव्यत्वसिद्धिः. ननु कथमिवभूतेन तेन तमसा भाव्यम्? इति चेद्, अत्र उपनिषत्सु भगवद्गीतासु च **"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"** (श्वेता.उप.३।८-भग.गीता.८।९) **"ज्योतिषामपि तद् ज्योतिः तमसः परम् उच्यते"**

(भग.गीता.१३।१७) ''दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्'' (भाग.पुरा.१०।२८।१४) इति भागवते च, ''आदित्प्रतक्स्य रेतसः उद् वयं तमसः परिपश्यन्ती ज्योतिः पश्यन्तः'' (छान्दो.उप.३।१७।७) इति श्रुतौ निर्दिष्टस्य आदित्प्रतक्रेतोरूपस्य तमसएव इहापि विवक्षितत्वेन तस्यैतस्यैव तमसो अन्तर्यामिणा सह आधाराधेयभावो नियम्यनियामकभावः शरीरशरीरिभावो वा अज्ञातृज्ञातृभावो वापि, न पुनः चाक्षुषान्धकारस्य. अतोहि नृचक्षुर्ग्राह्यतमस्स्वरूपनिर्धारणाय न एतद् वचनं विनिगमकं भवितुम् अर्हति. तत् कुतः? इति पर्यनुयोगे प्रथमं तावद् ''इत्यधिदैवतम्'' इति तमस्तेजसोनिरूपणोपसंहारे कण्ठतो अभ्युपगमेन चाक्षुषान्धकारस्य आधिदैविकत्वासम्भवात् च. किञ्च पृथिव्यादिमहाभूतान् निरूप्य आदित्यचन्द्रतारकाद्युपरिवर्तिनः तमसोऽपि निरूपणोपलम्भात् तस्य चक्षुषा अग्राह्यत्वात् च. ततएव ''पृथिव्यादि-तदभावयोः अप्रतिपादनेन न प्रकाश-तदभावरूपम् इदं तमः किन्तु भावरूपमेव'' इति वाचोयुक्तिरपि न साधीयसी अन्यथोपपत्तेः. तस्मात् सिद्धं तमसो असत्त्वेऽपि मायादर्शितत्वमेव.

तदुक्तम् आचार्यचरणैः :

''अन्यथा भ्रमद्दृष्ट्या गृहीतं जगद् भ्रमद्रूपमेव स्यात्. अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया भवति. अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमद्दृष्टिः निर्विषया स्यात्... एवं सर्वत्र जगति सा बुद्धिभ्रमं जनयति अन्यत्र अन्यविषयतां सम्पादयति. विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्. मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितमिति तदपि न निःस्वभावम्, आत्मशक्तित्वाद् मायापि न निःस्वभावा, चिद्विलासत्त्वाद् बुद्धेः परं तामेव व्यामोहयति यावद् न ब्रह्मभावः.

साहि भगवदीयैः सर्वैरपि पदार्थैः विरुध्यते, तेहि भगवद्विषयकं ज्ञानं जनयन्ति, अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तं-विषयजनितं प्रमा. एवं यथा जगति (आधिभौतिके) तथा आत्मन्यपि (आध्यात्मिके)... नहि विषयः चक्षुः वा, जडं नियतस्वभावम्, अन्यथाप्रतीतिहेतुः भवति... साच विषयता

द्विधा : आच्छादिका एका अन्यथाप्रतीतिहेतुः च अपरा. सा उभयविधापि माययैव जन्यते... *ननु मायायाः कथम् एवं पदार्थजनकत्वं व्यामोहजनकत्वमेव तस्याः, नच विषयातिरिक्ता काचिद् विषयता क्वचिद् उपलब्धा?* इति आशंक्य 'यथा तमः' इति, यथा अन्धकारः पदार्थः तेजोऽभावे जन्यते. यत्रैव तेजोऽभावः तत्रैव अन्धकारं जनयति माया, इयमेव व्यामोहिका. अतएव दिवाभीतान् प्रति न अन्धकारं जनयति. तेतु तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति, तेषां दृष्टेः कोमलत्वाद् बलवत्तेजो दृष्टिप्रतिबन्धकं भवति, तदभावे सुखेन विषयान् गृह्णन्ति. अस्मदादीनामपि तेजो न विषयसंस्कारकं नवा चक्षुषः किन्तु तेजोऽभावे मायया तमोजननात् सैव (विषयतैव) दृष्ट्या विषयीक्रियते नतु विषयः. अतः तमोनिवृत्त्यर्थमेव तेजः, तथैव लोकप्रतीतिः साच विषयता चक्षुषा गृह्यते विषयाद् भिन्नतया स्वात्मसात्क्रियते... 'यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषाम्' इति वाक्ये चक्षुःसम्बन्धिनएव तमसो नाशकत्वं नतु स्वभावतएव किञ्चित् तमो अन्यथा स्पर्शनापि ज्ञाने तत् प्रतिबन्धकं स्यात्''. (सुबो.२।९।३३).

तस्माद् भिन्नन्तु आधिदैविकम् अलौकिकं हि तमः लौकिकात् चक्षुसम्बन्धिनः तमसो हि इति वाल्लभप्रक्रियायाः संक्षेपः. तस्यैतस्य आधिदैविकस्य तमसो निरूपणं श्रीमद्भागवतसुबोधिन्योः यथा च उपलभ्यते तदपि सकृद् इक्षणीयमिति उदाह्रियते :

''तत्र अश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः तमसि भ्रष्टगतयोः बभुवुः... तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरः सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत् पुरः, तमः सुघोरं गहनं कृतं महद् विदारयद् भूरितरेण रोचिषा... द्वारेण चक्रानुपथेन तत् तमःपरं परं ज्योतिः अनन्तपारम् समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षो अपिदधे अक्षिणि उभे''

(भाग.पुरा.१०।८९।५२).

''तत्र तमसो माहात्म्यम् 'तत्र अश्वाः...' इति... ततः तस्मिन् अन्धकारे सुदर्शनस्य गतिम् आह 'सुघोरं तमो विदारयन् निर्विवेश' इति सम्बन्धः. तमसः स्पर्शोऽपि निराकरणार्थं कठिनः इति वक्तुं सुघोरत्वम् उक्तम्... 'गहनम्' अतिगम्भीरम्. 'महत्कृतम्' आलोकापेक्षया अधिकपरिणामवतो बलात् च आगमनप्रतिषेधार्थं वा महत्कृतम्. ननु एतादृशम् अन्धकारं दूरीकृत्य निर्विशेत् तत्र आह 'भूरितरेण रोचिषा' इति, ततोऽपि अधिकेन तेजसा... 'चक्रानुपथेन द्वारेण' चक्रनिर्दिष्टमार्गेणैव. तादृशमपि 'तमः' कर्म, 'परम्' उत्कृष्टं ज्योतिः यस्य तादृशं सुदर्शनं 'परं' ब्रह्म तेजोरूपम्... 'अनन्तम्'–'अपारम्' इति उभयविशेषणम्. तमः तेजः च उभयं सम्यग् अश्नुवान् अग्रपश्चाद्भवेन तमसा तेजसा च व्याप्तं रथं दृष्ट्वा...'' (सुबो.१०।८९।५२).

तेनैतेन भिन्नं हि तमः आधिदैविकं आदित्यचन्द्रतारकेभ्यो हि ऊर्ध्वं नृचक्षुर्ग्राह्याद् भूतले अनुभूयमानाद्. इत्येतयोः उभयोः अन्तरम् अवश्यम् अभ्युपेतव्यमेव. नैनम् एवम्भूतं तमः श्रीमान् श्रीधरः स्वामी भागवतीये पद्ये अस्मिन् न अंगीकरोति किमुत '''कृतम्'इति प्रकृतिपरिणामरूपं न आलोकाभावमात्रम्'' (भा.श्रीध.१०।८९।५२) इति विवृणोत्यपि.

नापि एतद् व्याख्यानं तमसो भावरूपदशमद्रव्यांगीकारमात्रएव पर्यवसास्यति इति कल्पनीयम् अनुपपत्तेः. यस्मात् तस्यैतस्य विशेषभावरूपदशमद्रव्यत्वेन साधारण्येऽपि 'आधिदैविक'–'आधिभौतिक'भेदेन द्वैविध्यन्तु न केनापि अपलपितुं शक्यम्. अन्यथा मायाकल्पितविग्रहवतत्वसाधारण्येन लौकिकविग्रहवतो जीवाद् दिव्यविग्रहवतोऽपि ईश्वरस्य भेदो न स्यात्. नच इष्टापत्तिः ''तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोः इन्द्रादीनां स्वरूपम् अवगतं न तत् तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्. इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्... भवति हि अस्माकम् अप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षं, तथाच व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्ति इति स्मर्यते'' (ब्र.सू.शां.भा.१।३।३३) इति भाष्यवचनविरोधात्.

सर्वथातु अत्र श्रीमता डॉ. मणिद्राविडमहोदयेन उभयवेदान्तप्रस्थानयोः बहुकालाद् उपरता हि चर्चा विद्वद्गोष्ठ्यां सहभागी भूत्वा पुररुज्जीवितेति तेषां प्रति आत्मनो भृशम् आधमर्ण्यं प्रकाशयन् विरमामि.

तमस्के विभिन्न स्वरूप
और उनकी अनुभूतिओं के बारेमें
कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार (वाल्लभ दृष्टिकोणसे)

गोस्वामी श्याम मनोहर

(१.उपक्रम)

अ ने क त न्त्र का न्तार त मसा वृ त वर्त्म नि।
मा मा मुक्थाः पर्यटन्तं मां कृष्णत्वं सयुक् सखा।।

यद्यपि प्रस्तुत विचारगोष्ठीमें विचार्यविषयतया जो अन्धकार या तमस् अभिप्रेत है, वह तो भूतलपर अनुभूत होते सौर चान्द्र आग्नेय या दीपज्योति आदिके चाक्षुष प्रकाशसे विपरीत Emperical darkness अर्थात् चाक्षुष तमस् या अन्धकार ही है. फिर भी Non-emperical, Psychological, Metaphysical, Spiritul या Transcendental अर्थात् प्रत्यक्षागम्य, मानसशास्त्रीय, पराभौतिक, आध्यात्मिक अथवा अलौकिक या आधिदैविक स्वरूप भी अन्धकारके शास्त्रमें उपलब्ध होते ही हैं. अपने वैचारिक क्षितिजसे उन्हें बाहर रख कर अर्थात् उनके सन्दर्भको ओझल होने देनेपर चाक्षुष तमस्के स्वरूपका भी यथावद् आकलन सुकर नहीं रह जाता. अतः सन्दर्भोपात्ततया उनके विमर्शके बाद ही विचार्यविषयके प्रति प्रयाण वाल्लभ विचारसरणीको सुगम बना पाता है.

श्रुत्यादि शास्त्रवचनोंमें अन्धकार या तमस् के अनेक रूप निरूपित हुवे हैं. इन विभिन्न निरूपणोंमें जिस एक तथ्यके सन्दर्भमें एकसूत्रता उपलब्ध होती है, वह तो यही है कि ज्योति या प्रकाश की अनुभूतिसे विपरीत किसी अनुभूतिके प्रकारको या तद्गोचरविषयको 'अन्धकार' या 'तमस्' कहा जाता है. अब स्वयं ज्योति या प्रकाश के, क्योंकि, अनेक रूप या प्रकार विचारे जा सकते हैं; अतः, तत्तद् ज्योति या तत्तत् प्रकाश के स्वरूपोंसे विरुद्ध स्वभाव

प्रकट करनेके कारण अन्धकारके भी अनेक रूप सम्भव हैं ही.

सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत्, अग्नि, मणि, बाह्य विषयोंका प्रकाशक बुद्धिजन्य ज्ञान, आन्तर अनुभूतिकी प्रकाशिका वाणी, प्राकृतगुणान्तर्गत मुख्यतया तो सत्त्वगुण परन्तु गौणतया अन्योन्यमिश्रित रजोगुण और तमोगुण भी, आत्मचैतन्य, देवस्वरूप, ब्रह्मचैतन्य आदि अनेकविध प्रकाशरूप तत्त्वोंके स्वपरवस्तुके प्रकाशनरूप व्यापारके विपरीत कहीं आत्यन्तिक अप्रकाशन या कहीं स्वयं इन्हें या इनके द्वारा प्रकाश्य विषयको आवृत करनेवाली उपाधिओंका अन्धकार या तमस् के रूपमें निरूपण उपलब्ध होता है.

(२.आधिदैविक तमस्का स्वरूप)

<u>श्रौतसन्दर्भ : (क)सृष्टिपूर्व तथा (ख)प्रलयोत्तर तमस्के स्वरूप</u> :

(क/१)''न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत् किम् आवरीवः कुह कस्य शर्मन्? अम्भः किम् आसीद् गहनं गभीरं? न मृत्युः आसीद् अमृतं न तर्हि न राव्याः अह्नः आसीत् प्रकेतः आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं, तस्माद् ह अन्यद् न परः किञ्चन आस तमः आसीत् तमसा गूढम् अग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदं तुच्छ्येन आभुः अपिहितं यद् आसीत् तपसः तद् महिना अजायत एकम्'' (ऋक्संहि.१०।११।१२९।१-३).

(क/२)''किं तद् आसीत्? तस्मै स ह उवाच 'न सद् न असद् न सदसद्' इति. तस्मात् तमः सञ्जायते. तमसो भूतादिः, भूतादेः आकाशम्, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी, तद् अण्डं समभवद्...(सुबा.उप.१।१).

(ख)''सो अन्ते वैश्वानरो भूत्वा सन्दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि, पृथिवी अप्सु प्रलीयते, आपः तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ विलीयते, वायुः आकाशे, आकाशम् इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु,

तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिः महति, महान् अव्यक्ते, अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति. परस्ताद् न सत् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति'' (सुबा.उप.२).

[क]शांकर वेदान्तके अनुसार यहां, सृष्टिपूर्व जो ब्रह्म परमार्थतः था ही उससे, यह श्रुत्युक्त तमस् सदसद्विलक्षणरूप अनादि अज्ञान अविद्या या माया होनेके कारण उस परमतत्त्वके कैवल्यको हानि नहीं पहुंचाता है. वाल्लभ वेदान्तके अनुसार, परन्तु–

[१]सद् और असद् के अलावा तीसरी सदसद्विलक्षण मिथ्यात्वरूप कोटि प्रामाणिक न होनेसे यहां अज्ञानरूप तमस् अमान्य ही है.

[२]सुबालोपनिषद्के **''न सद् न असद् न सदसद्''** (उपर्युद्धत) तथा **''अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते''** (भग.गीता.१३।१२) वचनोंमें भी स्वयं परब्रह्मको भी 'सदसद्विलक्षण' कहा गया होनेसे यह सदसद्वैलक्षण्य कथमपि मिथ्या होनेके अभिप्रायवश कहा गया माना नहीं जा सकता है.

[३]**''न असद् आसीत् नो सद् आसीत् तदानीम्''** वाक्यांशमें सर्वसन्देहवारक 'तदानीं'पदके उपन्यासके कारण; क्योंकि, जो कोई पदार्थ वह था वह तब ही सदसद्विलक्षण था. अर्थात् सृष्टिके बाद वह वैसा नहीं रहा, फलतः शांकर वेदान्ताभिमत ज्ञानावरिका माया या अविद्या सृष्ट्युत्तरकालमें भी सदसद्विलक्षण ही रहती होनेसे, यहां वह प्रतिपादनीय मानी नहीं जा सकती है.

[४]'स्वधया'पदमें 'स्व'पद उसी परमार्थ तत्त्वका वाचक है. अतः 'स्वधा' उसकी योगनिद्रा होनेसे उसीके जितनी परमार्थरूप होनेपर भी, उस परमार्थ वस्तुसे द्वितीयतया निरुक्त

न हो पानेके कारण उसे 'तमस्' कहना विवक्षित लगता है.

[५]यदि श्रुतिमें **'तुच्छ्येन'** पदके प्रयोगके कारण उसे तुच्छकल्प मानना हो तो–जो वस्तुतः तुच्छ या असद् से विलक्षण हो उसे–असत्सलक्षण मानना पड़ेगा. ऐसा माननेपर तो सुस्पष्ट वदतोव्याघात होगा. इसके अलावा तब सत्से विलक्षण होनेपर भी सत्सदृश भी उसे क्यों नहीं कहा जा सकेगा? और यदि ऐसे कहा–माना जाये तो तुच्छकल्पता अकल्प्य हो जायेगी. क्योंकि स्वयंप्रकाश चैतन्यके अलावा तब प्रमाता तो कोई था नहीं जिसके ज्ञानके सन्दर्भमें वह तमस् उस स्वयंप्रकाश परमचैतन्यको **'आ–अपिहित'**=आवृत कर पाये. सो स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप अधिष्ठानमें वह तमस् तदेकप्रतिभास्य होनेके कारण, प्रातिभासिकी सत्ताके अलावा मायाविद्याकी तो अतिरिक्त सत्ता न होनेके कारण भी, स्वयं उसका आवरण तो वह हो ही नहीं सकता. अगतिकतया **'तुच्छ्येन'** पदका तुच्छ ही अर्थ स्वीकारनेपर तो पुनः वदतोव्याघात ही होगा, असद्वैलक्षण्य निरस्त हो जाता होनेसे.

[६]**'सद्'–'असद्'**पदोंको, अतएव, भावाभावार्थक माननेपर तो **''तम आसीत्''** वचन भी स्वतोव्याहत हो जायेगा.

[७]**''तमः आसीत् तमसा गूढम् अप्रकेतम्''** अंशपर ध्यान देनेपर यह और समझमें आता है कि जो तमस् था वह तमस् भी तब तमस्त्वेन अवगत तो नहीं था. यह तो बिलकुल निद्राकालीन अज्ञान अथवा ज्ञातृज्ञानज्ञेयविकल्परहित निर्विकल्प समाधि के जैसी ही कोई कथा लगती है. क्योंकि निद्राकालीन अज्ञान स्वयं निद्राकालमें संवेदनाका विषय नहीं बनता परन्तु जागनेपर उसकी ''गाढं मूढो अहम् अस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिषम्'' ऐसी प्रतीतिजनकता सर्वानुभूतिगोचर बनती है. ऐसी ही कथा निर्विकल्पसमाधिकी भी कही जाती है.

[८]**''तपसः तद् महिना अजायत एकम्''** और **''सदेव, सौम्य, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं... तद् ऐक्षत**

बहु स्यां प्रजायेय'' (छान्दो.उप.६।२।१-३) यों इन दोनों वचनोंमें 'तपसः'-'ऐक्षत' तथा 'अजायत एकं'-'एकमेवाद्वितीयं...बहु स्यां प्रजायेय' पदोंकी समानाभिप्रायकता निर्विवाद लगती होनेसे भी तदतिरिक्त मायाविद्यारूप कारणान्तरकी हेतुताके अङ्गीकारमें श्रुत्युक्त एकमेवाद्वितीयताका सर्वथा अनादर ही प्रकट होता है.

(९)अतएव इस तमस्‌को योगनिद्रारूप मान लेनेपर ''**आसीद् इदं तमोभूतम् अप्रज्ञातम् अलक्षणम् अप्रतर्क्यम् अविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः. ततः स्वयम्भुः भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन् इदं महाभूतानि वृत्तौजाः**[१] **प्रादुरासीत् तमोनुदो योऽसौ अतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मो अव्यक्तः सनातनः सर्वभूतमयो अचिन्त्यः सएव स्वयम् उद्बभौ**'' (मनुस्मृ.१।५-७) यहां 'इदं'पदके प्रयोगसे पुरोवस्थित परिदृश्यमान विस्तार ही स्वयम्भु वृत्तौजा अव्यक्त भगवान्‌में तब प्रसुप्तोपम था ऐसा विवक्षित लगता है. उस प्रसुप्त्युपम तमस्‌को निवृत्त करके वह सर्वभूतमय सनातन अचिन्त्य तत्त्व स्वयमेव महाभूतादि सकलसृष्टिका अभिव्यञ्जक बना यह कण्ठोक्त अभिगम है. अतः सदसद्विलक्षण मायाविद्यादिसदृश असत्कल्प तत्त्वकी सम्भावनाको यह मनुवचन भी निःशेष कर देता है, क्योंकि शांकर वेदान्तमें अज्ञाननिवृत्तिपूर्विका जगत्सृष्टि स्वीकारी नहीं गयी है.

(१०)''**यः तमसि तिष्ठन् तमसो अन्तरो, यं तमो न वेद. यस्य तमः शरीरं, यः तमो अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः. यः तेजसि तिष्ठन् तेजसो अन्तरो, यं तेजो न वेद. यस्य तेजः शरीरं, यः तेजो अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः**'' (बृह.उप.३।७।१३-१४). तमस् और ज्योति दोनोंके भीतर वह अन्तर्यामी विद्यमान रहता है, जिसे तमस् और ज्योति जान नहीं

---

१. अप्रतिहतम् औजः सृष्टिसामर्थ्यं यस्य सः. कल्लुकभट्टी.

पाते परन्तु वे दोनों ही उसके शरीररूप होते हैं. जो इन तमस् और ज्योति दोनोंके भीतर रह कर उनका नियमन करता है वही हमारे भीतर भी रहनेवाला अमृत अन्तर्यामी है.

अतः इस अंशमें शांकर वेदान्तकी तरह ही वाल्लभ वेदान्तमें भी इस प्रसुप्तिकल्प स्वात्मेतरके अज्ञानको ज्ञानप्रतियोगिक केवल अभावके रूपमें देखनेके बजाय भावरूप निर्विकल्पसमाधिवत् स्वीकारा गया है. अतएव महाप्रभु कहते हैं '' '**तम आसीद्' इति तमोऽपि ब्रह्मैव, सर्वतः सुप्तत्वेन साम्यात्**'' (भाग.सुबो.२।९।३२).

अतः यहां यह अवश्यावधेय हो जाता है कि शांकर वेदान्तमें अज्ञान व्यावहारिक अनुभूतिमें भावरूप होनेपर भी परमार्थतया सदसद्विलक्षण माना गया है. वाल्लभ वेदान्तमें, जबकि, व्यावहारिक अनुभूतिके स्तरपर ही नहीं प्रत्युत भगवच्छक्तिरूप होनेसे पारमार्थिक स्तरपर भी परमात्मगत निर्विकल्पसमाधि या योगनिद्रा के सदृश इस दिव्य तमोरूप स्वात्मेतरके अज्ञानको आत्मरमणके रूपमें माना गया है. इसी तरह जीवगत भी अनेकविध अज्ञानोंको सत्य भावरूप ही माना गया है : ''**विद्याविद्ये हरेः शक्तिः माययैव विनिर्मिते ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता...आत्मनः स्वरूपलाभो विद्यया देहलाभो अविद्यया इति. उभयोः जीवधर्मत्वं व्यावर्तयति 'हरेः शक्ती' इति. तेन भगवदिच्छयैव तयोः आविर्भावतिरोभावयोः हेतुत्वम् इति उक्तम्**'' (त.दी.नि.प्र.१।३१)[२].

(ख)प्रलयोत्तरदशाके निरूपण भी ''**अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि,**

२.द्रष्ट. : ''विद्याविद्ये मम तनू विद्धि उद्धव शरीरिणां बन्धमोक्षकरी आद्ये माययैव विनिर्मिते, एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः विद्यया च तथा इतरः... अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते विरुद्धधर्मिणोः तात स्थितयोः एकधर्मिणि... आत्मानम् अन्यं च स वेद विद्वान् अपिप्पलादो, नतु पिप्पालादो, यो अविद्यायुक् सतु नित्यबद्धो, विद्यामयो यः सतु नित्यमुक्तः''(भाग.पुरा.११।११।३-७).

तमः परे देवे एकीभवति'' श्रुतिवचन प्रत्यापत्तिके वर्णनार्थ है. यहां 'अक्षर'=काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुष है. सो पञ्चविध अक्षरब्रह्मकी अवस्थाविशेष ही यहां विवक्षित है. सकलविध द्वैतघटित सृष्टिकी स्वप्रत्यापत्ति ही 'तमः'पदवाच्य सृष्ट्यतीत निःष्पन्दावस्था है. और परब्रह्ममें इस अवस्थाका एकीभाव भी दिखलाया ही गया है[३]. अतएव यह भी इस तथ्यका प्रबल प्रमाण माना जाना चाहिये कि यह 'सदसद्वैलक्षण्य' तृतीय मिथ्याकोटिके अर्थमें प्रयुक्त नहीं प्रत्युत जैसा कि भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य पूर्वनिर्दिष्ट भगवद्गीतास्थ **''न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते''** के भाष्यमें कहते हैं **''सर्वोहि शब्दो अर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः श्रूयमाणः च श्रोतृभिः जातिक्रियागुणसम्बन्ध-द्वारेण संकेतग्रहणं सव्यपेक्षो अर्थं प्रत्याययति''** (गीता.शांक.भा.१३।१२) तदनुसार ''आभुः'पदनिर्दिष्ट ब्रह्म उस अवस्थामें शब्दसामर्थ्येन अनिरूपणीय होनेके ही अभिप्रायवश उसकी उस अवस्थाको **''तुच्छ्येन आ-अपिहितं''** निरूपित किया गया है. अर्थात् इसी हेतुवश उसे 'तमस्' कहा गया है. अतएव **''परस्ताद् न सत् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति''** वाक्यांश भी ऋजु अर्थमें सुसङ्गत हो जाता है.

<u>स्मार्तसन्दर्भ : उल्लिखित तमस्की भगवद्गीता-भागवतपुराणोक्त योगनिद्रारूपता</u> :

(क)**''सर्वभूतानि, कौन्तेय, प्रकृतिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये, पुनः तानि कल्पादौ विसृजामि अहम्. प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनः-पुनः भूतग्रामम् इमं कृत्सनम् अवशं प्रकृतेः वशात्. नच मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति, धनञ्जय, उदासीनवद् आसीनम् असक्तं तेषु कर्मसु. मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरं, हेतुना अनेन, कौन्तेय, जगद् विपरिवर्तते''** (भग.गीता.९।७-१०).

(ख/१)**''सएव इदं ससर्ज अग्रे भगवान् आत्ममायया**

३.द्रष्ट. : ''ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरं... 'आदि'शब्देन 'असत्-तमः'शब्दादयो गृह्यन्ते. तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरएव''(त.दी.नि.२।१००).

<u>सदसद्रूपया</u> (नतु सदसद्विलक्षणया)**च असौ गुणमय्या अगुणो विभुः. तया विलसितेषु एषु गुणेषु गुणवानिव अन्तःप्रविष्टः आभाति विज्ञानेन विजृम्भितो, यथाहि अवहितो वह्निः दारुषु एकः स्वयोनिषु नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्. असौ गुणमयैः भावैः भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुंक्ते भूतेषु तद्गुणान्. भावयति एष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनो लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्-नरादिषु. जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः सम्भूतं षोडशकलम् आदौ लोकसिसृक्षया. यस्य अम्भसि शयानस्य *<u>योगनिद्रां</u>* वितन्वतो नाभिह्रदाम्बुजाद् आसीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः''** (भाग.पुरा.१।३-४।३०-२).

(ख/२)**''तमोमात्राम् उपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः कालेन अनुगताशेषः आस्ते तूष्णीं दिनात्यये. तमेव अन्वपीधीयन्ते लोकाः भूरादयः त्रयो, निशायाम् अनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करं त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या संकर्षणाग्निना... तावत् त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः प्लावयन्ति उत्कटाटोप-चण्डवातेरितोर्मयः अन्तः स तस्मिन् सलिले आस्ते अनन्तासनो हरिः *<u>योगनिद्रा</u>*निमीलाक्षः''** (भाग.पुरा.३।११।२७-३१).

इन शास्त्रवचनोंके पर्यालोचन करनेपर इस तमस्का योगनिद्रा होना स्पष्ट हो जाता है. अतएव यहां योगनिद्राको सदसद्विलक्षण अज्ञानरूपा मायाके रूपमें श्रीश्रीधरस्वामीने भी नहीं स्वीकारा है जैसा कि **''यस्य 'अम्भसि'=एकार्णवे 'शयानस्य'=विश्रान्तस्य तत्रच 'योगः'=समाधिः तद्रूपां निद्रां विस्तारयतो''** (भावा.दीपि.१।३।२) इस व्याख्यासे सुस्पष्ट ही है. आत्मसमाधिको मायिक माननेपर तो जीवन्मुक्तकी आत्मकैवल्यानुभूतिको भी मिथ्या मानना पड़ेगा अस्तु, इस विषयमें वाल्लभ वेदान्तका दृष्टिकोण तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी **''ननु शयनं नाम स्वरूपविस्मरणेन, मायायाः भगवतो वा समीपगमनं, तत् कथं भगवति सम्भवति? इति**

आशंक्य आह 'योगनिद्राम्' इति. नहि भगवान् शेते वस्तुतो, अस्ति च योगभूतनिद्रा काचित् शक्तिः. साहि जीवानां क्लेशनाशिनी स्वसमीपं च आनयति गुह्यं च प्रकटीकरोति." (भाग.सुबो.१।३।२) इस व्याख्यासे सर्वथा सुस्पष्ट ही है. अतएव इस स्पष्टीकृत सन्दर्भमें ही प्रलयनिरूपक वचनके व्याख्यागत पदोंका भी अभिप्राय गृहीत करना चाहिये. जैसा कि महाप्रभु दिखलाते हैं —

> "अत्र अयं क्रमः : यदा भगवान् शिशयिषुः भवति तदा तमो गृह्णाति पश्चात् च शेते... जगति स्वस्मिन् प्रविष्टेऽपि भगवान् न परिपालनार्थं यत्नं करोति किन्तु तूष्णीमेव तिष्ठति. तस्य तूष्णीम्भावमनु भुवनात्मकाः भूरादयः उज्जटग्रामभित्तयइव तिरोहिताः भवन्ति. तदा अन्धकारे प्रवृत्ते रात्रिः सुतरां प्रवृत्ता भवति. तदा संकर्षणमुखाद् उत्थितो अनलः त्रिलोकीं दहति... तदा तस्मिन् सलिले 'शेषा'परनामा अनन्तो, अन्तःस्थितसर्वलोकानां दुःखहर्ता, योगनिद्रया निमीलिताक्षः... आस्ते."
>
> (भाग.सुबो.३।११।३१).

एतावता सिद्ध होता है कि तमस्का कोई एक आधिदैविक या अलौकिक स्वरूप भी है जिसे भगवान्की योगनिद्रा माना गया है. यह योगनिद्रा ब्रह्मकी सृष्ट्यनुकूला सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिके विपरीत प्रलयानुकूला शक्ति होती है. इन दोनों शक्तिओंमेंसे यथेष्ट शक्तिका उपयोग ब्रह्म अपनी अप्रतिहतेच्छारूपा सत्यसंकल्पशक्तिके द्वारा करता है. ऐसा महाप्रभुकी " 'श्रिया पुष्ट्या...विद्ययाविद्या शक्त्या मायया च निषेवितम्'– 'विद्या'=ज्ञानरूपा मोक्षदायिनी, 'अविद्या'=बन्धिका... 'शक्तिः'= इच्छाशक्तिः एषा सर्वनियामिका, 'माया'=सर्वभवनसामर्थ्यं व्यामोहिका चेति उभयविधापि परिगृहीता 'च'कारेण... तेन मुख्या द्वादश अवान्तरभेदाः असंख्याताएव भवन्ति" (भाग.सुबो.१०।३९।५५) व्याख्याके आधारपर सिद्ध होता है. एतावता "रूपं–रूपं प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपं

प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ता हि अस्य हरयः शता दश इति. अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च तद् एतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अबाह्यम् अयम् आत्मा सर्वानुभूः इति अनुशासनम्" (बृह.उप.२।५।१९) यह बृहदारण्यकवचन भी ब्रह्मकी आत्मरूपा शक्तिओंकी करणता तथा शक्ति एवं शक्तिमान् के तादात्म्यके निरूपणपरक हो कर सुसङ्गत हो जाता है.

इसे जीवात्मगत अज्ञान/अविद्यारूप तमस्के रूपमें न देखनेका दृढ़ आग्रह वाल्लभ वेदान्त इसलिये भी रखता है, क्योंकि, उपनिषद्में जीवगत अज्ञानकी सृष्टि उत्तरकालिक प्राकट्यके रूपमें निरूपित हुयी है : "सो अकामयत् 'बहु स्यां प्रजायेय' इति स तपो अतप्यत्. स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्... विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्" (तैत्ति.उप.२।६). यहां अवधेय है कि 'विज्ञान–अविज्ञान'पदोंसे न तो जीव–जड़–सृष्टिकी विवक्षा शांकर वेदान्तके अनुकूल होगी; और न 'अविज्ञान'पदसे मूलाज्ञानके बजाय तूलाज्ञानकी विवक्षा ही शांकर वेदान्तके अनुकूल हो पायेगी. क्योंकि प्रथम कल्पमें जीवचेतनाको सृष्ट माननेपर वह अनित्य सिद्ध होगी और 'अविज्ञान'पदसे जड़सृष्टि माननेपर उसे 'अनृत'से भिन्न मानना पड़ेगा. जबकि शांकर वेदान्तमें जड़ अनृत एकार्थक माने गये हैं. जड़सृष्टिको व्यावहारिक सत्यतया स्वीकारनेपर और प्रातिभासिक सत्यको अनृत स्वीकारनेपर भी प्रातिभासिक वस्तुओंको भी परमेश्वरसृष्टतया स्वीकारना पड़ेगा. यह सर्वप्रमातृगम्य हो कर उन्हें पुनः व्यावहारिक ही अकामतया सिद्ध कर देगा. अन्यथा प्रातिभासिक वस्तुके बारेमें भी तत्प्रमात्रेकगोचरतारूप प्रतिभासमात्रशरीरताका प्रत्याख्यान ही हो जायेगा. अतः श्रुत्युक्त 'अनृतं च' वचनद्वारा 'मूलाज्ञाना'ख्य पदार्थ भी अनृतत्वेन शांकर वेदान्तमें सङ्गृहीत होना ही चाहिये. इस तरह सृष्टिरूपद्वैतके प्राकट्यमें उस परब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य किसीकी हेतुता मान्य नहीं हो पाती. अर्थात् उसके सत्यसंकल्पका अविषय कोई भी सृष्टिगत पदार्थ हो नहीं सकता, यही "इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा" पदोंका स्वारसिक अभिप्राय प्रतीत होता है.

निष्कर्षतया अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंका पृथक्पृथक् प्रविभाजन या प्रकाशन अथवा उनमें रमण जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्ममें सृष्टिरूप होता है, वैसे ही उनके अप्रकाशन या विभागविलोपन द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्मका पुनः आत्मैकरमण अनुभवातीत आधिदैविक तमस् माना गया है.

अतएव त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी वाल्लभ वेदान्तके अनुसार एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्त्वका अपने धर्मिभूत चिदानन्दांशोंके तिरोधानपूर्वक केवल धर्मिभूत सदंशका विलास है. एतदर्थ महाप्रभुके शब्दोंमें इस प्रतिपादनका अवलोकन उपकारी होगा—

> "'सत्त्वं रजस्तमइति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीताः मायया विभो.' यथा ऊर्णनाभिः सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणान् उद्वमते... सद्रूपेण निर्गतं 'सत्त्वम्' इति उच्यते. केवलचिद्रूपेण निर्गतं, क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् सदानन्दाभावात् च 'रजः' इति उच्यते. आनन्दांशात् च तमः. ते भगवद्रूपाएव भगवता सृष्टाः. नच भगवति ते पूर्वस्थिताः, तथा सति ते भगवदात्मकाः न भवेयुः. यथा कार्पासे सूत्रम्. तदेव हि पश्चात् स्वावयवैः पौर्वापर्यम् आपद्यमानं सूत्रताम् आपद्यते. अतएव भगवान् निर्गुणः. ते गुणाः पुनः स्थितिसर्गनिरोधेषु उत्पत्तिस्थितिलयार्थं गृहीताः. तेषामपि गृहणं मायया. एषा हि माया जगत्कर्त्री नतु व्यामोहिका, तद् आह 'विभोः' इति. समर्थस्य जगत्कर्तुः इति अर्थः. साहि तच्छक्तिः सर्वरूपभगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा. सा जगत्करणे करणरूपा. अतः करणांशस्य तदीयत्वात् करणरूपेणैव निर्गताः गुणाइति माययैव गृहीताः" (भाग.सुबो.२।५।१८).

अतः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी घटक गुणत्रयीके अन्तर्भूत जो तमोगुण

स्वीकारा गया है वह भी न तो सदसद्विलक्षण माना जाता है और न अब्रह्मात्मक ही. अतएव **"अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः"** (श्वेता.उप.४।५) श्रुतिवचनमें भी 'लोहित-शुक्ल-कृष्ण' पदोंके द्वारा रजस्-सत्त्व-तमोगुणोंका प्रतिपादन किया गया है. ब्रह्मके धर्मिभूत आनन्दके तिरोहित होनेपर भी धर्मभूत आनन्दमेंसे अपने प्रादुर्भावकी प्रक्रियाको 'कृष्ण'पदवाच्य तमोगुण द्योतित करता है. इसी तरह सत्त्वगुण एवं रजोगुण को भी यथायथ धर्मिभूत सदंश एव धर्मिभूत चिदंश के तिरोहित होनेपर भी धर्मभूत सदंश और चिदंश मेंसे दो प्रादुर्भावविशेष समझना चाहिये. उदयास्तके पूर्व और पश्चात् सूर्यके तिरोहित रहनेपर भी सूर्यप्रकाश कुछ समयके लिये, धर्मीके प्रकट रहे बिना भी, जैसे प्रकट हो जाता है तद्वत्. फिर भी इस प्राकृत गुणत्रयीके वशात् सृष्टिमें प्रकट होनेवाले ज्ञान कर्म कर्ता बुद्धि धृति सुख श्रद्धा आहार यज्ञ तप दान आदिकी जो विविधता अनुभूत होती हैं, उनमें जहां भी तमोगुण प्रधान होता है, वहां ज्ञानका विषय, कर्मका फल, बुद्धिभात कर्तव्य या विषय का स्वरूप, धृति=धारणाका विषय, सुखका स्वरूप, या तो असद् होता है या असाधु होता है. यह भगवद्गीताके सत्रहवें-अट्ठारहवें अध्यायके अवलोकन करनेपर अवगत होता ही है. भगवान्के वचन **"न तद् अस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं यद् एभिः स्यात् त्रिभिः गुणैः"** (भग.गीता.१८।४१) के अवगाहन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है.

जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयार्थ परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके जैसे-ब्रह्मा विष्णु एवं शिव-तीन आधिदैविक रजस्सत्त्वतमोगुणाभिमानी नियामकरूप माने गये हैं; वैसे ही, इनके अनुरूप अक्षरब्रह्ममें भी-कर्म स्वभाव एवं काल-उत्पत्त्यादित्रयीके नियमरूप रजस्सत्त्वतमोगुणानुरूप तीन आध्यात्मिक रूप भी माने गये हैं. अक्षरब्रह्मके अवशिष्ट दो पहलु प्रकृति तथा पुरुष मेंसे प्रकृति, जो उल्लिखित गुणत्रयीकी साम्यावस्था है, उसे त्रिगुणात्मिका माना गया है. इस प्रकृतिमें सत्त्वादि गुणत्रयीके गौणप्राधान्यभाववश प्रत्येक उत्पद्यमान विद्यमान तथा लीयमान वस्तुमें कथञ्चिद् उत्पत्ति, तो कथञ्चित् स्थिति, तो कथञ्चित् लय भी निरन्तर चलता ही रहता है. एतदर्थ महाप्रभुके

ये वचन अवलोकनीय हैं :

"एवं कालः तथा कर्म स्वभावो हरिरेव सः... सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ् मताः आधिदैविकम् अध्यात्मम् अधिभूतम् इति स्मृताः... अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदाः, तथा परे स्वभावकर्मकालाः च रुद्रो ब्रह्मा हरिः... परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्ततइति त्रयो भेदाः... अक्षरस्य स्वभावकर्मकालाः, रुद्रादयः कृष्णस्य".

(त.दी.नि.२।११५-१२१).

इस तरह तमस्के आधिदैविक स्वरूपके विवेचनके बाद अब आध्यात्मिक स्वरूपकी विवेचनाके हेतु अग्रसर हुवा जा सकता है.

(३.आध्यात्मिक तमस्का स्वरूप)

<u>श्रौतसन्दर्भ : [क]अज्ञानजन्य तमस् तथा [ख]तमोजन्य अज्ञान की परस्पर जन्यजनकता :</u>

[क]"अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्य, चन्द्रमसि अस्तमिते, शान्ते अग्नौ, शान्तायां वाचि, किंज्योतिरेव अयं पुरुषः ? इति आत्मैव अस्य ज्योतिः भवतीति आत्मनैव अयं ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति इति" (बृह.उप.४।३।६).

[ख]"मृत्युः वै तमो ज्योतिः मृतम्"(बृह.उप.१।३।२८).

[ग]"असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आवृताः तान् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति ये के च आत्महनो जनाः... यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति सर्वभूतेषु च आत्मानं ततो न विजुगुप्सते. यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः... अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां रताः. अन्यदेव आहुः विद्यया अन्यद् आहुः अविद्यया इति

शुश्रुम धीराणां ये नः तद् विचचक्षिरे. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते" (ईशा.उप.२।११).

इन श्रुतिवचनोंके अवलोकन करनेपर यह जाना जा सकता है कि सौर चान्द्र आग्नेय तथा वाचिक ज्योतिसे भिन्न कोई एक आत्मचैतन्यरूप ज्योति या प्रकाश भी होता ही है. विविध भूतोंमें अनुगत तथा विद्या-अविद्यामें भी अनुगत इस आत्मैकत्वके अनुभवके बिना या तो मृत्युरूप या फिर आत्मघातरूप अन्धन्तमकी अनुभूति कथञ्चिद् होने लगती है. इसी तरह आत्मैकत्वानुभाववश शोकमोहातिगामी आत्मप्रकाशन भी शक्य हो ही जाता है. यह आत्मप्रकाश तथा आत्मान्ध्य के मूलकारणतया आत्माके साथ जुड़नेवाली भगवान्की द्वादशशक्तिओंमें अन्तर्भूत अविद्या या व्यामोहिका मायाके कारण आत्मचेतनामें प्रकटी स्वरूपविस्मृति=निजस्वरूपाज्ञान तथा प्राकृत गुणान्तर्गत तमोगुण के बीच परस्पर जन्यजनकभावका चक्र भगवद्गीतामें निरूपित हुवा है.

सर्वप्रथम अज्ञानजन्य तमस् **"तेषामेव अनुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानजं तमो* नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता"** (भग.गीता.१०।११) तथा **"तमस्तु अज्ञानजं* विद्धि मोहनं सर्वदेहिनां प्रमादालस्यनिद्राभिः तद् निबध्नाति"** (भग.गीता.१४।८) इन वचनोंमें निरूपित हुवा है.

इसी तरह तमोजन्य अज्ञान भी **"कर्मणः सुकृतस्य आहुः सात्त्विकं निर्मलं फलं रजसस्तु फलं दुःखम् अज्ञानं तमसः फलं+, सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव+ च"** (भग.गीता.१४।१६-१७) इन वचनोंमें निरूपित हुवा हम पाते हैं.

इस विषयमें वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्रक्रियाके अनुरोधवश यह कहा जा सकता है कि जहां* तमस्को अज्ञानजन्य कहा जा रहा है वहां अज्ञान

भगवान्‌की द्वादशविध शक्तिओंमें अन्तर्भूत अविद्या या व्यामोहिका मायाकी उपाधिसे जन्य कोई अनुभूतिविशेष है. इसी तरह यहां निरूपित हुवा तमस्‌का जो जनन है वह प्राकृत तमोगुणका उद्रेक है. इसी तरह जहां + तमोगुणजन्य अज्ञान कहा जा रहा है वहां अप्राकृत आत्माके साथ जुड़ी प्राकृत गुणत्रयीके अन्तर्गत तमोगुणके उद्रेकवश ज्योतीरूप आत्माके स्वरूपका आवरक अज्ञान विवक्षित है. इन दोनोंका चक्रवत् परस्पर जन्यजनकभाव या एकतरके निरसनवश अन्यतरका निरास आविर्भाव-तिरोभावरूप ही स्वीकारा गया है. अतएव न तो जनन-नाशहेतुक अभावचतुष्टयी और न सदसद्वैलक्षण्यरूप मिथ्यात्व ही वाल्लभ वेदान्तमें अभिमत प्रक्रिया है. यह सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मोपादानक सृष्टिमें ब्रह्मकर्तृक नाम-रूप-कर्मोंका वैविध्यपूर्ण प्रकाशन या अप्रकाशन ही केवल है-**"ये चैव सात्त्विकाः भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि नतु अहं तेषु ते मयि"** (भग.गीता.७।१२); अतएव, यह न तो निरन्वयनाश है और न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितारूप बाध ही. यों तमस्‌का कुछ आध्यात्मिक स्वरूप भी सिद्ध होताही है.

निष्कर्षतया तमोगुणरूप उपाधिकी उत्तरोत्तर वृद्धिके वश आत्मचेतनामें प्रमाद आलस्य अज्ञान मोह भ्रान्ति निद्रा मूर्छा मृत्यु अन्धन्तम नरक आदि अनेक रूप आध्यात्मिक तमस्‌के शास्त्रवचनोंमें निरूपित हुवे हैं. ये अक्षरब्रह्मान्तर्भूत चिदंशसमष्टि चेतनाकी व्यष्टिरूप चेतनामें उसके स्वभाववश घटित नहीं होते. ये घटित होते हैं आनन्दांशके तिरोधानवश चेतनाके साथ भगवान्‌की व्यामोहिका मायाके जुड़ जानेके प्रभाववश ही. ये पञ्चपर्वा अविद्याके रूपमें औपाधिकतया वहां भासित होते हैं. अतः तमस्‌का आध्यात्मिक उपरिनिर्दिष्ट स्वरूप आत्मचेतनाके स्वाभाविक गुणधर्मतया नहीं प्रत्युत औपाधिक गुणधर्मतया प्रकट होता है. औपाधिक गुणधर्म सहजस्वभावप्रयुक्त नहीं होते परन्तु एतावता उन्हें मिथ्या, वाल्लभ वेदान्तमें कमसे कम, माना नहीं जाता.

यों आध्यात्मिक तमस्‌की स्वरूपविवेचनाके बाद अब आधिभौतिक तमस्‌के विवेचनार्थ प्रवृत्त हुवा जा सकता है.

(४.आधिभौतिक तमस्‌का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ : नृचक्षुग्राह्य प्रकाश और उसके तिरोभाववश प्रकट होता तमस् :

(क)**"स इत् तमो अवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवत् चकार"** (ऋक्संहि.६।२१।३).

(ख)**"अहः च कृष्णम्, अहः अर्जुनं च, विवर्तेते रजसी वेद्याभिः, वैश्वानरो जायमानो नराजा अवातिरद् ज्योतिषा अग्निः तमांसि"** (ऋक्संहि.६।९।१).

(ग)**"तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेये'ति तत् तेजो असृजत. तत् तेजः ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेये'ति तद् अपो असृजत... ता आपः ऐक्षन्त 'बह्वयः स्याम प्रजायेये'ति ताः अन्नम् असृजत... सेयं देवता ऐक्षत 'हन्त अहम् इमाः तिस्रो देवताः अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतम् एकैकां करवाणि' इति... यद् अग्नेः (आदित्यस्य चन्द्रमसो विद्युतो) रोहितं रूपं तेजसः तद्रूपं, यत् शुक्लं तद् अपां, यत् कृष्णं तद् अन्नस्य. अपागाद् अग्नेः अग्नित्वं (आदित्यस्य आदित्यत्वं चन्द्रात् चन्द्रत्वं विद्युतो विद्युत्त्वं) वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'त्रीणि रूपाणि' इत्येव सत्यम्"**. (छान्दो.उप.६।२।३-४।४).

इन श्रुतिवचनोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि तमस्‌का कोई आधिभौतिक स्वरूप भी निश्चयेन होता ही है. (क)भगवान्‌ने जैसे सौर प्रकाशको ज्ञानजनक बनाया है उसी तरह तमस् भी भगवान्‌के द्वारा ही अज्ञानजनक बनाया गया है. (ख)दिन और रात्रि को शुक्ल और कृष्ण बनाया गया है, जो दोनों भूलोकपर और अन्तरिक्षमें चक्रवत् वेद्यतया घूमते रहते हैं. सूर्यकी तरह अग्नि भी किन्तु भूतलपर प्रकट हो कर अपने प्रकाशसे तमस्‌को निरस्त कर देता है. (ग)उस परमात्माने सोचा कि वह अनेकरूप धारण करे सो वह तेज बन कर जल, और जल बन कर, अन्न बन गया. उसने सोचा कि वही इन देवताओंके रूपोंमें प्रकट हो कर प्रस्तुत जीवात्माके रूपमें अनुप्रविष्ट हो कर

नामरूपोंका विस्तार करे सो उसने प्रत्येककी त्रिपुटी बना दी. अतएव अग्नि आदित्य चन्द्रमा और विद्युत् में जो रक्तिम प्रकाश है वह तैजस है, जो श्वेत प्रकाश है वह जलीय है और जो कृष्णवर्णी प्रकाश है वह अन्नोपलक्षित पार्थिव प्रकाश होता है. अतः इन अग्नि आदित्य चन्द्रमा या विद्युत् को 'तेज-वायु-पृथिवीके विकार' नामसे पुकारना तो वाग्व्यवहारकी मर्यादा है. वास्तविक नाम तो इनका 'तीन रूप' ही समझना चाहिये.

यहां त्रिवृत्करण या उपलक्षणविधया पञ्चीकरण की वेदान्ताभिमत प्रक्रियाके अनुरोधवश प्रत्येक पाञ्चभौतिक स्थूल तत्त्वमें स्वयंके अलावा अवशिष्ट दो यां चार तत्त्व विद्यमान रहते ही हैं. अतः कहीं भी किसीका आत्यन्तिक अभाव या अन्योन्याभाव तो हो ही नहीं सकता है. अतः भगवद्गीतोक्त—"न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते सतः"(भग.गीता.२।१६) सिद्धान्तके आधारपर भी तेजस् तत्त्वका अभाव ही सिद्ध न हो पानेके कारण अन्धकार या तमस् के तेजोरूप प्रकाशका अत्यन्ताभावरूप होना या तेजोरूप प्रकाशका अन्योन्याभावरूप होना उपपन्न हो नहीं पाता.

निष्कर्षतया किसी तरहके प्रकाशके कहीं-कभी आविर्भाववश, तो किसी तरहके प्रकाशके कहीं-कभी तिरोभावरूप होनेके रूपमें तमस्का एक आधिभौतिक स्वरूप अकामतया मान्य रखना ही पड़ता है. अतएव **"उद्गसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम्"—"यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो अर्कांशभूतस्य च चक्षुषः तमः"** (भाग.पुरा.३।१७।६—१२।४।३२) इन भागवतवचनोंमें स्पष्टतया आधिभौतिक मेघघटारूप अन्धकारके वश आधिभौतिक भारूप प्रकाशका आधिभौतिक नाश; तथा, सूर्यरश्मिजन्य घनकी सूर्यप्रकाशदृश्यता तथा सूर्यांशरूप नृचक्षुओंके प्रति सूर्यावरक होनेके रूपमें तमोरूपता जो निरूपित हुयी है वह भी संगत हो जाती है. सूर्यरश्मिजन्य घनोंमें उपादानकारणतया अनुगत होनेसे सूर्यका कथमपि अभाव तो सम्भव ही न होनेसे तिरोभाव ही स्वीकारना उचित होगा. अतः सूर्यप्रकाशका तिरोभाव व्यामोहिका मायाका

अवास्तविक मायिक कार्य न होनेसे आधिभौतिक प्रकाशका आधिभौतिक तिरोभावरूप ही आधिभौतिक तमोरूप कार्य ही मानना यहां उचित लगता है. ज्योतिके ये आविर्भाव-तिरोभाव भी **"आत्मतएव आविर्भावतिरोभावौ... आत्मतएव इदं सर्वम्"** (छान्दो.उप.६।२६।१) वचनानुसारी परब्रह्मकी बहुभवनेच्छाके ही एक अनुभावके रूपमें तमस्को भी सिद्ध करते हैं. अस्तु.

अतएव आधुनिक भौतिक विज्ञानके अनुसार भी तमस्का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसके साथ प्रस्तुत निरूपणके संवाद या विसंवाद पर भी यत्किञ्चित् दृष्टिपात प्रस्तुत विषयके सम्यग् आकलनार्थ उपकारक हो सकता है.

<u>आधुनिकविज्ञानसन्दर्भ : नृचक्षु द्वारा ग्राह्य प्रकाश और नृचक्षु द्वारा अग्राह्य प्रकाश के तिरोभाववश प्रकट होते अनेकविध तमस् :</u>

आधुनिक विज्ञानके अनुसार नृचक्षुर्ग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार अत्यल्प माना गया है. जबकि नृचक्षुसे अग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार बहुत बड़ा माना गया है. एतदर्थ आधुनिक विज्ञानाभिमत एकीकृत इलेक्ट्रोमेग्नेटिक क्षेत्रविस्तारके स्वरूपको दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा :

एकीकृत इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरङ्गविस्तारका व्यापकक्षेत्र

```
     लघुतरंग          <— तरंगदैर्घ्यसारणी —>          दीर्घतरंग
------|-----|---------------|--------|-------
कॉस्मिकरैज़् गामारैज़् एक्सरैज़् [वृन्ताककृष्णातीत(चक्षुर्ग्राह्य)लोहिताधः] राडार रेडियोतरंग(एफ्एम् टीवी एएम्)
-----------|------प्रकाशतरंग----|---------
```

(द्रष्टव्य : फ्रित्ज़ोफ काप्रा कृत 'द ताओ फिज़िक्स्' पृ.६०)

इस तरंगदैर्घ्यसारिणीके अवलोकन करनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि नृचक्षुर्ग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार विविध तरंगोंकी किरणोंके क्षेत्रविस्तारकी तुलनामें कितना अल्पतम है उस प्रकाशके चक्षुर्गृहीत न होनेपर मनुष्यके नयनोंमें स्वाभाविकतया अन्धकार या तमस् की अनुभूति होने लगती है. परन्तु

नृचक्षुर्ग्राह्य तमस्के साथ ही साथ अन्यान्य तरंगो द्वारा वस्तुका प्रकाशन भी उतना सहज सम्भव है. अतएव मानवीय चक्षुसे जहां तमस् ही गृहीत होता हो वहां भी अब अन्यान्य तरंगोंकी किरणोंसे प्रकाशन अशक्य नहीं रहा है. फलतः तमसावृत होना या न होना भी उन–उन तरंगकिरणोंके ग्राहक नयनोंके अथवा उपकरणोंके सन्दर्भमें ही अब सोचा–कहा जाना चाहिये अन्यथा नहीं. इनके उदाहरणतया नृचक्षु द्वारा ग्राह्य प्रकाशकिरणोंके दैहिक त्वचाके आवरणके भीतर प्रविष्ट न हो पानेकी स्थितिमें भी एक्स्रे या ध्वनिकिरणों द्वारा त्वगन्तःप्रवेशनके तथा उनके परावर्तनके वश शरीरान्तःस्थित अंगोपांगोंका प्रदर्शन एवं चित्रण आधुनिक एक्सरे/सोनोग्राफी रूपी उपकरणों द्वारा अतीव सुकर जो हो गया है, उसे ध्यानके बाहर नहीं रखना चाहिये. गहरे सागरतलमें डूबी हुयी वस्तुके इर्दगिर्द नृचक्षुसे तमस् जहां प्रत्यक्षसिद्ध होता है वहां भी ध्वनिकिरणोंके प्रक्षेपण द्वारा अन्तस्तलावस्थित वस्तुका दर्शन एवं चित्रग्रहण सुलभ हो गया है. सन् १८८३से आरम्भ कर अधुनातन किये गये अनेक प्रयोग–निरीक्षणोंके आधारपर यह भी सिद्ध हुवा है कि चींटी दफ्निआ(जलमक्षिका) मधुमक्षिका काष्ठभक्षी कीट (wasp) फलमक्षिका तथा अन्य कुछ पक्षी भी नृचक्षु द्वारा अग्राह्य वृन्ताककृष्णातीत ultraviolet किरणोंको देख पाते हैं (दृष्ट. : पी.ई.हॉक्बर्जर्कृत 'अ हिस्टोरी ऑफ् अल्ट्रावायोलेट् फोटोबायोलोजी फोर् ह्युमन्स्, एनिमल्स् एंड् माइक्रोओर्गनिज़म्' आलेख पृ.५६६).

इन विविध तरंगकिरणोंके बीच न तो आत्यन्तिक आपसी भेद होता है और न आत्यन्तिक अभेद ही. एतावता किसी एक प्रकारकी तरंगकिरणके चक्षुर्गृहीत न हो पानेकी स्थितिमें अनुभूत होते तमस् और दूसरी भी किसी प्रकारकी तरंगकिरणोंसे गृहीत न हो पानेवाले तमस् के बीच भी न तो आत्यन्तिक भेद और न आत्यन्तिक अभेद ही स्वीकारा जा सकेगा. फ्रित्ज़ोफ् काप्रा कहते हैं कि "Today we know that radio waves, light waves or X-rays, are all electromagnetic waves, electric and magnetic fields, differing only in the frequency of their oscillation, and that visible light is only a tiny fraction of the elctromagnetic spectrum" (The Tao

Physics p.61). क्योंकि यह सहज सम्भव है कि जिन एक या दो तरहकी तरंगकिरणोंके गृहीत न हो पानेके कारण कहीं तमस् अनुभूत हो रहा हो वहां ही तीसरी प्रकारकी किसी तरंगकिरण द्वारा वस्तुप्रत्यक्ष एवं चित्रग्रहण सर्वथा सुशक ही हो. इन विविध तरंगकिरणोंके प्रभेद इनकी पृथक्–पृथक् तरंग–लंबाईमात्रके आधारपर निर्भर होते हैं. और हम देख सकते हैं कि दृश्य और श्रव्य का प्रभेद भी केवल तरंगोंकी पृथक्–पृथक् लंबाईओंका ही भेद अब रह गया है. और तो और द्रव्य और ऊर्जा के प्रभेद भी अब आपेक्षिक हो गये हैं. स्टीफेन् हॉकिंग अपनी 'ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाइम' ग्रन्थमें कहते हैं कि–

> "In this theory, particles no longer had separate, well-defined positions and velocities that could be observed. Instead, they had a quantum state, which was a combination of position and velocity... Although light is made up of waves, Planck's quantum hypothesis tells us that in some ways it behaves as if it were composed of particles : it can be emitted or absorbed only in packets, or quanta. Equally, Heisenberg's uncertainty principle implies that partlicles behave in some respects like waves: they do not have a definite position but are "smeared out' certain probabilty distribution. The theory of quantum mechanics is based on an entirely new type of mathematics that no longer describes the real world in terms of particles and waves; it is only the observations of the world that may be described in those terms. There is thus a duality between waves and particles in quantum mechanics: for some purpose it is helpful to think of particles as waves and for other purposes it is

better to think of waves as particles."

(अ ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाइम् पृ.५९-६१).

न केवल इतना प्रत्युत श्रव्य तरंगोंके द्वारा दृश्यावभासन भी शक्य हो गया है. अतएव प्रकाशाभावके रूपमें तमस्का प्रतिपादन करने जानेपर सर्वप्रथम यह स्पष्टीकरण अनिवार्य हो जाता है कि किस तरहके तरंगकिरणोंकी विवक्षाके वश कैसा प्रकाशाभाव विवक्षित है, क्योंकि एक तरहके तरंग-किरणका जहां अभाव हो वहां अन्य प्रकारके तरंगकिरणका अभाव होना आवश्यक नहीं होता. इसी तरह सभी तरहके तरंगकिरण सभी तरह नयनोंसे या किसी भी एक उपकरणसे गृहीत हो नहीं पाते. परिणामतया ऐसी स्थितिमें नयनगोचर होते तमस्के साथ-साथ अन्य प्रकारके तरंगकिरणग्राही उपकरण-विशेष द्वारा वस्तुप्रकाशन या साक्षात्कार भी शक्य होता ही है. हाल ही में इराक-अमरीकीयुद्धमें अमरीकी सैनिकोंको अन्धेरेमें भी देख पानेके infra-red (लोहिताधः) प्रकाशकिरणग्राही उपनेत्र प्रदान किये जानेके समाचार प्रकाशित हुवे थे. एतावता सिद्ध हो जाता है कि विद्युच्चुम्बकीय व्यापक तरंगक्षेत्रके विस्तारमें न तो सभी तरहके तरंगकिरणोंका अभाव सम्भव है और न द्रष्टा और/अथवा उपकरण से निरपेक्षतया तमस् या प्रकाशन का चाक्षुष अनुभव सम्भव हो पाता है. अतः यहां भी सापेक्षतावादको ही मुखरित होता हुवा हम पाते हैं. पी.ई.हॉक्बर्जर् तो यहां तक कहते हैं कि "One of the more contraversial discoveries is the observation that cell produce, transmit and perceive ultraweak electromagnetic radiation (also called ultraweak photon emission, low-level bioluminescence and bio-elctromagnetism). (पूर्वोद्धृत आलेख पृ.५७२). अर्थात् एककोशीय जीवाणु भी अतिक्षीण विद्युच्चु-म्बकीय तरंगकिरणोंको प्रकट करते हैं, उन्हें सम्प्रेषित करते हैं तथा उन्हें अनुभूत भी करते हैं. ऐसी स्थितिमें अन्धकारमें अवस्थित किसी प्राणी व्यक्तिका केवल नृचक्षुसे साक्षात्कार शक्य न होनेपर भी अतिक्षीण विद्युच्चु-म्बकीय तरंगकिरणग्राही उपकरणविशेष द्वारा साक्षात्कार शक्य होता ही है.

निष्कर्षतया अन्धकारको केवल प्रकाशाभावके रूपमें परिभाषित करना अब आधुनिक विज्ञानाभिमत कथा प्रतीत नहीं होती है.

यहां तमश्चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रियाका भी यतकिञ्चिद् विवेचन, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, जान लेना सन्दर्भोपात्त ही होगा. वह भी पुनः ज्योतिश्चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रियाके साथ जुड़ी हुयी बात होनेसे पुनः तदेकसन्दर्भोपात्त ही बन जाती है. प्रकाशतरंगकिरणोंकी विवेचना करते हुवे Light and Vision ग्रन्थमें सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् कहते हैं:

> "Light waves, unlike water waves, need no medium; they can travel in a vacuum without ever diminishing" (p.46).
>
> "Light passing into the eye remains essentially unchanged, although its path is altered so that it reaches the retina in proper focus. It is at this point that the dramatic conversion takes place, and light is transformed into signals, partly electrical and partly chemical in their nature. Although triggered by light, these signals can no longer be described in terms of light units. In fact, the light is gone}dissipated. It is used up just as the energy of a gun's hammer is used up when it strikes the bullet. At this point, it is important to keep in mind that light is energy. Light is not a substance nor a picture, but energy, the ability to do work. The eye harnesses light energy to see by the process of vision just as plants harness light energy to grow by the process known as photosynthesis."
>
> (ibd.p.75-76).

अर्थात् जलतरंगोंसे विसदृशतया प्रकाशतरंगोंको किसी माध्यमकी अपेक्षा नहीं रहती; वे शून्यावकाशमें क्षीण हुवे बिना निरन्तर यात्रा कर पाती हैं. नेत्रोंके भीतर प्रवेश करते समय दृष्टिपटल तक केन्द्रित हो कर पहुंच पानेके पथपरिवर्तनके अलावा प्रकाशमें और कोई परिवर्तन नहीं आता. इस दृष्टिपटल तक पहुंच जानेपर प्रकाशके स्वरूपमें अवश्य ही नाटकीय परिवर्तन घटित हो जाता है कि प्रकाश अब संकेतके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, अंशतः वैद्युत और अंशतः रसायनिक स्वरूपमें. इन प्रकाशजन्य संकेतोंका प्रकाशकीय इकाईओंमें निरूपण अब शक्य नहीं रह जाता. वस्तुतस्तु प्रकाश तो व्ययीभूत हो कर तितर-बितर हो जाता है. बन्दूकके भीतर जुड़ी लघुकाय हथौड़ी जैसे गोलीपर आघात कर चुकनेपर कार्यनिवृत्त हो जाती है तद्वत्. यहां एक महत्त्वपूर्ण अवधेय तथ्य यह भी होता है कि प्रकाश एक ऊर्जा है. भूल नहीं जाना चाहिये कि प्रकाश एक ऊर्जारूप पदार्थ ही है, न तो द्रव्यरूप और न चित्ररूप ही. प्रकाशरूप ऊर्जाका नेत्र अधिग्रहण करते हैं, देखनेकी क्रिया सम्पन्न करनेको, ठीक उसी तरह तरह जैसे प्रकाशकणसंश्लेषणकी प्रक्रिया द्वारा वनस्पति आत्माभिवृद्ध्यर्थ प्रकाशकणोंका अधिग्रहण करती हैं.

यहां, किन्तु, कुछ बाते मुझे दर्शनशास्त्रीय विश्लेषणार्थ विचारणीय प्रतीत होती हैं. सर्वप्रथम तो यह कि प्रकाशको आपेक्षिकतया द्रव्य और/ अथवा ऊर्जा अर्थात् उभयरूप या वैकल्पिकतया अन्यतररूप न मान कर केवल ऊर्जारूप भी मान कर चला जाये तब भी विज्ञानको उसकी क्षणिकता या क्षणभंग की प्रक्रिया तो मान्य नहीं है, क्योंकि करोड़ों प्रकाशवर्ष दूरवर्ती ज्योतिष्पिण्डोंसे व्युत्सृष्ट प्रकाश भूलोक तक पहुंचता माना जाता है. अतः नेत्रगोलकके भीतर घटित होते प्रकाशके वैद्युतरसायनिक परिवर्तनमें प्रतीत्यसमुत्पादवादानुसारी प्रक्रिया तो अपना पाना दुष्कर है. आरम्भवादानुसारी प्रक्रियाको स्वीकारनेमें भी सबसे बड़ी बाधा यही सामने आती है कि नेत्रगोलकको मस्तिष्कसे जोड़नेवाली नाड़िओंके भीतर वैद्युतरसायनिक तत्त्व तो पहलेसे ही विद्यमान रहता है. पूर्वोद्धत पी.ई.हॉक्बर्जर्के "One of the more contraversial discoveries is the observation that cell produce, transmit and perceive ultraweak electromagnetic radiation (also called

ultraweak photon emission, low-level bioluminescence and bioelctromagnetism). (पूर्वोद्धत आलेख पृ.५७२) विधान द्वारा भी इसकी पुष्टि होती ही है. अतः इन वैद्युतरसायनिक संकेतोंमें प्रकाशके रूपान्तरणकी आरम्भवादी व्याख्या भी शक्य नहीं लगती. प्रकाश तो चक्षुर्ग्राह्य होनेसे कथञ्चिद् दृष्ट्यधिष्ठानक विवर्त माना जा सकता है परन्तु प्रकाशके वैद्युतरसायनिक रूपान्तरणको चक्षुर्ग्राह्य बनानेवाले न तो उपकरण निर्मित हो पाये हैं और न विज्ञान उन्हें प्रकाशकी तुलनामें विषमसत्ताक ही मानता है, अर्थात् न्यूनसत्ताक न मानता होनेसे, उन्हें प्रकाशविवर्ततया स्वीकारना भी अशक्य ही है. ऐसी स्थितिमें या तो विकृतपरिणामवादी या अविकृतपरिणामवादी उत्पत्तिप्रक्रियामेंसे ही किसी एकको स्वीकारना पड़ेगा.

जहां पूर्वभावापत्ति शक्य न हो और कार्यरूपमें कारणस्वरूपानुगम शक्य न हो वहां विकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया अभिप्रेत होती है और पूर्वभावापत्ति तथा कारणस्वरूपानुगम के शक्य होनेपर अविकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया वाल्लभ वेदान्तको अभिमत है. और वही यहां, मेरी विनम्र समझके अनुसार, शक्य प्रतीत होती है.

रूसके वैज्ञानिक मेंदेलीयेव द्वारा सारणीबद्ध किये गये प्रकृतिसिद्ध ९२ मौलिक तत्त्व और आधुनिक विज्ञान द्वारा निर्मित १४ मौलिक तत्त्व, यों सभीके भीतर अब इलेक्ट्रॉन न्यूट्रॉन और प्रोटॉन रूपी कारणस्वरूपके अनुगमके तथा विश्लेषण द्वारा पूर्वभावापत्ति भी शक्य होनेसे अविकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया ही यहां मान्य रखनी चाहिये. स्वयं सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् भी इतना तो स्वीकारते ही हैं कि–

> "It assumes that a single photon of light is strong enough to power the chemical and electrical processes that actually produce the sensation of vision in the brain. But one photon could not do that. It is far too weak; just to provide dim light from

a small flashlight requires billions and billions of photons per second. Scientists are certain that the pigment reaction must be amplified for any perception of vision to occur. As yet, they do not know how this amplification takes place in eye. George Wald of Harvard's Biological Laboratories has suggested two possibilities. It may be that the absorption of photon activates chemical boosters { enzymes { in the pigment. These enzymes may then able to generate far greater amounts of energy than the original molecule could produce by itself."

(लाईट् एंड् वीज़न् पृ.८०).

एक और यान्त्रिकी प्रक्रिया फोटोरिसेप्टर्स्में फोटॉन कणों द्वारा छिद्रीकरण (punching) की भी प्रस्तावित की गयी है. इनमें, परन्तु, प्रथम प्रक्रियाके सन्दर्भमें तो अविकृतपरिणामवादानुसारी अभिन्ननिमित्तोपादानवाली उत्पत्तिप्रक्रियाकी संगति सर्वथा सोची ही जा सकती है. द्वितीय प्रक्रिया कुछ दुरूह लगती है तथा अभिन्ननिमित्तोपादानकारणताके विचारपर आश्रित न हो कर केवल निमित्तकारणताके विचारपर आश्रित प्रतीत होती है.

प्रकृतानुसरणार्थ श्वेताश्वतरोपनिषद्के **"यः एको अवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति वि चैति च अन्ते विश्वम् आदौ स देवः"** (श्वेता.उप.४।१) तथा **"सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम् एको अश्वो वहति सप्तनामा, त्रिनाभि चक्रम् अजरम् अनर्वं येन इमा विश्वाः भुवनानि तस्थुः...श्वेतो रश्मिः परि सर्वं बभूव"** (तैत्ति.आर.३।११।८-१०) इन श्रुतिवचनोंके अवलोकन करनेपर अवर्णका सर्ववर्णभावापन्न होना तथा श्वेतरश्मि सूर्यकी रश्मिओंका ही सप्तवर्णी भी होना ईसाके १८वें शतकमें हुवे इस्साक न्यूटन्से बहुत पहले वेदोंमें प्रतिपादित था ही. न्यूटन्के प्रसिद्ध प्रयोग कि त्रिपार्श्व काचमेंसे सूर्यरश्मिके निःसारण किये

जानेपर श्वेतरश्मिमें से सभी रंगोंकी किरणें पृथक् हो कर बाहर प्रकट हो जाती हैं. यह प्रसिद्ध वृत्तान्त है. अतः प्रातिकूल्येन, अर्थात्, **"अन्ते व्येति च विश्वम्"** (यथोद्धृत) इस प्रक्रियाके नेत्रमें सम्पन्न न होनेपर तमस्की अनुभूतिका ऊह सरलतया सम्पन्न किया जा सकता है. परन्तु यह कथा वस्तुतः इतनी सरल नहीं है. क्योंकि तमस् जैसे कृष्णवर्णी होता है वैसे ही चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओंके प्रकाशसंयुक्त होनेपर भी कृष्णवर्णकी अनुभूति भी होती ही है. अतः उस कृष्णवर्ण और तमस्के कृष्णवर्ण के बीच रहे अन्तरका और उसके चाक्षुष प्रत्यक्षका विमर्श भी यहां आवश्यक हो जाता है.

सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् अपने पूर्वोद्धृत ग्रन्थमें कहते हैं कि मनुष्यके नेत्रके भीतर प्रकाशसंवेदनशील तत्त्व दो तरहके होते हैं : १.शलाका तथा २.शंकु. शलाका सीधी तथा महीन होती हैं, जबकि शंकु कुछ अधिक फूले-फूले से महीन गुब्बारे जैसे होते हैं. ये दोनों हमारे दृष्टिपटलके पार्श्वमें एक साथ ठुंसे हुवे भरे रहते हैं-करीब तेरह करोड़की संख्यामें एक छोटी सी डाककी टिकिटके जितनी जगहमें भरे रहते हैं. और क्योंकि अन्य भी कयी पशुओंकी तरह मनुष्य भी दिन और रात दोनों तरहके दृश्यजगत्में जीनेवाला प्राणी है. अतः नृचक्षुमें करीब ७० लाख शंकु तीव्र चमकीले प्रकाशके सुविशद परीक्षणार्थ भरे रहते हैं और महीन शलाका तो इनसे अट्ठारह गुनी ज्यादा मन्दप्रकाशके अधिग्रहणार्थ भरी रहती हैं. जैसे केमराके भीतर यथेच्छ श्वेतकृष्ण या रंगीन फिल्म भरी जा सकती हैं, ठीक उसी तरह ये शलाकायें मुख्यतया दृश्यवस्तुके श्वेतकृष्णवर्णकी ग्राहिका होती हैं और शंकु मुख्यतया विविध वर्णी दृश्यके ग्राहक होते हैं. फिरभी शंकु पीतिमायुक्त हरित् वर्णी दृश्यतरंगके विशेषतया ग्राहक होते हैं, जबकि शलाकायें गौणतया नीलिमायुक्त हरित् वर्णके दृश्यतरंगके प्रति भी अपनी संवेदनशीलता प्रकट करती हैं. अतएव रक्तिम पुष्प तथा नील पुष्प दिनके प्रकाशमें समानतया चमकीले लगते हैं जबकि रात्रिके धुंधलकेमें दोनों वर्णोंकी चमक कम हो जाती है (तत्रैव पृ.७६-७७). यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि आधुनिक विज्ञानके अनुसार मौलिक वर्ण या तो लोहित हरित् और नील होते या लोहित पीत हरित् और नील माने गये हैं. वैसे १८वीं शताब्दिके मोज़ेस् हेरिस्ने अपने

वर्णव्यवस्थाद्योतक चक्राकार कोष्ठकमें परस्पर मिश्रणवश [१]रक्त [२]केसर-रक्त [३]रक्त-केसर [४]केसर [५]पीत-केसर [६]केसरी-पीत [७]पीत [८]हरित्-पीत [९]पीत-हरित् [१०]हरित् [११]नील-हरित् [१२]हरित्-नील [१३]नील [१४]पतंगी-नील [१५]नील-पतंगी [१६]पतंगी [१७]रक्त-पतंगी [१८]पतंगी-रक्त (तत्रैव पृ.१२९) वर्णोंके भेदोपभेद दिखलाये थे. अतः यहां अवधेय है कि श्वेत और कृष्ण को वर्ण नहीं माना गया है. क्योंकि सर्वविध वर्णोंकी प्रकाशतरंगोंके समाहारसे जन्य चाक्षुष अनुभूतिमें श्वेतका अवभासन होता है तथा सर्वविध प्रकाशतरंगोंमेंसे किसी भी प्रकारकी प्रकाशतरंगके नेत्रपटल तक प्रविष्ट न हो पानेपर कृष्णवर्णका अवभासन होता माना गया है. सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् कहते हैं कि–

> "Light is the only source of color in the world. The ripest tomato, the most spectacular peacock, the gaudiest clown's costume { all are merely reflectors, absorbers and transmitters of one or more colors that make up light. Without it, not even the faintest color exists... This is not an easy concept to accept because color seems an inherent part of everything man sees... If light is only source of color, how does nature achieve it's endlessly divert palette, and how does man get the remarkable effects he does with color? The answer to these questions lie in the nature of and interrelatioship of three elements : light, the source of color; the material and it's response to color; and the eye, the perceiver of color."
>
> (लाईट् एंड् वीज़न् पृ.९७).

यों इन सभी रंगोंकी तरंगोंके एक साथ नेत्रपटलमें प्रविष्ट होनेपर श्वेतवर्ण गृहीत होता है और इनमेंसे किसी लम्बाईकी कोई भी तरंग जब

दृष्टिपटल तक पहुंच नहीं पाती तो वहां कृष्णवर्ण गृहीत हो जाता है.

ऐसी स्थितिमें जहां तमस् गृहीत होता है वहां वस्तुतः प्रकाशका अभाव नहीं प्रत्युत समूचा प्रकाश वहां अन्तःशोषित रहता है. अतएव अन्यान्य प्रकाशतरंगोंके मध्यमें इस श्वेतप्रकाश—चक्षुर्ग्राह्य सर्वविध प्रकाशतरंगोंके समाहार—का अन्तःशोषण कृष्णवर्णात्मना गृहीत होता है. जबकि कृष्णवर्ण जहां भासित हो रहा हो उसके चतुर्दिक् अन्यान्य प्रकाशतरंगोंका भी परावर्तन तथा दृष्टिपटल तक अन्तःप्रवेश यदि सम्पन्न नहीं हो पाता तब वहां तमस् या अन्धकार भासित होने लगता है. किसी वस्तुतलपर प्रकाशतरंगोंके प्रक्षेपण या संयोग के बाद उस वस्तुतल द्वारा प्रकाशका अन्तःशोषण होनेपर प्रकाशतरंगोंका अभाव(=असत्त्व) घटित हो जाता है कि तिरोभाव(सत्त्व होनेपर भी अनुभवागोचरता या सत्त्व होनेपर निज अर्थक्रियाकी अकारिता) यह न्याय-वैशेषिक मत तथा वाल्लभ वेदान्तके बीच विवादग्रस्त विषय हो सकता है. उभय न्याय-वैशेषिक तथा वाल्लभ वेदान्त को, किन्तु, अभिमत प्रकाशसंयुक्त वस्तुके साथ चक्षुसंयोगके सम्पन्न होनेपर वस्तुके चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रिया आधुनिक विज्ञानको मान्य नहीं है. क्योंकि आधुनिक विज्ञान चक्षुको प्राप्यकारी नहीं मानता. प्रत्युत वस्तुके साथ प्रकाशसंयोग सम्पन्न होनेपर वस्तुद्वारा अवशोषित प्रकाशतरंगोंके अलावा जिन प्रकाशतरंगोंका वस्तुतल द्वारा प्रतिक्षेपण होता है वे परावृत हो कर हमारी चक्षुमें प्रविष्ट हो कर वस्तुका चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रकट करती हैं. यह प्रत्यक्षसिद्धतया सर्वथा निर्विवाद सिद्ध अब माना जाना चाहिये. ऐसी स्थितिमें पूर्वनिरूपित प्रक्रियाके अनुसार किसी वस्तुके कृष्णवर्णका चाक्षुष अनुभव तथा तमस्के कृष्णवर्णी होनेका चाक्षुष अनुभव यों दोनोंके बीच सम्पन्न होती अनुभूतिप्रक्रियाओंमें यत्किञ्चित् पार्थक्य तथा अधिकांशमें अपार्थक्य अर्थात् प्रकाशके अपरावर्तनवश नेत्रगोलकान्तर्गत नेत्रपटलान्तःस्थित शलाकाओंका अनुद्दीपन ही कृष्णवर्णोपेत भौतिक वस्तु या अन्धकार की अनुभूतिका जनक होता है.

सी.जे.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् का यह भी कहना है कि वर्णचाक्षुष प्रत्यक्षके बारेमें प्रयोगों द्वारा यह निर्धारित हो गया है कि लाल और हरे रंगोंका

पार्थक्य मन्दप्रकाशमें भी सम्भव है जबकि नीले और पीले रंगोंका पार्थक्य मन्दप्रकाशमें जान पाना उतना सरल नहीं होता. जबकि तीव्रप्रकाशमें नीलपीत वर्णोंका पार्थक्य कुछ अधिक ही प्रकटतया भासित होता है. वैसे किसी वर्णपर नयनोंको अत्यधिक ध्यानैकाग्र बनानेपर वह उस वर्णके प्रति हमारे मस्तिष्ककी रुचिको क्षीण बना देता है. और वहां दृष्टिगोचर होता वर्ण या तो ओझल होने लगता है या फिर सिलेटी (श्वेतश्याममिश्रणजन्य=gray) वर्णका ही आभास प्रकट होने लग जाता है. यद्यपि प्रस्तुत आलेखकारको ऐसी अनुभूति होती नहीं है परन्तु सी.जे.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् का यह भी कहना है कि अतएव गहन अन्धकारमें हमारी दृष्टि घना सिलेटी रंग ही देख पाती है कृष्णवर्ण नहीं क्योंकि कृष्णवर्ण या तो अन्य वर्णोंके साहचर्य या उनके अनुवर्तन के रूपमें ही अनुभूत होता है. अतः इनका कहना है कि "For black does not exist except as a sensation that accompanies or follows other colors; the lighter those colors are, the the deeper the black that will appear. Black is blackest in contrast to white" (लाईट् एंड वीज़न् पृ.१३६).

मूलमें भारतीय वर्णानुभूतिकी रीतिमें न तो नीले और काले रंगोंके बीच शब्दान्तरोंकी कोई व्यवस्था है और नहीं वर्णोके भेदोपभेदोंके ही बहुत सुव्यवस्थित नामकरण किये गये उपलब्ध होते हैं. परिणामतया *"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते"* के नियमानुसार वर्णचाक्षुष प्रत्यक्षमें भी थोड़ी-बहुत असमञ्जसता हमारी अनुभूतिमें झलकती ही है; और, इसका प्रत्याख्यान शक्य नहीं यह हम देख सकते हैं कि इन्द्रनील मणिकी नीलिमा, गगनकी नीलिमा, पिरोजा मणिकी नीलिमा, तमालवृक्षकी नीलिमा, नील घटकी नीलिमा, गज-महिष-काकादि प्राणिओंकी नीलिमा, अन्धकारकी नीलिमा आदि अनेक वर्णोंके आभासोंके लिये एक ही 'नीलिमा' शब्द प्रयुक्त होता हुवा हम पाते हैं

किसी भी सूरतमें इतना तो स्पष्ट ही है कि Photon प्रकाशकणोंके अंशत या सर्वांश में अवशोषण हो जानेकी सूचना नृचक्षु कृष्णवर्णके आभासन द्वारा देती है. एतावता अन्यान्य तरंगोंका भी अवशोषण हुवा मान नहीं लेना

चाहिये. अब स्टीफेन् हॉकिंग् तो यहां तक प्रतिपादन करने उद्यत हुवे हैं कि अन्तरिक्षमें अवस्थित आसन्नात्मविलय 'कृष्णगर्ता'ख्य Black Holes पिण्ड भी सर्वात्मना सर्वविध तरंगोंका अन्तःशोषण नहीं करते हैं.

स्टीफेन् हॉकिंग् कहते हैं—

"The idea of radiation from black holes was the first example of a prediction that depended an essential way on both the great theories of this century, general rel in an essential way on both the great theories of this century, general relativity and quantum mechanics... However, in the end most people... have come to conclusion that black holes must radiate like hot bodies, if our other ideas of general relativity and quantum mechanics are correct. Thus even though we have not yet managed to find a primordial black hole, there is fairly general agreement that if we did, it would be emitting a lot of gamma rays and X rays."

(अ ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाईम् पृ.११९).

यह एक विस्मयजनक साम्य है कि वेदान्त तथा सांख्य सिद्धान्तोंको अभिमत उत्पत्ति-स्थिति-लयके नियामक रजस्सत्त्वतमो गुणोंके रक्त श्वेत तथा कृष्ण वर्णोंका निरूपण आधुनिक विज्ञान भी प्रकारान्तरसे स्वीकारता है. मूलतः निहारिकाओंमें बिखरी हुयी गेस और रेणु के बड़े-बड़े मेघोंमें जब कहीं आन्तरिक परस्पराकर्षणवशात् एकत्रित हो कर संपिण्डित होनेकी प्रक्रिया शुरु होती है तब आकाशीय पिण्डों या ताराओं का निर्माण होता है. अतः उन तारापिण्डोंके केन्द्रमें हायड्रॉज़न् गेस्के कण पिस-पिस कर हीलियम् गेस्में रूपान्तरित होने लगते हैं. उन पिण्डोंकी यह अवस्था करीब दस खर्व वर्षों तक चलती बतायी जाती है. हमारा सूर्य, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, अभी इसी

अवस्थामें ही वर्तमान है. परन्तु जब सारा हायड्रॉज़न् जल जाता है तब वह प्रज्वलनशील तारापिण्ड विराट चमकीले रक्तिम पिण्डका रूप धारण कर लेता है. वही शनैः-शनैः क्षीण हो कर श्वेत वामन पिण्ड बन जानेपर अन्तमें थंडा पड़ कर तथा सिकुड़ कर राखके एक कृष्णवर्णी वामन गोलाके रूपमें शेष रह जाता है. परन्तु अधिक द्रव्ययुक्त पिण्ड श्वेत वामन अवस्था प्राप्त करनेसे पूर्व ही आन्तरिक विस्फोट द्वारा अत्यधिक घनीभूत न्यूट्रॉन् तारा बन जाते हैं. और तब इनके भीतर प्रत्यापत्तिकी प्रक्रिया आरब्ध होने लगती है. यह बहुत कुछ उसी तरहकी होती है जैसी कि सुबालोपनिषद्के "**सो अन्ते वैश्वानरो भूत्वा सन्दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि, पृथिवी अप्सु प्रलीयते, आपः तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ विलीयते, वायुः आकाशे, आकाशम् इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिः महति, महान् अव्यक्ते, अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति. परस्ताद् न सत् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति**". (सुबा.उप.२) वचनमें ब्रह्मके बारेमें निरूपित हुयी है. और तब इसे 'कृष्णगर्त' Black Hole कहा जाता है. अन्तर इस कृष्णगर्तके तमस् और ब्रह्मकी योगनिद्रारूप तमस् के बीच इतना ही है कि ब्रह्माण्डमें कृष्णगर्त तो अनेकानेक सम्भव हैं. प्रत्यापत्त्याश्रय ब्रह्म, किन्तु, एकमेवाद्वितीय होनेसे उसके आधिदैविक तमस्के बाहर कुछ भी शेष बच नहीं सकता.

इस मुद्देको उपसंहृत करनेसे पहले नासाके भूतपूर्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल् सेगान्की एक उक्ति दोहराना चाहूंगा—

"The Hindu religion is the only one of the world's great faiths dedicated to the idea that the Cosmos itself undergoes an immense, indeed an infinite, number of deaths and rebirths. It is the only religion in which the time scales correspond, no doubt by accident, to those of modern scientific cosmology. It's cycle run from our ordinary day and night to the day and night of Brahma, 8.64 billion years long, longer than the age of Earth or Sun and about half the time of since the Big Bang. And there are much longer time scale still" (कॉस्मोस् पृ.२५८).

अतः इस कृष्णगर्तरूप आधिभौतिक तमस्की ब्राह्मिक अलौकिक तमस्के साथ कोई तुलना अन्यथा शक्य नहीं सिवाय कि प्रत्यापत्ति और पुनः नूतन व्युच्चरण के (द्रष्ट. : "यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे... लोकाः... व्युच्चरन्ति" बृह.उप.२।१।२०). आधुनिक विज्ञानमें भी इसे व्युच्चरण और प्रत्यापत्ति का चक्र माना गया है. अतः समूचे श्रौत चिन्तनकी व्याख्या आधुनिक शब्दावलीमें करनी हो तो न तो अपने यहां 'बिग बेंग थिअरी' है और न 'एक्स्पांडिंग् युनिवर्स् थिअरी' ही. क्योंकि श्रौत चिन्तन तो 'पल्सेट् थिअरी'को अपना कर चला है. अतएव न इस योगनिद्रारूप आधिदैविक तमस्का, न व्यामोहिका मायासे जन्य आध्यात्मिक तमस्का; और न आधिभौतिक तमस्का ही एकान्तिक या आत्यन्तिक निरसन वाल्लभ वेदान्तको अभिमत प्रक्रिया है. हां, चक्रान्तःपाति आपेक्षिक निरसन ही उपनिषद् भगवद्गीता और पुराणोंके आधारपर सिद्ध होता होनेसे वाल्लभ वेदान्तमें मान्य रखा गया है. एतावता सिद्ध हो जाता है कि किसी विशेष चक्रान्तःपातितया तमस्का निरसन शक्य होनेपर भी वह आत्यन्तिक निरसन न होनेसे तमस् भी ब्रह्मकी तरह स्वरूपतो नित्य अर्थात् नित्यसिद्ध न होनेपर भी प्रवाहतो नित्य अर्थात् आविर्भाव-तिरोभावशाली होनेसे कथञ्चित् तो नित्य होता ही है.

श्वेताश्वतरोपनिषद्में एक अतीव श्रवणीय उद्घोष हमें यह मिलता है कि "**कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति, चिन्त्याः, संयोगः एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः. ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां, यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः.**" (श्वेता.उप.१।२-३) अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, स्थूलतया व्यक्त पाञ्चभौतिक द्रव्य, अव्यक्त

प्रकृति, पुरुष; अथवा, इनका परस्पर संयोग, इनमें किसीका भी अस्वीकार किये बिना इन सभीको किसी परदेवताकी आत्मशक्ति द्वारा अधिष्ठित मान गया है. एक ऐसा देवता कि जो स्वयंको स्वयंके गुणों द्वारा निगूढ़ रखता है. यह एक उपनिषदभिमत प्रक्रिया है. ठीक इसी तरह आधुनिक वैज्ञानिकोंमें भी सभी पदार्थों और प्रक्रियाओं के एकीकरण द्वारा किसी एक प्रमेयको खोज अब जोर पकड़ती जा रही है.

अतएव विविध तरंगोंके एकीकरणकी प्रक्रियासे उत्साहित हो कर महा-एकीकरणकी प्रक्रियाकी खोजमें आधुनिक वैज्ञानिक भी जुटे हुवे हैं. इस विषयमें स्टीफन् हॉकिंग्के कुछ उद्गारोंको उद्धृत करनेके लोभका संवरण शक्य न होनेसे करना चाहूंगा—

"The success of the unification of the electromagnetic and weak nuclear forces led to a number of of attempts to combine these two forces with the strong nuclear force into what is called a grand unified theory (or GUT)"(p.79).

"GUTs allow quarks to change into antielectron at high energy. The also allow the reverse process, antiquarks turning into elctrons and antielectrons into antiquarks and quarks" (p.82).

"The uncertainty principle is a fundamental feature of the universe we live in. A successful unified theory must therefore neccessarily incorporate this principle." (p.164).

"But can there really be such a unified theory‹? Or are we perhaps just chasing a mirage ? There seems to be three possibilities : 1.There really is a complete unified theory, which we will

someday discover if we are smart enough. 2.There is no ultimate theory of universe, just an infinite sequence of theories that describe the universe more and more accurately. 3.There is no theory of the universe; events cannot be predicted beyond a certain extent but occur in a random and arbitrary manner." (P.176).

"However, if we do discover a complete theory, it should in time be undrestandable in broad principle by everyone, not just a few scientists. Then we shall all, philosophers, scientists, and just ordinary people, be able to take part in the discussion of the question of why it is that we and the universe exist. If we find the answer to that, it would be the ultimate triumph of human reason { for then we would know the mind of God."(p.185).

हमने देखा कि कैसे उपनिषद् अनेक कारणोंको एक ब्रह्मके रूपमें एकीकृत बना कर अद्वैतकी प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं. उपनिषदोंमें हमे यह भी देखनेको मिलता है कि कैसे एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही प्रकटाप्रकट वाच्यावाच्य विज्ञान-अविज्ञान सत्य-अनृत मूर्तामूर्त व्यक्ताव्यक्त साधार-निराधार मर्त्यामृत स्थिरास्थिर ही नहीं प्रत्युत ज्योति-तमस् रूपात्मना भी रूपान्तरित होता है. स्वयं श्वेताश्वतरोपनिषद्में ही यह स्पष्टीकरण भी हम पाते हैं कि यदृच्छा अर्थात् princple of uncertainty भी ब्रह्मकी किसी शक्तिविशेषका ही एक अनुभाव है. ब्रह्माण्डकी सम्पूर्ण व्याख्याके लिये प्रवृत्त होनेवाले सिद्धान्तोंके बारेमें भी जो तीन तरहकी उत्प्रेक्षा स्टीफेन् हॉकिंग् करते हैं, उसके सन्दर्भमें तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके ये उद्गार ही दोहराना चाहूंगा कि **"सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्"** (त.दी.नि. १।७०-७१). रहा अन्तिम

मुद्दा कि क्यों हमारा अस्तित्व है और क्यों इस ब्रह्माण्डका अस्तित्व है? इस प्रश्नके उत्तरतया तैत्तिरीयोपनिषद्के **"असन्नेव स भवति असद् ब्रह्म इति वेद चेद् अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः इति"** (तैत्ति.उप.२।६) वचन ही अविस्मर्तव्य लगता है. क्योंकि जो सम्भावित तथा अनुभूत सभी पदार्थोंका एकीकृत महापदार्थ (द्रष्ट. : **"परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति"** : मुण्ड.उप.३।२।७) हो उसे अस्वीकृत करना स्वयं अपने-आपका अस्वीकार है.

यों आधिभौतिक प्रकाशतिरोधानवश प्रकट होता तमस् यदि प्रकाशाभावरूप न हो तो; और, वह ब्रह्मकी ही तरह स्वरूपतो नित्यसिद्ध न होनेपर भी प्रवाहतया तो नित्य ही हो तो, उसकी स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिकी निषेधप्रतियोगिता भी सिद्ध नहीं हो पायेगी. ऐसी स्थितिमें "ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः" (भाग.पुरा.२।९।३३) इस वचनकी क्या संगति? क्योंकि प्रकाशका तिरोभाव हमारी चेतनामें होती अनुभूतिमें प्रकट नहीं होता और तमस् तो जो प्रकटतया अनुभूत होता ही है, उसकी अनुभूयमान बाह्य अर्थतया सत्ता सिद्ध भी नहीं होती. इस प्रश्नके समाधानार्थ, अब, तमस्का एक असत् परन्तु व्यामोहिका माया द्वारा प्रदर्शित रूप भी पुरस्करणीय बनता है. तदर्थ निष्कर्षतया मूल विषयपर लोटनेको साथ ही साथ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमविरचित अवतारवादावलीके अन्तर्गत अन्धकारवादकी भी संगति विचारनेको अब उद्यत हुवा जा सकता है.

(५.मायिक तमस्का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ : व्यामोहिका माया द्वारा प्रदर्शित असत् तमस्का स्वरूप:

> **"मायया अन्यदिव स वा एष आत्मा. परएव एषएव सर्वम्. तथाहि प्राज्ञे सैषा अविद्या जगत् सर्वम्. आत्मा परमात्मैव स्वप्रकाशोऽपि अविषयज्ञानत्वाद् जानन्नेव हि अत्र न विजानाति. अनुभूतेः माया च तमोरूपा. अनुभूतेः तदेतद् जडं मोहात्मकम् अनन्तं तुच्छम् इदं रूपम् अस्य, अस्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्तापि मूढैः आत्मेव दृष्टा. अस्य सत्त्वम् असत्त्वं च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन सैषा वटबीजसामान्यवद् अनेकवटशक्तिः एकैव. तद्यथा वटबीजसामान्यम् एकम् अनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् वटान् बीजान् उत्पाद्य तत्र-तत्र पूर्णं सत् तिष्ठति एवमेव एषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशौ आभासेन करोति. माया च अविद्या च स्वयमेव भवति."**
>
> (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९).

यहां यही बात मुख्यतया अवधेय है कि इस लोकसृष्टिसे पृथक् कुछ दिव्य नाम-रूप-कर्म ऐसे भी ब्रह्ममें प्रकट होते हैं कि जिनमें ब्रह्मके सच्चिदानन्द स्वरूपका अनुगम प्रकटतया शास्त्रनिर्दिष्ट है. कुछ लौकिक नाम-रूप-कर्म ऐसे भी ब्रह्ममें प्रकट होते हैं कि जिनमें सच्चिदानन्द ब्रह्मके केवल सदंशका ही अनुगम प्रत्यक्षसिद्ध, श्रुतिसिद्ध (द्रष्ट. : "सन्मूलाः, सोम्य, इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः", "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा 'अस्ति' इति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते"— छान्दो.उप. ६।८।६, कठोप.२।३।१२) तथा ब्रह्मज्ञानियोंके ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा भी निरूपित होता पाया जाता है. परन्तु न केवल श्रुतिवचनोंमें अपितु उल्लिखित भागवतपुराणके वचनोंमें भी कुछ नाम-रूप-कर्मोंमें ब्रह्मका सदंश भी न तो उपादानकारण बनता है और न उनकी लौकिक अनुभूतियोंके बलपर भी किसी तरहका सत्त्व वहां भासित होता है. इस लीलात्रैविध्यको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण यों दरसाते हैं **"नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे [१]रूपनामविभेदेन यः क्रीडति [२]रूपनामविभेदेन यो जगद् (भूत्वा) क्रीडति [३]रूपनामविभेदेन यतो जगत् (क्रीडति)-इति क्रीडायां स्वातन्त्र्यम् उक्तं, निर्लेपत्वाय एतादृशं जगद् यतः इति"** (त.दी.नि.१।१). अतः कुछ नाम रूप तथा कर्म ऐसे भी होते हैं जो ब्रह्मकी केवल निमित्तकारणताके वश प्रकट होते हैं. इनमें ब्रह्मका स्वरूप नहीं केवल व्यामोहक सामर्थ्य ही झलकता है. इस सामर्थ्यको ही वाल्लभ वेदान्तमें व्यामोहिका माया माना गया है. तमस् हमें किसी प्रकाशविशेषके तिरोभावके रूपमें झलकता दिखलायी नहीं देता प्रत्युत "नीलं तमः चलति" यों चलनकर्मयुक्त, नीलरूपयुक्त तथा 'तमो'नाम्ना

अभिहित एक विलक्षण पदार्थके रूपमें चाक्षुष अनुभूतिका गोचर बनता है. इसे ही ''ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः'' (भाग.पुरा.२।९।३३) वचनमें बाह्यार्थविहीन मिथ्या अनुभूतिके उदाहरणतया माना गया है. अतएव महाप्रभु कहते हैं—

'' 'तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्' इति यस्मात् कारणात् अविद्यमानमेव बोधयति विद्यमानं च न बोधयति तस्मात् कारणात् तां मायामेव विद्यात्. नहि विषयः चक्षुः वा नियतस्वभावम् अन्यथाप्रतीतिहेतुः भवति... ननु मायायाः कथम् एवं पदार्थजनकत्वं व्यामोहजनकत्वमेव तस्याः नच विषयातिरिक्ता विषयता क्वचिद् उपलब्धा इति आशंक्य आह 'यथा तमः' इति. यथा अन्धकारः पदार्थः तेजोऽभावे* जन्यते. यत्रैव तेजोऽभावः तत्रैव अन्धकारं जनयति माया. इयमेव व्यामोहिका. अतएव दिवाभीतान् प्रति न अन्धकारं जनयति. तेतु तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति. तेषां दृष्टेः कोमलत्वात् बलवत्तेजो दृष्टिप्रतिबन्धकं भवति. तदभावे सुखेन विषयान् गृह्णन्ति... 'यथा हि भानोः उदयो नृचक्षुषाम्' इति वाक्ये चक्षुःसम्बन्धिनएव तमसो नाशकत्वं नतु स्वभावतः किञ्चित् तमो अन्यथा स्पर्शेनापि ज्ञाने तत् प्रतिबन्धकं स्यात्; स्पर्शेन वा तद् गृह्येत''(भाग.सुबो.२।९।३३).

यहां महाप्रभुको 'अभाव'पदका जो अर्थ अभिप्रेत है उसका उनके ही शब्दोंमें—''**अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति**'' (भाग. सुबो.२।९।३२) अनुसन्धान कर लेना उचित होगा. एतावता यह फलित हुवा कि भगवत्प्रकटित नाम-रूप-कर्मोंके आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक प्रभेदोंकी तरह एक प्रभेद मायिक भी वाल्लभ वेदान्तमें स्वीकारा गया है, शास्त्रवचनोंके प्रामाण्यके अनुरोधवश ही.

संक्षेपमें पुनः तेजोद्रव्यका तिरोभाव तमस्का एक आधिभौतिक रूप

है जो वास्तविक होता है. इसी तरह तेजोद्रव्यके तिरोभाववश हमारी बुद्धिमें, या आधुनिक शब्दावलीमें कहना हो तो मस्तिष्कमें, विषयवस्तुविहीन घटित होती प्रतीति भी तमस्का एक मायिक रूप होता है. इसे तमस्को असत् माना गया है. भागवतपुराणगत ''**छायाप्रत्याह्वयाभासाः हि असन्तोऽपि अर्थकारिणः**'' (भाग.पुरा.११।२८।५) वचनके आधारपर. इस और ऐसे अन्य भी अनेक व्यामोहकमायावभासित पदार्थोंकी न केवल प्रतीतिभास्यता अपितु असत् होनेपर भी अर्थक्रियाकारिता वाल्लभ वेदान्तमें मान्य रखी गयी है.

अतएव अद्वैतसिद्धिमें निरूपित पञ्चविध मिथ्यात्वमें से इस तमस् और ऐसे अन्य भी व्यामोहकमायाप्रदर्शित पदार्थोंके मिथ्यात्वके स्वरूपके बारेमें यह स्पष्टीकरण अब आवश्यक हो जाता है कि [१]'सदसद्वैलक्षण्य', [२]'स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकलिकनिषेधप्रतियोगित्व', [३]'ज्ञाननिवर्त्यत्व', [४]'स्वाश्रय-निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' अथवा [५]'सद्विविक्तत्व' मेंसे द्वितीय तथा पञ्चम लक्षणानुरूप मिथ्यात्व इन मायिक पदार्थोंका अङ्गीकार करनेमें वाल्लभ वेदान्तको भी कोई आपत्तिजनक कथा नहीं लगती.

परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तृतीय कोटि मान्य न होनेसे, अवशिष्ट [१]'सदसद्वैलक्षण्य'रूप मिथ्यात्व वाल्लभ वेदान्तमें स्वीकरणीय नहीं. [३]'ज्ञाननिवर्त्यत्व'रूप मिथ्यात्व वाल्लभ वेदान्तको इस लिये अस्वीकरणीय लगेगा कि ब्रह्मज्ञानके प्रकट होनेपर जागतिक द्वैत निवृत्त नहीं होता परन्तु इस भगवदिच्छाप्रकटित द्वैत या अनेकता में ब्रह्मैक्यके प्रतिभासनवशात् ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**'', '**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**'' (छान्दो.उप.३।१४।१, ६।१२।७) वचनोक्त उपासना न केवल फलवती अपितु प्रमापिता भी बन जाती है. अतः आधिदैविक आध्यात्मिक या आधिभौतिक प्रकारके तमस् भी बाधित होनेके बजाय ब्रह्मात्मकतया अवभासित होने लगते हैं. अतएव [४]'स्वाश्रयनिष्ठा-त्यन्ताभावप्रतियोगित्व' लक्षणके बारेमें भी यह अवधेय हो जाता है कि 'स्व'पदवाच्य मिथ्या तमस्को असत् माना जाता होनेसे स्वयं उसके असत् होनेके कारण उसका कोई आश्रय भी वस्तुतः तो हो नहीं सकता. यह तो बाह्य जगत्का कोई पदार्थ न हो कर हमारे आन्तरिक जगत् या केवल बुद्धिमें

भासित होता पदार्थ है. अतः बौद्धिक प्रत्ययके रूपमें वह वस्तुतः बुद्धिमें प्रकट हुवा होनेपर भी यथास्वरूप अपने बाह्यालम्बनके विरहवशात् असत् माना गया है.

[२]'स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व'रूप मिथ्यात्वके बारेमें इन दोनों वेदान्तोंके बीच मतभेद जहां जहां प्रकट होता है, उसे अद्वैतसिद्धिकारके शब्दोंमें परखना हो तो "**सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं यद्यपि तुच्छानिर्वाच्ययोः साधारणं तथापि 'क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् अत्यन्तासत्त्वं' तच्च शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे च बाधात् पूर्वं नास्त्येवेति न तुच्छतापत्तिः**" (अद्वै.सि.१।द्वितीयमिथ्यात्वनिरुक्ति) यह विधान अनुसन्धेय है. यहां वाल्लभ वेदान्त यही कहना चाहेगा कि प्रातिभासिक तमोऽवभासन या शुक्तिरजतावभासन; अथवा, व्यावहारिक बाह्य घटपटादि वस्तुप्रपञ्च यों कहीं भी जहां निरुपाधिक भ्रान्ति होती है वहीं ज्ञानबाध्यता होती है. जैसा कि शुक्तिरजत और स्वप्न के उदाहरणोंमें परखा जा सकता है. परन्तु सोपाधिक भ्रान्तिके उदाहरणोंमें, यथा "पीतः शंखः" "नीलं गगनम्" "नीलं तमः चलति" या "मरुमरीचिकायां जलम्" अथवा देहात्मसम्बन्ध में भी यथायथ उपाधिओंके विलय बिना औपाधिक भ्रान्ति निवृत्त नहीं हो पाती. अतः सभी मिथ्यावभासित पदार्थ ज्ञाननिवर्त्य नहीं होते. अतः मिथ्यात्वका यह लक्षण इस मायिक तमस्के बारेमें वाल्लभ वेदान्तको स्वयं अपने अभिप्रेतार्थमें आपत्तिजनक नहीं लगता. इसी तरह [५]'सद्विविक्तत्व'रूप मिथ्यात्व भी स्वीकारनेमें वाल्लभ वेदान्तको कोई आपत्तिजनक कथा नहीं लगती, गीतोक्त "**न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते**" (२।१६)नियमके साथ अपनी दृढ़ प्रतिबद्धताके वश ही.

(६.उपसंहार)

प्रस्तुत विषयके उपसंहारतया, अतः यह दोहरा देना आवश्यक है कि यद्यपि अवतारवादावलीकारविरचित अन्धकारवादमें तमस्के इन आधिदैविक आध्यात्मिक या आधिभौतिक स्वरूपोंके बारेमें कुछ भी नहीं कहा गया है तथापि तमस्के इन रूपोंका स्वीकार शास्त्रप्रामाण्यके अनुरोधवशात् मुझे

अपरिहार्य लगता है. प्रस्तुत आलेख अतएव अन्धकारवादसे विरुद्ध कुछ प्रतिपादन करना नहीं चाहता फिरभी उसके साथ यह स्पष्टीकरण जोड़ना तो अवश्य चाहता है. इसमें यदि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी अभिमतिसे कुछ वैपरीत्य हो तो श्रीमदाचार्यचरण श्रीपुरुषोत्तमचरण एवं आप सभी विद्वज्जनोंसे इस अपराधकी क्षमाप्रार्थनाके साथ

चर्चा

तमस्के विभिन्न स्वरूप और उनकी अनुभूतिओं के बारेमें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार (वाल्लभ दृष्टिकोणसे)

गो. श्रीश्याम मनोहरजी

व. ना. झा : I am looking in from the point of view of methodology of enquiry. And I find that we are mixing two levels of enquiry. We should take care that we are not confused. The two levels are : all Indian philosophical systems are concerned with the analysis of the human experience. And the analysis of the human experience is not done in any external laboratory. It is entirely a cognitive analysis. Whereas, modern scientific method of enquiries are the reports of a methodology which is not integral cognitive apparatus. It is independent of that. And therefore there is always limitation. 'Limitation' in the sense that no result is conclusive. And the moment it becomes conclusive it is not science. E.g. if I say 'Jalam', in our experience, I do not refer to H_2O. Ordinary man, educated or uneducated both are talking of water. The Shastrakaras are concerned with this kind of experience. They are not concerned with H_2O that does not mean that one should not have an enquiry what could be the source of water. In the course of time you may also find out, as the scientists have told us, that H_2O is the source out of which water is available. Even then Shastra does not become irrelevant. Even if my Shastra doe not say that Jala is H_2O, even if I say that Jala is Jalatva-vishishta, this does not

make any conclusion that Shastra has become irrelevant because science has told me that Jala is H_2O. This distinction is necessary. Otherwise no Shastra will remain relevant because two methods are different. Two purposes are different. Therefore, nothing should be taken as conclusive if the science presents us something before us. We should be thankful to you for one more reason. The word 'Tamas' e.g. you have given a history and development of the use of the term 'Tamas' right from the Vaidic time up till today in whatever sense word 'Tamas' is used and beautiful categorization of 'Tamas' like आधिभौतिक, आध्यात्मिक आधिदैविक and मायिक. This is all beautiful one. Now, you see, there is a time sequence, Rugvaidik time and 2004. Vaidic language also is a language. We are talking is also a language. What is the function of language‹? It verbalizes our cognitions, our knowledge, our experience etc. This is the function of our language. So at T¹ time, say Rugvaidic time, a particular word has been used to refer to a particular referent as per the understanding or the knowledge of that period. And therefore, you find that there is contextual difference in the use of the term. And it is through identifying those contexts we should arrive at the meaning of a particular term. And therefore, your presentation has added volumes of knowledge to us by seeing from Vaidic time up to now today.

Distinction has to be made between physical reality and cognitive reality. A physical reality which is a purview of modern science, because they have not entered into the cognitive reality because they do not know what even the simple term 'I' refer to. What is the referent of I ? They have

nothing to say. So a cognitive reality... we are concerned with our Anubhava. And so these two levels of analysis must be kept separate. And one does not rule out the possibility of the other. Because these two methods are all together different. This is one kind of feeling that I got that if you say that science does not consider all these. E.g. seven colours. You ask any one whatsoever language he uses he will be using those very terms... so we are concerned with this kind of analysis. The way world is presented before me by our experience, by our language that is the world of analysis.

We are very very thankful to you for another reason. All Srastrakara, Darsryikas are engaged in knowing the source of this plurality. You take any one whether Nyaya, Vedanta and so on. What is the source of this plurality ? Is it that one has assumed the form of many as your system presents ? And therefore there is no question of Mithya or Bheda. But I ask you that one is taking the shape of many, one is becoming many, -one is not appearing many, appearing many is Advaita Vedant- is it not necessary to accept a difference? Otherwise how can I say many? Can we deny the experience of many? And therefore, even if I accept the position like this that one has become many, because I say 'many' it amounts to say that my experience is of many. And, is 'many' explainable without accepting Bheda? This is my query to know little more from you. So I think that to conclude absolutely in this way that there is no difference... can I say that though I know that these both the microphones have come from two different sources. Can I say

that they are identical? If not then the difference has to have some reality. How do you explain this in you system? Go : First of all we do not differencciate... We try to explain difference or duality in terms of unity or singularity. Because ...

के.ई.देवनाथन : Bbhedabheda is not acceptable to Prof. Jha.

गो.श्या.म. : We are decoding scriptures and not our experience. So when we find scriptural statement "एकोऽहं बहु स्याम्" then we say that there is Bahuta or plurality and it has its root in singularity.

व. ना. झा : I also object to this. When I only analyse only language, is analysis of language possible without perception ?

गो.श्या.म. : Yes and not.

व. ना. झा : This is confusion.

गो.श्या.म. : No confusion at all. We think, while interpreting scripture, the knowledge is innate and it is expressed in our empirical experience. We have that sort of theory. The scriptural words are already there in our mind. When we explain perception in terms of words only ... Our words are being expressed. "वाचा विरूपनित्यया". Word are primary and perception follows it. Because, suppose you don't have any term to explain what you perceive, then perhaps you will be doubtful about the velidity of your perception also. It is only when you perceive a thing for which you have a word then only you will say, "yes, I have perceived it". If you do not have any term for it...

व. ना. झा : ...therefore the each one that comes to be the member of my experience has to be a Padartha.

गो.श्या.म. : पदस्य अर्थः पदार्थः and not necessarily an external matter.

व. ना. झा : Is that so ?

गो.श्या.म. : Yes.

व. ना. झा : So you are like Naiyayikas.

गो.श्या.म. : Certainly not analyzing our own definitions but analyzing scriptural terms and propositions or theories. But if you call us Naiyayika, we thank you very much! We are really so thankful to you for that.

व. ना. झा : If this is the position that पदस्य अर्थः पदार्थः then what should be the referent of negative particle ?

गो.श्या.म. : Tirobhava.

व. ना. झा : What is that ?

गो.श्या.म. : Something which is not absent but concealed. E.g. radio waves are present here but they are unrevealed. If you put a proper instrument i.e. radio set here, they will be revealed.

व. ना. झा : Then in what way Tirobhava is different from Abhava as an entity ? Because, if you say Tirobha^Cva is an entity, Naiyayika says Abhava also is an entity. Then in what way they are different ?

गो.श्या.म. : By 'Abhava' if you mean negation of Bhava then we defere from your opinion.

के.ई.देवनाथन : 'तिरोभावो' नाम दर्शनाभाव: ?

गो.श्या.म. : अथवा अर्थक्रियाकारित्वाभावोऽपि क्वचिद्.

व. ना. झा : अर्थक्रियाकारित्वाभाव also is not true. Because Abhava also has some...

गो.श्या.म. : Tirobhava of Arthakriya. Now I am not using your term!

व. ना. झा : Tirobhava is also अर्थक्रियाकारी.

गो.श्या.म. : When अर्थक्रियाकारित्वाभावा is in function and when अर्थक्रियाकारिता is not in function. E.g. Purushatva is not revealed in child but still we speak of 'male child' in contrast of 'female child'.

तु. ह. दाते : I thank Goswami Shyam manoharji for giving some enlightenment to a scientist. Lot of scientific discussion is involved in this presentation. And I want to say that present scientists are trying to have some help from thoughts which you have promoted in this discussion. So, the quotations you have made from science part, they are of 1975 period. After that lot of water has thrown. And whatever doubts which are there in between spiritual aspects and scientific aspects, there is some trial to have the unification. So, GUT theory which you presented is dead and gone. There is a lot of advancement and I have some references here which I want to quote because scientists are trying to solve to unsolved problems. And whenever they are trying more unsolved problems are created. That is how the chain goes on. It is a chain reaction. For one question there are more questions. So to say that the elements which you have considered to analyse the difference between spiritual aspects and scientific aspects the colours and that problems you have taken there are some more advancement. Just I quote one thing: It is speculated that the amount of deuterium or baryonic dark matter which is combination of protons and neutrons, that is present in universe is related to the density of the universe at the epoch in which it is formed. The baryonic dark matter is made up of joint planets like Jupiter in universe not only in our solar system. The non-baryonic matter may be the form of WIMPS (weekly interacting massive particles). So those are under investigation. And the

theories which are presented earlier there is again advancement and dark matter is more in search. For that there is need of intuition which is lagging . I hope that by your explanations scientists will be benefited. At least I will try to send this message in various conferences where only scientific presentations are there. Secondly, about enlightenment and other aspects, of course I am not expert in field which you have presented, but there is one-many-problem where interface enlightenment is given. And of course, one-many-problem is giving here logic and set theory in mathematics. Then mysticism and rationality explores little... under mysticism and Zen explanation gives a description of Satory as one-many-problem. So here now mysticism mathematically explained as infinity = 0. So it makes no sense to people like us. Then way of unity is inward = outward way i.e. second equation given. Brahman = Atom. Everything = I am. These are the thing given under mysticism and rationality is kept blank. Because, there is no correspondence in rationalism. So it is very difficult to sandwich science and spirituality though our attempt is there. And if some intelligentsia will prevail to understand it, it will be a great help to understand the nature and reaching near to the truth because it is always asymptotic. Reaching truth or getting the concept of truth to its true sense is reaching to God. Whether man can reach to God or not is again a problem. And that is how I have some questions here. And GUT theory (Grand unification theory) is not at all resolved yet because there are many hindrances. I hope with the help of Goswamiji it can become possible to come to some asymptotic path to reach or develop the science. Because, you have taken interest in science, persons like me & our group is trying to understand whatever knowledge is given in various Shastras. I can say that Vallabha-vedanta can give some enlightenment to the science. And I am asking you how it can help.

गो.श्या.म. : Thank you very much for the appreciation and query. I know my limitations. I can try to interpret scripture in light of Vallabha-vedanta. And that's where the boundary comes. I just wanted to have some dialogue with science. So I brought here some theories of science regarding perception of the darkness, source of the darkness and so on. Regarding helping science, whether Vallabha-vedant is useful or not to you in your scientific inquiry, it is not my concern...

तु. ह. दाते : Obviously it is helpful.

गो.श्या.म. : May be useful and may not be. But I don't consider myself as any authority over this subject. Once a Jew boy came to me. He discussed various methods of worship. Then he suddenly asked me "Goswami! Remaining a Jew can I practice your method of worship?". I told him "I don't know, you should better put this question to your Rabbi". I can only tell you what are the principles and practices of our system.

प्रह्लादाचार : In our tradition the word 'Tamas' is used to mean many things. Of course you quoted many Su^Cktas of R^Ygveda where the word 'Tamas' occurred. You also quoted many Upanishadic sentences where the word 'Tamas' is there. And Avatar-vadavali also mentions the word 'Tamas'. So, basing on these statements you tried to come

to a conclusion that Tamas is of many kinds: आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक and also मायिक. My question is the word 'Tamas' while used to denote all these things do you think that they all come under one category? E.g. Pruthivi, Jala, Tejas etc. all of them are considered as substance - Dravya. And the definition which is applicable to them is given. It is OK. But take the example of the term 'Prakasha'. In Sanskrit it means the Physical light and also Cognition. Though the word means the both we never consider these two namely the Physical light and also Cognition belonging to one category. They are quite different. While one is substance another is quality. They do not come under one category. Similarly, the word 'Tamas' that occurs in the Vedas and Upanishadas it denotes something we may call it भावरूप अज्ञान or Prakruti or something. And the word 'Tamas' that is discussed in Avatar-vadavali and also discussed by Naiyayika and other Vedantins this Tamas is al together different from the Tamas that is mentioned in Veda and Upanisdas. They don't have anything common between them. Therefore could it be proper to come to a conclusion that Tamas is of many kinds : अधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक etc.? You, of course, said that you are slightly deviating from Avatar-vadavali even then you thought that your view is not quite contrary to the view presented by Avatar-vadavali. My question is this Tamas is quite different. There is nothing common between them.

व. ना. झा : Brahman himself is Tamas and he himself manifest in these forms. Then there is unity.

के.ई.देवनाथन् : अज्ञानजनकत्वम् इति एक: आकार:. येन आकारेण ब्रह्म तम: इति उच्यते. कयाचित् शक्त्या युक्तं ब्रह्म तम:. ब्रह्म तमो नास्त्यपि. कयाचित् शक्त्या युक्तं ब्रह्म तम: आसीत्. तस्य अज्ञानजनकत्वम् अस्ति. ब्रह्मणो अज्ञानजनकत्वमपि तै: स्वीकृतम्. अनन्तरं मोहजनकत्वम्. तद्वद् लौकिकतमोऽपि अज्ञानजनकमेव भवेत्.

बलिराम शुक्ल : उपनिषदां केनापि रूपेण व्याख्या कर्तुं शक्या.

गो.श्या.म. : यथा वैशेषिकपदार्थानाम्.

व. ना. झा : तथा स्वातन्त्र्यं नास्ति.

प्रह्लादाचार : वाल्लभसिद्धान्तस्यापि तथा स्वातन्त्र्यं नास्ति. तस्मिन् सिद्धान्तेऽपि सर्वं जगत् चेतनात्मकं वा अचेतनात्मकं वा ब्रह्मपरिणामात्मकम् इति स्वीकृत्यापि केचन नियमा: अनुस्रियन्ते. नहि स्वाच्छन्द्येन यत्किमपि वक्तुं शक्यते. अतो, अवतारवादावलीकर्त्रा तमस: तेजोभावत्वेन अन्यै: दार्शनिकै: यद् उच्यते तस्य तमसो वाल्लभसिद्धान्तानुसारेण विवरणार्थं कश्चन प्रयतव: कृतो वर्तते. नतु प्रकृते: वा भावरूपाज्ञानस्य वा तम:पदार्थत्वेन स्वीकृतस्य विवरणं... वर्तते. अत: एवं रीत्या विभागो यद् भवद्भि: कृत: स: वाल्लभसिद्धान्ते आवश्यको वा इति मे कश्चन विचार:.

गो.श्या.म. : किम् आवश्यकं किं न आवश्यकं सर्वम् एतत् शास्त्रवचनानुरोधेन निर्धारयितुं शक्यते, न स्वातन्त्र्येण. तमो मायिकम् इति सकृदुक्तौ किं भवेत्, सर्वमपि तम: मायिकं स्यात्. तत् मा भूद्, यतो ब्रह्मापि तमस्त्वेन शास्त्रेषु निर्दिश्यते, अज्ञानमपि तमस्त्वेन निर्दिश्यते, भौतिकं तमोऽपि अज्ञानजनकत्वेन वा अज्ञानरूपेण वा, यथाच श्रुतिरपि मया तत्र-तत्र लिखिता "वयुनवत् चकार अवयुनवत् चकार" इति. तस्माद् हेतो: यद् अत्र अन्धकारस्य मायिकत्वं प्रतिपादितम्... ह्य: भवान् अत्र न आसीत्. एभि: प्रश्न: उट्टङ्कितो यद् शुद्धाद्वैतिनां मते तमसो न भावरूपत्वं नापि अभावरूपत्वं तत् कथं संगच्छते?...

के.ई.देवनाथन : इदानीमपि मम... भवद्भि: अन्ते समापनकाले उक्तं यद् असतोऽपि अर्थक्रियाकारित्वम् अस्ति इति रीत्या मायिकतमस:

असद्रूपत्वम् उक्तम्. तद् मम भाति, अभावरूपत्वमेव. यतः सामान्यतः 'असच्'छब्दः न्यायादिग्रन्थेषु अभावापरपर्यायतया युज्यते. एवञ्च अभावरूपत्वं स्वीक्रियते इति. मम...

गो.श्या.म. : सद्विविक्तत्वम्.

के.ई.देवनाथन : असत्त्वं नाम तुच्छत्वं नास्ति? शशविषाणवत् नास्ति?

गो.श्या.म. : शशविषाणवदेव भवति. व्यामोहिका माया भगवतः एतादृशी शक्तिः यत् शशविषाणमपि प्रदर्शयितुं शक्नोति.

के.ई.देवनाथन : शशविषाणं प्रदर्शयति, परन्तु मायापरिणामविशेषः तमः इति किल पुरुषोत्तमचरणैः कथितं तत्र यो मायापरिणामविशेषः सः तुच्छो वा न वा? तस्य कार्यम्...

गो.श्या.म. : तदर्थम् आलेखपत्रएव मया एतस्य स्पष्टता कृता.

के.ई.देवनाथन : मायातु स्वरूपतो असती नास्ति. तर्हि मायायाः परिणामविशेषरूपं तमः...

गो.श्या.म. : परिणामविशेषः इति न एतस्मिन् अर्थे. माया भगवतः सद्रूपा शक्तिः. तस्य सदात्मकः परिणामः तमो न भवति. असदात्मकएव परिणामः...

के.ई.देवनाथन : सतः कथम् असदात्मकः परिणामः?

बलिराम शुक्ल : "नासतो विद्यते भावः" इति कथम्...

गो.श्या.म. : तस्य तमसो भावो नास्ति, असत्त्वात्. तथापि भावत्वेन माया प्रदर्शयति इति एतावानेव अस्माकम् अभिप्रायः.

के.ई.देवनाथन : सतोऽपि असत्परिणामरूपः.

प्रह्लादाचार : त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं नाम absolute non-existence. This kind of सद्विविक्तत्वं also means the same. So, this kind of absolute non-existence can it be accepted in मायिक ?

गो.श्या.म. : That is why it is Maya.

व. ना. झा : Logical dificulty.

गो.श्या.म. : There is a logical dificulty.

के.ई.देवनाथन : Logical difficulty can not be imposed on Maya. Logical untenability can not be set against Maya. That is

why it is called 'Maya'.

प्रह्लादाचार : Vyamohakatva is quite different. But that itself being totally non-existent is something different. Isn't it ?

गो.श्या.म. : It is non-existent yet it appears. Because it appears, Shankara-vedantins consider it as a third/fourth category i.e. सदसद्विलक्षण. We say, there is no need of the third/fourth category. Two categories are sufficient. Out of which... you will understand well that Sat is a positive category, Asat is not a real or objective category, it is only a verbal category. The moment you say Asat is a category तुच्छमपि तदा पदार्थो भवेत्, 'तुच्छ'पदवाच्यत्वात्... यथा वेदान्तदेशिकैः उच्यते "अवाच्यं वाच्यमिति वा वस्तुनि प्रतिपद्यते, वाच्यमेव भवेद् वस्तु वाच्यावाच्यवचोऽन्वयाद्" इति.

बलिराम शुक्ल : "शब्दज्ञानानुपाति-वस्तुशून्यो विकल्पः" इति. 'असत्'पदेन किं विकल्पो गृह्यते?

गो.श्या.म. : विकल्पएव गृह्यते.

सच्चिदानन्द : मायापरिणामः इति उच्यमाने उपादानसमसत्ताकत्वं प्रतिभाति.

गो.श्या.म. : तस्मिन् अर्थे 'परिणाम'पदं न प्रयुक्तम्. तदेव वच्मि.

व. ना. झा : 'परिणाम'शब्दार्थः एतादृशो भवति वा? कुत्रापि शास्त्रे एतादृशो अर्थो निर्दिष्टो अस्ति वा?

गो.श्या.म. : "छायाप्रत्याह्वयाभासाः असन्तोऽपि अर्थकारिणः" इति भागवतशास्त्रएव वचनं विद्यते.

व. ना. झा : परिणाम...

गो.श्या.म. : तथाच मायया अप्रदर्शिते नाम विकल्परूपेण अपरिणते वा असद्रूपे अर्थे कथम् अर्थक्रियाकारित्वं समागच्छेत्?

प्रह्लादाचार : असन् सर्पो भयं जनयति. अर्थक्रियाकारित्वं तत्र स्वीक्रियते. परन्तु तत्र अर्थक्रियाकारित्वं कस्य? न अविद्यमानस्य सर्पस्य किन्तु सर्पज्ञानस्यैव. सर्पज्ञानं हि भयं जनयति. ज्ञानन्तु सदेव.

गो.श्या.म. : तस्मादेव असद् इति ब्रूमः. वस्तुतो नास्ति तथापि प्रतीतिन्तु

जनयत्येव, व्यवहारञ्चापि जनयति. तादृक् सामर्थ्यम् असतस्तु न सम्भवतीति सद्रूपायाः मायायाः तद् उच्यते...

प्रह्लादाचार : "असन्तोऽपि अर्थकारिणः" इति यद् उक्तं तत्र नहि अविद्यमानस्य सर्पस्य विषसंक्रामकत्वं भवति.

गो.श्या.म. : बहुषु सर्पदंशोदाहरणेषु, आधुनिकैः एवम् उच्यते, यद्यपि दंशकाः सर्पाः विषयुक्ताः न भवन्ति तथापि सर्पेण दष्टोऽस्मि इति ज्ञानमात्रेण बहवो जनाः म्रियन्तइति असन्तोऽपि क्वचिद् अर्थकारिणो भवन्ति.

प्रह्लदाचार : तत्र ज्ञानं कारणम्.

गो.श्या.म. : तदेव वच्मि. स्वतो असम्भवेऽपि असतोऽपि अर्थक्रियाकारित्वं ज्ञानमुखेन तु सम्भवत्येव. तत्र तादृज्ज्ञानजनएव व्यामोहकमायायाः पराक्रमः. सा तादृक् ज्ञानं जनयति येन ज्ञानेन अर्थक्रियापि सञ्जायते. सातु व्यामोहयित्वैव जनयति नतु विनैव व्यामोहम्.

व. ना. झा : शक्तिः खपुष्पत्वेन परिणमते. तत् कथं...

गो.श्या.म. : नहि शक्तिः स्वयमेव परिणमते. असदेव हि खपुष्पं सत्त्वेनेव परिणमयति प्रदर्शयति इति यावत्. तादृगेव व्यामोहकत्वं तस्याः. नोचेद् व्यामोहकत्वमेव न स्यात्, सद्रूपायाः मायायाः सत्त्वेनैव परिणतत्वात्.

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो.श्या.म.

श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित अवतारवादावलीमें अन्यख्यातिवादके बाद प्रतिबिम्बवाद और अन्धकारवाद के पृथक् प्रतिपादनकी कोई अपेक्षा होनी नहीं चाहिये थी, अन्यख्यातिके प्रतिपादनसे उनके गतार्थ होनेके कारण. अतः यह जिज्ञास्य लगता है कि इनके पृथक् प्रतिपादनका कोई प्रयोजनविशेष तो अवश्य ही होना चाहिये?

अर्थात् क्या प्रतिबिम्ब और तमस् अन्यख्यातिरूप भ्रान्तिज्ञानके विषय नहीं होते? यदि होते हों तो अन्यख्यातिके विचारसे इनका विचार गतार्थ मान लेना चाहिये था. यदि नहीं तो, इन्हें पृथक्तया मायिक प्रतिभास सिद्ध करनेका तथा अवस्तु माननेका हेतु क्या हो सकता है? क्यों इन्हें भी पुरोऽवस्थित गृह्यमाण वस्तुभूत अर्थसे अन्य किसी वस्तुका मायिक प्रतिभास नहीं मान लिया जाता? क्यों इन्हें न तो अभावरूप और न पुरोवस्थित वस्तुभूत अर्थसे भिन्न कोई अर्थ माना गया है?

इन आशंकाओंके निरसनार्थ सर्वप्रथम तो श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचित प्रस्थानरत्नाकरगत प्रत्यक्षज्ञानकी करणरूप इन्द्रियोंकी व्यापाररूपा अलौकिक तथा लौकिक प्रत्यासत्तिओंका विमर्श आवश्यक हो जाता है. वहां ग्रन्थकारने यों दिखलाया है

"तत्र इन्द्रियाणि उक्तानि. तेषां व्यापारो विचार्यते प्रत्यासत्तिरूपः. स तावत् लौकिकालौकिभेदेन द्विधा. तत्र अलौकिकः त्रिधा : (क)सामान्य-(ख)योगज-(ग)माया-भेदात्. (क)तत्र सामान्यम् अनुगताकारेण तद्व्यक्तिज्ञाने उपयुज्यते, तस्य तथात्वं च अनुभवसिद्धं, (ख)द्वितीयो अनागतातीतातीन्द्रियादि-वस्तुसाक्षात्कारे, भगवद्ध्यानादेरपि अत्रैव निवेशः, (ग)तृतीयातु अविद्यमानानां पदार्थानां बुद्धौ उपस्थापने... लौकिकस्तु पञ्चविधः : (क)संयोगः (ख)तादात्म्यं (ग)संयुक्ततादात्म्यं (घ)संयुक्तविशेषणतादात्म्यं (ङ)स्वरूपं च. तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे

संयोगएव प्रत्यासत्तिः. केचित्तु इतरेन्द्रियावैलक्षण्यात् चक्षुषो अप्राप्यप्रकाशकारित्वं स्वीकृत्य दूरत्व-व्यवधानाभाव-सहकृत-योग्यतामात्रेण प्रतीतिनिर्वाहात् तत्संयोगं न स्वीकुर्वन्ति. अन्येतु नेत्रेन्द्रियगोलकस्य स्वच्छत्वेन तत्र वस्तुनः प्रतिबिम्बे सति योग्यतामात्रेण मायाद्वारिकां प्राप्तिं स्वीकृत्य संयोगस्य द्वारत्वं खण्डयन्ति. तद् उभयपि असंगतं भगवता संयोगस्वीकारात् ''चक्षुः त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि तत्र मां मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः'' (भाग.पुरा.११।१५।२०) इति एकादशे भगवद्वाक्यात्. अत्र तत्तत्प्रतियोगिकसंयोगद्वयनिरूपणेन योग्यता-प्रतिबिम्बपक्षानङ्गीकरणात्... प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति. तेन मायापि प्रत्यायतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते तेजस्संयोगबाहुल्यइवेति न तस्य गतार्थता... तस्माद् अस्ति चक्षुषः संयोगो द्रव्यग्रहणे व्यापारः. सएव योग्यगुणक्रियाजातिसाक्षात्कारेऽपि उपयुज्यते, तेषां वस्तुतो द्रव्याभिन्नत्वात्. संयुक्ततादात्म्यं वा अस्तु... मनस्तु बहिर्विषये स्वसंयोगद्वारकः इन्द्रियसंयोगादिः, स्वधर्माणाय ज्ञानसुखादीनां ग्रहणे तादात्म्यं, वृत्तीनां ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव द्वारम्. तिरोभावस्तु इन्द्रियसंयुक्तविशेषणतया गृह्यते.''

(प्रस्था.रत्ना.प्रमाकर.कलो.तरं.तृती.)

एतावता यह सिद्ध होता है कि परिगणित प्रत्यासत्तिओंमेसे केवल मायारूपा प्रत्यासत्ति ही कहीं पुरोऽवस्थित गृह्यमाण वस्तुसे भिन्न किसी वस्तु या वस्तुधर्म की ग्राहिका बनती है तो कहीं सर्वथा असत् वस्तुकी ग्राहिका भी बन सकती है.

अतएव सृष्टिभेदवादमें ग्रन्थकारने जो चतुर्विध सृष्टिओंका प्रतिपादन किया है, तद्नुसार,–

''एवं प्रपञ्चः सामान्यतः चतुर्धा सिद्धः : १. ब्रह्मणः स्वतएव सर्वाकारत्वाद् ब्रह्मरूपो गुणातीतः एकः, २.केनापि श्रौतेन

पौराणादिना वा क्रमेण इच्छया मुख्यशक्त्या वा निर्गमितो अनेकविधो घृतद्रवत्ववद् ब्रह्मात्मकविकारशाली ब्रह्मपरिणामरूपो द्वितीयः... ३.एतदुपदेहभूतो मायोपादानकः प्राकृतविकारशालि-व्यावहारिको ब्रह्मविवर्तात्मा तृतीयः... ४.अविद्यायाः निद्राचिन्तादिभेदेन अनेकत्वात् तन्निमित्तकः तदुपादानको वा शुक्तिरजतस्वाप्निकादिरूपो अन्तःकरण-विकारात्मा व्यवहार-दुष्टेन्द्रियादिगोचरः तुरीयः. एतौ द्वावपि मायिकौ प्रपञ्चौ विषयधर्मत्वाद् 'विषयता'शब्देन अत्र परिभाष्येते, मायिकत्वेऽपि विषयनिष्ठतया भासमानत्वात्. यथा सदृशधर्माः भिन्ननिष्ठाअपि तद्गत्वेन उच्यन्ते, ''तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्'' इति तद्वत्. अत्र आद्या विषयता व्यामोहकमायाकार्यत्वात् मायानिष्ठापि मायया विषयोपदेहाद् विषये प्रतीयतइति मायावादिनो विषयं मायिकं इति अभिमन्यन्ते. बुधास्तु निर्विचिकत्से शास्त्रज्ञाने जाते उपदेहात्मिकां विषयतां घटभ्रमणवत् पश्यन्तोऽपि तां न्यक्कृत्य विषयं ब्रह्मात्मकं वदन्ति. जातसाक्षात्काराः शुकादितुल्यास्तु, यथा अस्मदादयः प्रतिबिम्बम्, एवम् अतिरिक्तामेव विषयतां पश्यन्तीति तादृक्तादृगधिकारिषु तथा-तथा वदन्ति... शुक्तिरजतादिकं च अन्तःकरणादिगतमेव. जीवव्यामोहिकया तया तदन्तःकरण-बहिःकरणयोरेव तदुत्पादनात्. विषयदेशे प्रतीतिस्तु संस्कारादिप्राबल्यतया व्यत्यासात्.''

(सृष्टिभे.वा.)

यहां इस प्रतिपादनमें व्यामोहिका माया द्वारा जन्य प्रतीतिके गोचरतया जिस विषयताका निरूपण किया गया है उसके दो प्रभेद तो ग्रन्थकारने कण्ठतः निरूपित किये हैं : १.विषयोपदेहभूता विषयता तथा २.विषयावभासोपदेहभूता विषयता.

मुझे लगता है कि यह तो प्रतिपादनकी एक विधा हुयी. दूसरी विधा यों भी शक्य है कि व्यामोहिका माया तीन-चार तरहसे कार्य करती है : १.विद्यमानका

अप्रकाशन/आवरण/आच्छादन/अनवभासन, २.परोक्षदेशकालावस्थित वस्तु या वस्तुके गुणधर्मक्रियाओं का अपरोक्षदेशकालावस्थित वस्तुतया अथवा वस्तुके गुणधर्मक्रियात्वेन अवभासन, ३.सर्वथा असद् वस्तु अर्थात् सभी देश-कालमें असद् वस्तुका सत्त्वेन अवभासन. और अन्तमें ४.जैसे किसी एक विद्यमान वस्तुका किसी दूसरी विद्यमान वस्तुसे आच्छादन या आवरण हो जानेपर आच्छादित या आवृत वस्तुकी विद्यमानतया अप्रतीति अथवा अविद्यमान होनेकी प्रतीति प्रकट करता है, वैसे ही भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाका ऐसा भी असाधारण सामर्थ्य होता है कि वह असद्वस्तुके द्वारा भी सद्वस्तुको आवृत या आच्छादित कर पाती है. इसी तरह संनिहित देशकालावस्थित वस्तुका असंनिहित देशकालावस्थित वस्तुतया जैसे आभास प्रकट करती है वैसे ही सर्वथा असद्वस्तुका आभास भी प्रकट कर सकती है.

एतदर्थ स्वयं श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वारा आलेखित व्यामोहिका मायाके निरूपणका अवलोकन ही उपकारक होगा. तदनुसार–

> **"यद् वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तद् आत्मनां जीवानां व्यामोहिका या माया पूर्वं निरूपिता तस्याः कार्यम्. साहि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनम् अन्तःकरणबुद्ध्यादिकमपि व्यामोहयति. तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते नतु पदार्थाः भवन्ति... माया च द्विधा भ्रमं जनयति : १.विद्यमानं न प्रकाशति २.अविद्यमानं च प्रकाशयति देशकालव्यत्यासेन. प्रमाणभूतो वेदः 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इति आह ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा. भ्रान्तप्रतीतेस्तु अर्थनियामकत्वम् अन्यथा भ्रमदृष्ट्या गृहीतं जगत् भ्रमद्रूपमेव स्यात्. अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया स्यात्. अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमदृष्टिः निर्विषया स्यात्. अतो अन्यत्रैव सिद्धा भ्रमिः मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते, दृष्ट्यनुरोधित्वात् तस्याः... विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्. मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितमिति तदपि निःस्वभावम्, आत्मशक्तित्वात् मायापि न निःस्वभावा. चिद्विलासत्वाद् बुद्धेः परं तामेव**

> **व्यामोहयति यावद् न ब्रह्मभावः. साहि भगवदीयैः सर्वैः पदार्थैः विरुद्ध्यते. ते हि भगवद्विषयकं ज्ञानं जनयन्ति. अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तं विषयजनितं प्रमा इति"**
>
> (भाग.सुबो.२।९।३३)

एतावता यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मदृष्ट्या कुछ भी यहां असत्त्वेन या तुच्छत्वेन कहा नहीं जा सकता होनेपर भी व्यामोहिका मायाद्वारा मोहित बुद्धिकी अपेक्षासे कुछ पदार्थ भ्रमभात ऐसे होते हैं जिन्हें 'असत्' कहा जा सकता है. अतएव भ्रमज्ञानके स्वरूपलक्षणतया अन्यख्याति ही अभीष्ट होनेपर भी उसके कारणलक्षणतया जो व्यामोहिका माया द्वारा जनित अज्ञान और अन्यथाज्ञान होते हैं उनमें कभी सदात्मक वस्तुओंका भान होता है तो कभी आपेक्षिकतया असत्पदार्थोंका भान भी होता ही है. यथा प्रतिबिम्बतया अवभासित होता पदार्थ बिम्बतया अन्यख्यातिका विषय होनेपर भी दर्पणगत बिम्बतया असत् पदार्थ माना-कहा जा सकता है. इसी तरह अन्धकार भी प्रकाशके तिरोभूत होनेपर नीलगुणविशिष्ट चलनक्रियाविशिष्ट जैसा कि चक्षुगोचर होता है उसे मायिक पदार्थ होनेके रूपमें असत् कहा-माना जा सकता है प्रकाशके तिरोभावको एतावता मायिक या असत् मानना आवश्यक नहीं.

निष्कर्षतया अन्यख्यातिवादके आधारपर प्रतिबिम्ब एवं अन्धकार को मायिक आभास मान लेनेपर भ्रान्तिगोचर पदार्थतया अतिरिक्त निरूपण अनावश्यक होनेपर भी, अज्ञान और अन्यथाज्ञान क्योंकि भ्रान्तिज्ञानकी कारणकोटिके अन्तर्भूत हैं, स्वरूपकोटिमें नहीं अतः इन दोनों वादोंकी अन्यख्यातिवादसे अगतार्थताको लक्ष्यमें रख कर इनका स्वतन्त्र भी निरूपण उपयोगी निरूपण ही है.

I am extremely grateful for such spontaneous and thought-provoking remarks and criticisms that the respectable participator scholars have made for my paper. However there are certain clarifications which I would certainly like to put across here.

First of all regarding Dr. Sri V.N. Jha's remark about the mix-

ing of two levels of enquiry; and, his opinion that all the Indian philosophical systems are concerned with analysis of the human experience. I find it very difficult to accept that all the Indian philosophical systems are concerned only with analysis of human experience, which is immediate. We discuss ब्रह्म माया प्रकृति अदृष्ट योगज-प्रत्यासत्ति मोक्ष स्वर्ग-नरक देवयोनि-असुरयोनि आर्ष/आप्त-वचन and several other such concepts, which never come across ordinary human experience. And hence the validity of these concepts lacks the touch of human experience. Had these concepts been part of human experience there would certainly be no philosophical dispute between Crarvaka Bauddha and Arhata on one hand and the Vedic systems of thought on the other hand. Therefore the moment we admit the authority of scriptural testimony our thought-process makes take-off from the level of human experience and start flying into trancsendental sphere of knowledge. Thus if we do not mind the mixing up of our analysis of human experience with the Yogic experirences of our Rushis, who might have made yogic experiments and observations, then why we should be so fussy about scientific experiments and observations ? After all scientists are also human beings ! They may commit mistakes in their experiments; but, they can also report many a time testworthy truths too. So why philosophy can not pursue dialogue with science ? Particularly when both of them have so many comman subject-matter to deal with. My intention of discussing scientific theory vis-a-vis philosophical theories is neither less nor more than a humble pursuit of trying to create some sort of dialogue between the two departmentalised understandings of same anthropogenetic knowledge.

Furthermore Dr. Sri. Jha argues that the "modern scientific

method of enquiries are the reports of a methodology which is not integral cognitive apparatus. It is independent of that. And therefore there is always limitation. 'Limitation' in the sense that no result is conclusive. And the moment it becomes conclusive it is not science". I beg to differ here because the scientific experiments and observations do show more cognitive integrity than any other branches of knowledge. If it is not an exgerstion then let me assume that it is rather enhanced by the repititive checkings and counter-checkings of their results. While philosophical methods quite often depend on popular opinions or age-old commanly biased notions of mankind. Beside this we ought to distinguish between what is an experimental science and what the scientific philosophy is emerging day by day, after the serious conciderartion of the result of experimental sciences. As Stephen Hawking says "Any sound scientific theory, whether of time or of any other concept, should in my opinion be based on the most workable philosophy of science" (The universe in nutshell pp.31). So before such scientific philosophy makes all our old philosophies completely outdated, it is a prime duty of the all learned scholars of ancient philosophies to engage themselves in dialogue with science. So that both the human efforts in search of truth may not finally feel the destitute of the findings of the other or ignorant of the rtuth that is already discovered by the other.

Take a scientific example, given by Dr. Sri Jha himself, that scientists explain a water molecuel as constituted of H_2O. The scientists have anlysed it and it came out to be a proven fact. Now who can consider it as either non-scientific conclusion or non-conclusive result ! It is highly unimaginable to believe that it ceases to be a sci-

entific conclusion, simply because it is a proven fact.

Therefore in same context I would like to ask one more question about the famous syllogism proposed by Naiyayikas "सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽपि अनुच्छिद्यमान-द्रवत्वात्. यन्न एवं तन्न एवम्" (Sdntmktvl : 42). Is this syllogism based on an integral cognitive apparatus ? Apparently not, it is rather an inference based on the experiments made in furnaces of old time, with the heating apparatus of those old days which could not produce the heat required to make gold evapourated. Now scientists have found that even gold can be evapourated at the boiling point of 2,966.0°C. Therefore science would never admit the validity of this type of syllogisms. Thus inspite of the experiment in which 'dravatva' of gold can be evapourated, if Naiyayikas want to stick to their own belief, they can do so. But they have to come up with some fresh reasons. Here I see no point for Naiyayikas not to have dialogue with science.

Otherwise शास्त्राभिप्रायमीमांसक philosophy like Vedanta can also disqualify Naiyayikas. As it is aptly expressed by Bhagvatpad Shankaracharya "इतश्च न आगमगम्ये अर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यं यस्मात् निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षानिबन्धनाः तर्काः अप्रतिष्ठिताः भवन्ति उत्प्रेक्षायाः निरङ्कुशत्वात्" (Br.S.Bha. 2/1/11). Is it possible on such excuse that Naiyayikas are not worthy for philosophical discussion‹? Does their indulgence in "निरागम पुरुषोत्प्रेक्षानिबन्धन अप्रतिष्ठित तर्क" make them really disqualified ? Is it allowable that there should not be any dialogue between Nyaya and Vedanta ? Certainly numbers of polemic treatise are available agaibst each other in both the systems of thought !

Therefore what is required, according to my humble opinion, is : we should pursue dialogue among all the branches of knowledges. But every branch must ensure and regard the freedom of another branch to agree or disagree with the conclusion of the others. Such dialogue may involve various modes of comparison contrast criticism outright rejection partial appreciation or even a total agreement. But in any case it is the most imperative indeed.

Dr. Sri. Jha argues that "Even if my Shastra does not say that Jala is H_2O, even if I say that Jala is Jalatva-vishishta, this does not make any conclusion that Shastra has become irrelevant because science has told me that Jala is H_2O. This distinction is necessary. Otherwise no Shastra will remain relevant because two methods are different. Two purposes are different. Therefore, nothing should be taken as conclusive if the science presents us something before us". To this type of contention my humble appeal is that either Nyayashastra must accept the challenge to falsify the experiment on basis of which water is defined as H_2O; or it should declare that there are only Jaliya Dvyanukas i.e. molecules of water. But the idea of Jaliya Paramanu has to be now dropped. Otherwise Nyaya can only be a valid linguistic analysis of the term 'JALA' but it can not boast to be a valid analysis of physical entity called 'JALA'.

Dr. Sri Jha wants to mske distinction between the different usages of the term 'Tamas' in Rugvedic period and modern period. As he says "there is a time sequence, Rugvedic time and 2004. Vedic language also is a language. We are talking is also a language. What is the function of language ? It verbalizes our cognitions, our knowledge, our experience etc. This is the function of our

language. So at T[1] time, say Rugvedic time, a particular word has been used to refer to a particular referent as per the understanding or the knowledge of that period. And therefore, you find that there is contextual difference in the use of the term. And it is through identifying those contexts we should arrive at the meaning of a particular term... Distinction has to be made between physical reality and cognitive reality. A physical reality which is a purview of modern science, because they have not entered into the cognitive reality because they do not know what even the simple term 'I' refer to... So we are concerned with our Anubhava. And so these two levels of analysis must be kept separate."

I have to render here my clarification based on my understanding of our Vallabha Vedanta. The term 'TAMAS' is used in Rugvedic Sanhita Upanishads Bhagavadgita and Bhagavatapurana also certainly in different senses and in different cotexts as well. Sri Purushottamacarana in his Andhakaravada has criticised Nyaya-Vaisheshika's stand of explaining darkness in terms of absence of light. He has also refuted the idea that darkness is a unique matter. He is not ready to allow the darkness to be included in other worldly objects. So darkness, according to him, must be taken as visual illusion i.e. Mayic appearence. And to prove his contention he solely relies on scriptural testimonies. If we seriously consider all these points, this may create a great misunderstanding that in वेदोपनिषत्पुराणिक scriptures the term 'Tamas' refer only to some false appearance. Because according to Mahaprabhu SriVallabhacharya Bhagavatapurana is regarded as final clarification to remove all the doubts, which may occur in our attempt of the intepritіon of Shruti Smruti or Sutras. So my point in quoting other passages from scrip-

ture was to show and prove that term 'Tamas' is used in different senses in respective passages of different scriptures. I think I am rather already following the guideline what Dr.Sri Jha is asking me to follow, than the neglect of contextual consideration ! Coming to the necessity of distinction between physical reality and cognitive reality, if the validity of correspondence theory of truth is not acceptable to Nyayashastra then cognitive reality is bound to be denigrated to the level of अन्यथाख्याति. And if the correspondence theory of truth is maintained in it's true spirit then the physical reality must corresponde to cognitive reality and cognitive reality too must correspond to physical reality vice versa. So question does not arise here of any serious distinction.

Dr. Sri Jha speaks of his feeling that since science does not consider seven colours so I want to deny the differences of seven colours. But what I was trying in my paper was merely a deliniation of some sort of agreement as well as disagreement between science and Vedas, in the matter of numbers of colours. I took it only as an attempt to start some dialogue with science, patricularly in context of how and why any real thing appears to be black and the illusion also of darkness appears to be black ?

Lastly what Dr. Sri Jha has argued against our theory of Realistic Monism i.e. शुद्धाद्वैतवाद "Can we deny the experience of many ? And therefore, even if I accept the position like this that one has become many, because I say 'many' it amounts to say that my experience is of many. And, is 'many' explainable without accepting Bheda? This is my query to know little more from you" I would simply like to remind that we Vallabha Vedantins neither deny Bheda

nor Abheda. What we are not ready to accept is that such Bheda or Abheda do not costitute a water-tight compartment, such as that one can not be converted into other. This conversion of Bheda into Abheda and vice versa is true for our sensul as well as conceptul experiences. And it is also true for our linguistic as well as other sorts of behaioural functions. The very fact that inspite of proclaiming अन्योन्याभाव among all the three categories viz. Matter Quality and Motion even Naiyayikas are compelled to admit atleast one unifying common attribute in all the three. As it is said "सामान्यं... द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतया उच्यते" (Ny.Mu.8). So inspite of being three different categories all of them are indiffierent also, if considered from the point of essential view of thier Being. I would not like to ramble here in dispute of whether अत्यन्ताभाव of a pot in cloth is identical or different from the अन्योन्याभाव of cloth and vice versa. Because if they are not identical then घटप्रतियोगिकपटानुयोगिकान्योन्याभाव may imply absence of only a particular pot but never an absence of totality of pot. And the identical nature of both sort absence is not the principle held by Naiyayikas !

Not-with-standing this type of little disagreement about the criticism forwarded by Dr. Sri V.N.Jha I can not hide my heartfelt gratitude for him. We are really highly obliged by him not only by his thought-provoking arguments and remarks on my paper in this seminar but also on account of his utmost friendly cooperation that he every time gives us to organise such seminars. And as he personly takes all the troubles to see that our seminars become successfull he invites the number of experts from the respective schools of thoughts too, on our behalf. He always participates also with all the friendly enthusiam in our seminars ! We are really thankful to him for

all these reasons !

As I have made it already clear that we wanted to have participation of scientists also in our seminar and Dr.Sri.V.N.Jha had been kind enough to invite Mr.T.H.Date on behalf of us. It was, indeed, a wonderful opportunity to have Mr. Date in midst of us. A scientist of Mr.T.H.Date's stature was a real privilege for our seminar.

I am certainly aware of my limited understanding of science and particuarly of the astrophysics. But what I could not understand in in the observation made Mr.Date is his remark : "So, GUT theory which you presented is dead and gone" . I am not sure whether it is totally rejected nowadays or some of the details of it have become questionable. But in any case neither I tried to take support of GUT theory justify our Vedanta nor I tried to criticise or qualify it to suit the theory of our Vedanta. In my paper I simply made an attempt to draw some parallelism between GUT theory and Aupanisadic unification theory of Brahmic field. Mr.Date says "the quotations you have made from science part, they are of 1975 period" . Yes he is right and he has to be right. But just three year back in 2001 Stephen Hawking has published a book 'The universe in a nutshell' and he writes in this book "We are now working to combine Einstein's general theory of relativity and Feynman's idea of multiple histories into a complete unified theory that will describe evrything that happens in the universe. This unified theory will enable us to calculate how the universe will develop if we know how the histories started" (The universe in nutshell pp.80). So after the theory that unified or synthesized the Electricity and magnetism i.e the unified theory of Electromagnetic field, scientist became aware of the radiation from the

glowing of the hot early universe; now so red-shifted that it appears not as light but as microwaves. Then scientists also felt the necessity of grand unification that could unify electromagnetic, strong and weak forces. This is what I have understood reading Stephen Hawking's writtings. And my point was that such efforts of synthesis were made even in those days by the Rushis. When Rushis proclaimed the grand unifying principle viz. Brahman in which all the different prior causal conditions or principles propossed during that age were synthesized. These principles were brouhgt forward by different Ruhis and are reported in the Upanishdic statement I have quoted in my paper.

So I am not sure of what is dead or gone out of this detail ? With very little knowledge of science what I think is that there are few more things which are needed to be incorporated in the Grand unifification theory such as it is said by Stephen Hawking "We are now working to combine Einstein's general theory of relativity and Feynman's idea of multiple histories into a complete unified theory".

In any case I must confess that I just love all the unification theoris which do not deny the diversity or relegate it to the level of false appearence or consider it as an obstacle to reach higher goals of mankind. I love all such unifying theories in field of religion theology metaphysics astrophysics sociology politics ethics and even aesthetics. This was the reason I brought forward the striking resemblance of GUT theory and the statement quoted from Shvetashvataropanishd. So even if the GUT theory died and gone I would sincerly perform Shraddha-tarpana of it than forfeiting it for

oblivion!

Mr.Date further observed "So here now mysticism mathematically explained as infinity = 0. So it makes no sense to people like us. Then way of unity is inward = outward way i.e. second equation given. Brahman = Atom. Everything = I am. These are the thing given under mysticism and rationality is kept blank. Because, there is no correspondence in rationalism. So it is very difficult to sandwich science and spirituality though our attempt is there". Well, I can only hope that more we organise the dialogue between science and philosophy the more both of the branches of knowledege would be able to understand each other's ideas and languages. The only thing that both the parties have to shed off is rlectancy for talking and making effort to understand the ideas of others.

द्वैतवेदान्ताद्यनेकशास्त्रपारंगतैः सुहृद्वर्यैः श्रीप्रह्लादाचारिमहोदयैः विचारगोष्ठ्यां केचन प्रश्नाः उद्भाविताः तत्र प्रसक्तानुप्रसक्त-प्रश्नोत्तर-परम्पराविवशेन मया समाधानेतिकर्तव्यता न सम्यक्तया निर्वोढेति इदानीं प्राप्तावसरोहम् इह तदर्थं प्रयते. तैस्तु आंग्लभाषायां पृष्टानां एतेषां विषयाणां भावानुवादपुरःसरं समाधानं कर्तुम् अहं प्रयते.

तथाहि तमसो यद् आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकमायिकेति यो विभागो मया प्रतिपादितः स किमु द्रव्यस्य पृथ्विजलतेजोवाय्वाकाशादिरिव एकस्यैव कस्यचन पदार्थस्य विभागो भवति न वा? नाद्यो युक्तो वाल्लभवेदान्ताभिमतपदार्थगणनायां तथा अनुपलम्भात्. सर्वविधतमसां कस्यचन एकस्य पदार्थस्य अवान्तरविभागरूपत्वे सर्वानुगतसामान्यलक्षणं किं भवेद् इत्यपि विचारणीयमेव. द्वितीयेतु एतादृशो विभागस्य का वा आवश्यकता? वेदगीताभागवतादिषु 'तमः'पदवाच्यानां नैकविधतत्त्वानां नहि एकः कश्चन तमस्त्वरूपो धर्मो वक्तुं युक्तो वा शास्त्रेषु क्वचन प्रतिपादितो

वापि उपलभ्यते. 'प्रकाश'पदेन यथा कुत्रचिद् भौतिकः प्रकाशो अपरत्र अभौतिकं ज्ञानमपि उच्यते. तद्वद् इहापि 'तमः'पदेन तत्तत्पदार्थानाम् अभिधाने नहि एतादृशः विभागस्य काचिद् आवश्यकता भवेद् इति. अतो वेदादिशास्त्रेषु प्रयुक्तस्य 'तमः'पदस्य अत्र विचारगोष्ठ्यां विचार्यविषयीभूतान्धकारवादोक्तस्य 'तमः'पदस्य च एकार्थविषयकत्वाभावात् तमसो अनेकविधत्वप्रतिपादनम् अप्रासंगिकमेव आभाति.

तत्र श्रीमद्वशिष्ठनारायणझामहोदयोक्तानां पर्यनुयोगानां परिहारप्रयासे मया उपरिष्टादपि किञ्चित्तु समाधानन्तु आवेदितमेव. तथापि इदम् इह विशेषतो अवधेयं भवति : नहि वाल्लभाः द्रव्यसंख्यैकान्तवादिनः सन्ति. यथोक्तं–

"प्रमेयं हरिरेव एकः सगुणो निर्गुणः च सः. गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयः च सः. बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेण कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः. अष्टाविंशति भेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतो भगवत्त्वं यतः तेषां तस्मात् तत्त्वानि तानि तु. अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वं नच अन्यथा... आनन्त्यमेव भेदानां तयोः कार्ये तथैव च. अतः तेषान्तु ये भेदाः नोक्ताः ते हि विशेषतः...अतएव भागवतादौ तेषां संख्या न उक्ताः... ननु क्वचित् षोडश पदार्थाः क्वचित् सप्त, तथा त्वयापि कार्येषु कथं न भेदाः कल्प्यन्ते? इति आह कार्यभेदविभेदान् हि कल्पयित्वा विभागशः वृथा शास्त्रप्रवृत्तिः हि यस्मात् कार्यमतिः वृथा... अतो अत्र हरिं पृथक्कृत्य तत्त्वान्येव कारणत्वेन कथितानि नतु एकीकृत्य शास्त्रान्तरवद् निरूपणम्."

(त.दी.नि.प्र.२।८४-९३)

इति श्रीमदाचार्यचरणैः. तस्मात् न द्रव्यसंख्यैकान्तवादे अस्माकं मतस्य भरः. ननु "प्रमेयं हरिरेवैकः" इत्युक्त्या एकत्वसंख्यैकान्तवादो अभ्युपगतएव इति चेत् न "एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" इति श्रुतेः एकस्यैव ब्रह्मणो अनन्तविधनामरूपकर्मात्मना प्राकट्यात् तेषाञ्च पुनः ब्रह्मात्मकत्वादेव

एकत्वानेकत्वयोः मिथो अविरोधात् च. तस्माद् द्रव्यविभागोपविभागचिन्ता शुद्धाद्वैतवादे नातीव प्रसक्ता भाति. यातु वेदगीताभागवतेषु अनेकार्थवाचकं हि 'तमः'पदं कथन्नु एकस्यैव तमसो अनेकविधत्वे प्रमाणं भवितुम् अर्हति इति चिन्ता, तत्र इदम् अवधेयं भवति : वाल्लभवेदान्ते तावत् सर्वेषामपि कार्यजातानां किञ्चिद् आधिदैविकं किञ्चिद् आध्यात्मिकं किञ्चिद् आधिभौतिकं च रूपं सिद्धान्ते अङ्गीकृतमेव क्वचित्तु एतेषां मायिकमपि तुरीयं रूपं भगवान् प्रकटीकरोति इति प्रक्रिया.

तदेतत् प्रतिपादितं महाप्रभुभिः श्रीवल्लभैः–

(१)"सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ् मताः आधिदैविकमध्यात्ममधिभूतमिति स्मृताः. सच्चिदानन्दरूपेण देहजीवेशरूपिणः... सद्=अधिभूतं चिद्=अध्यात्मम् आनन्दो=अधिदैवम् इति... अहंकारो रुद्ररूपम् अहंकारो अस्मदादिषु..."

(त.दी.नि.प्र.२।११९-१२३).

(२)"रूपनामविभेदेन यः क्रीडति, रूपनामविभेदेन यो जगत् (भूत्वा) क्रीडति, रूपनामविभेदेन यतो जगत् (क्रीडति) इति अनेन क्रीडायां स्वातन्त्र्यम् उक्तं निर्लेपत्वाय आह एतादृशं जगद् यतः इति"–"अविद्यायाः पञ्च पर्वाणि आह... अन्तःकरणाध्यासः प्राणाध्यासः इन्द्रियाध्यासो देहाध्यासः स्वरूपविस्मरणं च इति पञ्च पर्वाणि."

(त.दी.नि.प्र.१।१-१।३२).

इदम् इह उच्यते : रूपनामविभेदेन प्रकटिते अस्मिन् ब्रह्मकर्तृके ब्रह्मात्मके जगति यथा अहंकारस्य आनन्दात्मकं रुद्रादिरूपम् आधिदैविकम् एकं रूपम्. ततो अन्यद् द्वितीयम् अस्मदादिषु चिदचिद्ग्रन्थिरूपम् अन्तःकरणरूपम् आध्यात्मिकम्. ततोऽपि विलक्षणं तृतीयं भगवतः सदंशपरिणामरूपायाः प्रकृतेः

महान् महतः च एवंक्रमेण जातं प्राकृतमेव अहंकाररूपम् आधिभौतिकम्. सर्वेभ्योऽपि एतेभ्यः सद्रूपेभ्यः खलु विलक्षणम् अविद्यायाः पञ्चपर्वान्तर्भूतं जीवान्तःकरणप्राणेन्द्रियदेहसंघाते अन्योन्याध्यासवशेन औपाधिकभ्रान्तिरूपं तुरीयं चापि असद्रूपम् अहंकारं भवत्येव. एवमेव तमसोऽपि चातुर्विध्याङ्गीकारे न वाल्लभमते काचन विसंगतिः शक्यशंकेति अहं तमसोऽपि चातुर्विध्यम् औहे. अन्यथा भागवतस्य श्रुतिगीतासूत्रसन्देहवारकत्वांगीकारेण तदाधारेण तमसो माबिकत्वस्थापने तु श्रुत्यादिष्वपि निरूपितं तमो मायिकं स्यादिति महतो भयस्य निवारणावश्यकतां अहम् अत्र अनुभवामि. अन्धकारवादकर्तृभिः श्रीपुरुषोत्तमैस्तु **''यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषं तमो विहन्याद्...''** (भाग.पुरा.११। २८। ३४) इति भागवतंवचनानुरोधेन नृचक्षुष्येव मायिकीं तमस्स्थितिं स्वीकृत्य अन्यत्र तमोऽवस्थानं निराकृतम्. भागवतेतु **''यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो अर्कांशभूतस्य च चक्षुषः तमः''** (भाग.पुरा.१२।४।३२) इति वचने चक्षुषः तमसोऽपि न मायाप्रभवत्वं किमुत अर्कप्रभवत्वं, नच मायादर्शितत्वं प्रत्युत अर्कदर्शितत्वमेव उच्यते. नच एतावता अतमोरूपत्वं किन्तु तमोरूपत्वञ्चापि प्रतिपादितमेव. तदेतत् सकलं तमसः चातुर्विध्यांगीकारं विना गोमयपायसन्यायेन सर्वथा असमञ्जसमेव भवेदिति तन्मा भूदिति प्रयासो मम इति अलम् अतिपल्लवितेन. पुनश्च प्रस्तुतविषयविमर्शे स्ववैदुष्योपेतपर्यनुयोगेन विषयस्वारसिकबोधवैशद्याय विचारगोष्ठ्यां बहूपकुर्वतां तत्र भवतां श्रीप्रह्लादाचारिमहोदयानां प्रति बहुतरं स्वकार्तज्ञ्यं प्रकाशयन् इह विरमामि.

वल्लभमतसापेक्षं सौगतमते तमोविमर्शः

डॉ. पारसनाथ द्विवेदी

पुरुषोत्तमाचार्यविरचितायाम् 'अवतारवादावल्यां' नवमो अन्धकारवादः समुल्लसति. तत्र अन्धकारवादे भाट्ट-वैशेषिकाद्वैत-कन्दलीकारादीनां मतानि उपपाद्य निरस्य च वाल्लभमतेन अन्धकारस्वरूपं प्रतिपादितम्. तथाहि ''रूपादिमत्त्वात् पृथिव्यादिस्वनन्तर्भावात् पारिशेष्याद् नित्यं द्रव्यान्तरं तमः इति भाट्टाः. अनित्यम् एतत् तमः, स्वपरमाणुभिः आरब्धम् इति तदेकदेशिनः. नित्यं द्रव्यान्तरं तमः इति केचित्. ''द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तमः'' (वै. सू. ५।२।९) वैशेषिकसूत्रात् द्रव्यषट्कादि वैधर्म्यात् तेजोऽभावस्तमः इति वैशेषिका नैयायिकाश्च. तत्र 'निष्पत्ति'शब्देन सामान्यविशेषसमवाया गृह्यन्ते.

द्रव्यान्तरं भावरूपं तमः मूलकारणाद् मायावद् ब्रह्मणः सकाशात् विद्युदिव बलाहकाद् झटिति जातं तत्रैव लीयमानम् अनित्यम् इति तत्त्वप्रदीपिकाकाराः.

एवमादिमतानां युक्तिभिः निरासं कृत्वा वाल्लभसिद्धान्तेन तमः पदार्थान्तरम् इति उक्तम् अन्धकारवादे. तच्च किं स्वशास्त्रे वर्णितप्रमेयाद् बहिर्भूतं तदन्तर्भूतञ्च इति. प्रमेयाद् बर्हिभूते ब्रह्मैव प्रमेयम् इति प्रतिज्ञाहानिः. अथ अन्तर्भूतं तर्हि कस्मिन् इति विचारणीयं भवति.

अयं हि वाल्लभानाम् अभ्युपगमः. सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वात् ब्रह्मैव प्रमेयम्. **''यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्''** (महाना. उप.१।५). **''इदं सर्वं यदयमात्मा''** (बृहदा.४।५।७) इत्यादि श्रुतेः **''दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परं'', ''सत्यं ज्ञानमन्तं यत् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्, यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः''** (भा. १०-२८/१४-१५)

एवं ब्रह्मैव प्रमेयम् एकम्. तत्र प्रस्थानरत्नाकरे प्रमेयपरिच्छेदे अनित्यत्व-प्राकृतत्व-मायिकत्वहेतुकान् ब्रह्मजगद्भेदान् निरस्य आविर्भाव-तिरोभावशक्तिं च आश्रित्य तथैव सर्वम् उपपाद्य प्रमेयं ब्रह्मैव इति प्रतिपादितम्. तद् एकमपि प्रमेयं ब्रह्मज्ञानसौकर्यार्थं कारणकार्यस्वरूपभेदेन त्रिधा व्यवस्थापितम्. एवं प्रमेयस्य त्रिधाकोटिः. तत्र ब्रह्मणः प्रमेयस्य स्वरूपकोटौ ज्ञान-क्रिया-तदुभयवैशिष्ट्यभेदेन त्रैविध्यम् उक्तम्.

पूर्वकाण्डार्थरूपो यज्ञः क्रिया, उत्तरकाण्डार्थो ज्ञानम्, तदुभयविशिष्टं गीताश्रीभागवतादिषु उपासनं तृतीयम्.

तत्र स्वरूपकोटिगताक्षरं ब्रह्म. तस्यैव रूपान्तरं कालः कर्म-स्वभावश्च इति.

ब्रह्मणः प्रमेयस्य कारणकोटौ अष्टाविंशतिस्तत्त्वानाम् उक्ता गुणत्रयम्. प्रकृतिपुरुषादि-साङ्ख्योक्त-पञ्चविंशतिः तत्त्वानि भगवतः कारणता लोके अष्टाविंशतिधा प्रकटा भवन्ति.

अथ प्रमेयस्य कार्यकोटौ व्यष्टिसमष्टिभेदेन द्वैविध्यम् उक्तम्. जीवगणो जडगणश्च इति. कार्यम् अनन्तम् तथापि गणशो विचार्यमाणो द्विविधः. एवं रूपेण प्रमेयस्वरूपं विस्तरेण स्पष्टतया च प्रस्थानरत्नाकरे प्रतिपादितम्.

तत्र क्व अन्धकारस्य अन्तर्भावः, यदि न अन्तर्भावः तर्हि वर्णितप्रमेयस्वरूपाद् अन्यद् प्रमेयं मन्तव्यम्. वर्णितप्रमेयरूपब्रह्मणः पृथगेव अन्धकारो मन्तव्यः. अन्तर्भावे च पदार्थान्तरं तत्त्वान्तरम् इति च कथनं कथं सङ्गतं स्याद्? इति चेद्, उच्यते

न तद् द्रव्याद्यसौत्रत्वाद् नान्यो नामादिभेदतः।
मायेत्युक्तेः पुराणे स्याद् मायाकार्यान्तरं तमः।।

इत्यादि वाक्याद् मायाकार्यान्तरं तमः.

मायेति उक्तेः पुराणे इत्यनेन वाक्येन "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" इत्यादि भागवतवाक्यम् उपस्थाप्यते. तत्र मायापरिणामत्वं तमसः उक्तम् "तद्विद्याद् आदात्मनो माया यथाभासो यथा तमः". ननु तत्र श्लोके मायास्वरूपे उच्यमाने "यथाभासः यथा तमः" इति दृष्टान्तमुखेन तमसः उपस्थापनं नतु साक्षात् मायाकार्यत्वं तस्य प्रतिपादितम्, सादृश्यमात्रं तु प्रदिर्शितम्. तमोवद् माया आभासतुल्या माया इति चेत्, न, दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोः तुल्यत्वात् आभास-तमसोः प्रसिद्धत्वात् मायाकार्यत्वं निश्चीयते. यदि मायाकार्यत्वं तत्र न स्यात् तर्हि न दृष्टान्तत्वेन उपादीयेते. अर्थं विना प्रतीयमानायाः आत्मनि दृष्टे अप्रतीयमानायाः सदसदात्मिकायाः मायायाः प्रसिद्धत्वाद् तमोदृष्टान्तता न विरुध्यते.

तत्र मूलशक्तेः मायायाः कार्यभूतम् आवरणात्मकम् अर्थान्तरमेव तमः इति अत्र मूलशक्तिः जगद्धेतुः परमेश्वरः तस्य कार्यभूतं तमः इति तु न वक्तव्यम्. यतः अन्धकारवादएव स्वसिद्धान्तं प्रातिपादयता आचार्येण उक्तम्. न च तेजो अभावस्यैव व्यवधायकत्वं लाघवाद् अङ्गीकार्यम् इति वाच्यम् तथापि विषयसापेक्षत्वात् तदाकाङ्क्षाया भावाभावान्यतरस्य तत्त्वेन वक्तुम् अशक्यत्वात् तादृशभ्रमविषयत्वेन विषयताख्यपदार्थान्तररूपस्य तमसः सिद्धेः अप्रत्यूहत्वात् इति परमेश्वरस्य मूलशक्तेः कार्यत्वे विषयरूपत्वमेव तमसः स्यात् न तु विषयता रूपत्वम्. विषयता तु व्यामोहिकया मायया सृज्यते. उक्तञ्च प्रमेयरत्नार्णवे बालकृष्णेन "व्यामोहिका माया जीवं व्यामोह्य तदीयबुद्धौ प्रापञ्चिकसद्वस्तुसदृशं मायिकं पदार्थम् उत्पाद्य पुरःस्थितविषये प्रक्षिपति. तदा पदार्थग्रहणे तस्यापि ग्रहणात् तद्विशिष्टं ज्ञानं भ्रमात्मकं भवति".

एवञ्च पदार्थान्तरं विषयता रूपमेव नतु विषयिरूपं तस्य भगवद्रूपत्वात्.

विषयता च विषयासम्बद्धो विषयनिष्ठो मायिको धर्मः. **"विषयता जनितं ज्ञानं भ्रान्तं विषयजनितञ्च प्रमा इति"** (सुबोधिनी भाग. "ऋतेऽर्थम्" इत्यत्र (२।९।३३).

''**सा च विषयता द्विधा आच्छादिका एका अन्यथाप्रतीतिहेतुश्च अपरा**'' (सुबोधिनी). एवञ्च अन्धकारः विषयतारूपं मायाजन्यम् आच्छादकं अन्यथाकरञ्च इति नतु विषयरूपः इति वाल्लभाः वदन्ति. उपपादितञ्चैतत् प्रस्थानरतकाकरेऽपि

अन्धकारस्थघटादिषु तु नृचक्षुः प्रति मायया तमोजननात् तदेव विषयीक्रियते, नतु विषयः तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वरद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादिविशिष्टस्य विषयतयैव निर्वाहाद, ''**यथाहि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद् न तु तद् विधत्ते**'' (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षुः-सम्बन्धि-तमोनिवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसंयोगस्य विषयादिसंस्कारकतायाः विरुद्धत्वात्, एवञ्च उलूकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति, तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोऽभावः, ''**अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्**'' (अम.को.१।८।३) इत्यादि-भेदपाठात्, ''**हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्यातिः प्रलीयते, स्वतेजसापिबत् तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः**'' (भाग.पुरा.११।३।१४) इति वध्यघातकविरोधकथनात् च.

अत्र सौगतमतम् उपस्थाप्यते. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावल्यां क्षणभङ्गाध्याये अहेतुकविनाशाधिकारे तमसः तेजोभावरूपतां निरस्य तमसो वस्तुत्वं स्वीकृतम्.

ननु निमीलिताक्षस्यापि तादृङ्प्रतिभासः सम्भवति. न च तत्र नीलो अर्थः कश्चिद् उपस्थाप्यतएव उन्मीलिताक्षस्यापि प्रतीयमानो अन्धकारः न कश्चित् भावः पदार्थः, अपितु उभयत्र तेजोऽभावएव इति चेत्, न, कृष्णवर्णान्तरस्य स वर्णस्यापि अभावप्रसङ्गात्. सर्वे कृष्णवर्णाः तेजोऽभावरूपाः कृष्णवर्णत्वादेव अन्धकारवद् इति अनुमानात्. न च कृष्णवर्णान्तरम् अन्यादृशं निमीलिताक्षस्य च अन्धकारगतकृष्णवर्णो अन्यादृश इति भवति उभयोः भेदहेतुः. तमसि च उन्मीलितनेत्रयोः अविशेष इति वाच्यम्. तत्रापि उभयोः विशेषात्. उन्मीलिताक्षस्य अन्धकारः विरलरूपः घनः घनतरश्च प्रतीयते

निमिलिताक्षस्य पुनः एकरूपएव इति. कृष्णतामात्रन्तु उभयत्र समानम्. तस्मात् कृष्णवर्णान्तरस्य तेजोभावरूपतापत्तिः सर्वे कृष्णवर्णाः तेजोऽभावरूपतमोरूपाः कृष्णवर्णत्वादेव अन्धकारवद् इति अनुमानम् अवस्थितम्. ननु अत्र स्पर्शरहितत्वम् उपाधिः. तथाहि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधित्वम्. दृष्टान्ते अन्धकारे स्पर्शरहितत्वम् अस्ति. पक्षे च कृष्णवर्णान्तरे स्पर्शरहितत्वं नास्ति इति साध्यव्यापकत्वं साधनाव्यापकत्वम् आगतम्. एवञ्च उपाध्यभावात् साध्याभावः साध्यते.

सर्वे कृष्णवर्णाः न तेजोऽभावरूपाः स्पर्शरहितत्वात् घटादिवत् इति चेत्, न, स्पर्शरहितत्वस्य उपाधेः साधनाव्यापकत्वाभावात्. उपाधिः हि साधनस्य अव्यापको अभ्युपेयते. इन्द्रनीलमणिकिरणजालके कृष्णवर्णे पक्षकोटौ कक्षीकृते स्पर्शरहितत्वरूपोपाधेः सद्भावाद् कृष्णवर्णत्वरूपहेतोश्च सद्भावाद्.

नच इन्द्रनीलमणिप्रभादौ अनुपलक्ष्यः स्पर्शः इति वाच्यम्. तर्हि प्रकृतेऽपि तमसि अनुपलक्ष्यस्य स्पर्शस्य सद्भावात्, तस्माद् रूपमात्रम् उभयम् अस्तु वस्तु. नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम. यदि च रूपमात्रस्य आश्रयो अवश्यं मृग्यः तर्हि नीलमणिगतकृष्णरूपस्य मणिरेव आश्रयः अन्धकाररूपकृष्णवर्णस्य कुड्यादिरेव आश्रयः इति.

एवञ्च कृष्णरूपमेव तमः प्रत्यक्षं न तेजोऽभावमात्रम्. यत् पुनः उक्तं न्यायभूषणे कृष्णरूपस्य आलोकेन विना ग्रहीतुम् अशक्यत्वाद् न तमः कृष्णरूपम् इति तत् न कृष्णरूपस्य यदि प्रकाशापेक्षा चेत् प्रदीपचन्द्रातपा-दीनामपि शुक्लरूपाणां प्रकाशात्मनां प्रकाशान्तरापेक्षा स्यात् न च तथा दृश्यते. अतः विचित्राः भावप्रकृतयः प्रमाणसमधिगता न पर्यनुयोगम् अर्हन्ति. अन्यत्र कृष्णरूपं प्रकाशम् अपेक्षते तमस्तु कृष्णरूपं न अपेक्षते भाववैचित्र्याद्. यथा प्रकाशं न प्रकाशान्तरम् अपेक्षते भावविचित्रशक्तित्वादेव.

यत् पुनः उक्तम् न्यायभूषणे ५४३ पृष्ठे, आलोकवद् तदभावस्यापि ग्रहणे चक्षुरालोकान्तरनिरपेक्षम् इति. तदपि न किञ्चित्. निश्चायकं हि

चक्षुर्विज्ञानम् अभावस्य न ग्राहकम् अवस्तुत्वात् आलोकान्तरानपेक्षम् इति तु सिद्धमेव. यदपि उक्तं न्यायभूषणे ५४३ पृष्ठे, यो हि भावः यावत्या सामाग्र्या गृह्यते तदभावोऽपि तावत्यैव आलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणं तमः तदभावएव इति तदपि न तमोग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणस्य आलोकस्यैव तमोऽभावता प्रसङ्गेन अनैकान्तिकत्वाद्. घटपटयोर्वा समानग्रहणसामग्रीकतयापरस्पराभावत्वप्रसङ्गात्.

तस्मात् पदार्थान्तरे रूपविवेकेन प्रतिभासमानम् अध्यक्षे अन्धकारम् आलोकविरोधवस्त्वेव. विरोधे हि कदाचित् आलोकमपि अन्धकारः परिभवेद् इति न चोद्यं वैचित्र्यादेव भावानाम् इति.

एवं ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलीतमोग्रन्थो व्याख्यातः. चतुर्षु बौद्धेषु वैभाषिका बाह्यमपि तमःसद्भावम् अङ्गीकुर्वन्ति. सौत्रान्तिक मतेतु बाह्यार्थस्य अनुमेयत्वात् अनुमेयमेव तमः विज्ञानवादिनां पुनः बाह्यार्थस्य असद्भावाद् विज्ञानमयं तमः, शून्यवादिनाञ्च सर्वस्य शून्यत्वात् सांवृतिकं गन्धर्वनगरादिवद् अन्धकारः इति. सर्वेषां मते तमोऽपि क्षणिकं प्रतिक्षणम् उत्पादविनाशशालि स्वलक्षणं शून्यं दुःखम् इति तेषाम् अभ्युपगमः.

वाल्लभसौगतमतसमीक्षा

अत्र उभयोः मतयोः समीक्षा प्रस्तूयते : तत्र तेजोऽभावः तमः इति उभयमतविरुद्धम्. द्रव्यान्तरम् आलोकविरोधि तमः इति भट्टाद्वैतिमतमपि उभये न अङ्गीकुर्वन्ति. विषयताख्यं भावाभावात्मकं सद्सदात्मकं मायिकं तमः पदार्थान्तरं न द्रव्यान्तरम् इति वाल्लभाः. न च वल्लभमते नीलरूपाश्रयत्वात् द्रव्यत्वं सिध्यति इति वाच्यं, प्रतियोगिप्रतिबद्धप्रतीकतयापि क्रियावत्त्व-प्रतीतिनिर्वाहात्. रूपाश्रयत्वादपि न द्रव्यत्वनिर्वाहः, कृष्णरूपातिरिक्तस्य अन्यस्य गुणस्य अस्वीकाराद् आद्यक्षणे च गुणानाम् अभावात् द्रव्यत्वस्य दूरस्य निरस्तत्वात्. तस्मात् तमो न द्रव्यम्. बौद्धमतेऽपि च न रूपाश्रयो द्रव्यं तमः अपितु कृष्णरूपमात्रम्. 'रूप'शब्देन रूप्यते यत् तद् रूपम् इति व्युत्पत्त्या द्रव्यं तमः इति पक्षे सौगतानां न अत्यन्तासम्मतिः. तेजोऽभावः तम इति पक्षखण्डनएव ते प्रवृत्ता वस्त्वन्तरं तमः इति तेषां मतम्. मायिकं प्रत्यक्षं भ्रान्तं

तमः इति वाल्लभाः. अभ्रान्तं तमः प्रत्यक्षगोचरं सांवृतिकं तमः इति बौद्धाः. मायासंवृत्त्योः को भेदः? यद्यपि आवरणविक्षेपसामर्थ्यम् अपेक्ष्य भेदो न कर्तुं शक्यते, तथापि महान् भेदः, संवरणात् संवृत्तिः शून्यं संवृत्य प्रपञ्चम् अशून्यं विक्षिपति निरधिष्ठाना. माया पुनः भगवदधीना तदधिष्ठाना आच्छादिका अन्यथाकरी च इति भेदः. क्षणिकं स्वलक्षणं शून्यं सांवृतिकम् अबाह्यं विज्ञानरूपम् असद्रूपम् इत्येतत् सर्वं वाल्लभमते तमसि अनुपपन्म् असम्मतमेव, प्रमाणाभावात्.

भावरूपं तमः इति बौद्धाः वाल्लभमते न भावाभावान्यतरत्वमेव अङ्गीक्रियते सदसदात्मकत्वात्.

मिथ्यैव तमः मायिकत्वाद् इति वाल्लभाः, मिथ्यात्वेऽपि न अनिर्वचनीयं तमः. अनिर्वचनीयं सदसद्विलक्षणं एतच्च सदसदात्मकम् इति. बौद्धमते च क्षणिकमपि विज्ञानं सद् इति तदभिन्नं विश्वमपि सदेव. शून्यवादिमते सांवृतिकं सत्त्वादिचतुष्कोटिनिर्मुक्तम् अनिर्वचनीयमेव इति बहुतरं सद् इति तदभिन्नं विश्वमपि सदेव. शून्यवादिमते सांवृतिकं सत्त्वादिचतुष्कोटि निर्मुक्तम् अनिर्वचनीयमेव इति बहुतरं वैषम्यं मम प्रतिभाति.

वाल्लभमते सौगताक्षेपः

वाल्लभाः **''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत''** (भा.२-९३३) इत्यादि भागवतवचनप्रामाण्यात् मायापरिणामं आवरणात्मकम् अर्थान्तरमेव तमः न तु अभावरूपम्. तमः पदार्थान्तरं तच्च विषयतारूपम् विषयता व्यामोहिकया मायया सृज्यते. विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तं विषयजनितं च प्रमा इति स्वीकुर्वन्ति.

अत्र सौगताः ''इदं तमः'', ''तमसावृत्तम् इदं निबिडं तमः'' ''नीलं तम'' इत्यादि व्यवहारदर्शनात् पूर्वोक्त्या च तमसो अभावातिरिक्तवसत्वन्तरत्वसिद्धावपि तस्य मायाजन्यविषयतारूपत्वं दुर्निरूप्यम्. मायायां प्रमाणाभावात्. ईश्वरशक्तिः जगदुत्पत्यादिहेतुभूता तदधीना माया

श्रुतिस्मृत्यादिसिद्धा इति चेत्, न, ईश्वरे प्रमाणाभावात् तच्छक्तेरपि अप्रामाणिकत्वात्. न च "ऋते अर्थम्" इत्यादि शास्त्रवचनं प्रमाणम् इति वाच्यम्, शब्दप्रमाण्यानभ्युपगमात्. अनधिगतार्थाधिगमकं प्रमाणं, शब्दस्य च अधिगतार्थगमकत्वात् न प्रामाण्यम्.

किञ्च वाल्लभमते माया सर्वभवनरूपा ईश्वरशक्तिः व्यामोहिका च इति. ईश्वरशक्त्या आविर्भूते प्रपञ्चे सत्ये पुनः व्यामोहिकामाया किम् इति तत्सदृशान् पदार्थान् सृष्ट्वा तत्र प्रक्षिपति? भवतु वा किञ्चित् प्रयोजनं प्रक्षेपे भवतां वाल्लभानां किन्तु तमः सृष्टौ तु विपरीतं प्रतिभाति.

तमः सृष्ट्वा व्यामोहिका माया कुत्र प्रक्षिपति सदृशे विसदृशे वा. न तु सदृशे कृष्णवर्णे अन्यत्रतमोऽभावप्रसङ्गात्. न च सम्भवति व्यामोहिका माया रजतं सृष्ट्वा शुक्तौ सदृशायां प्रक्षिपन्ती घटादावपि विसदृशे क्षिपेत्, सर्वत्र प्रक्षेपे अतिप्रसङ्गात्. तस्मात् न शुक्तिरजतादिवत् तमो व्यामोहिकामायाकार्यम्.

यच्चोक्तं मनुष्यादीन् प्रति तेजोऽभावे तमः सृजति इति तदपि न तेजोऽभावतमसो सादृश्याभावात्. विसदृशे विपर्यासाङ्गीकारे च अतिप्रसक्तेः.

न च तेजोऽभावः तमःसदृश इति वाच्यम्. भावरूपत्वाङ्गीकारस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्. तेजोऽभावेनैव तमोव्यवहारोपपत्तेः भावभावयोः सादृश्याभावाच्च. कथंचित् सादृश्यस्य अप्रयोजकत्वात्.

किञ्च तमोज्ञानं शुक्तिरजतादिज्ञानवद् भ्रान्तं, तमोऽपि भ्रान्तं मायाजन्यत्वादेव. तमः भ्रान्तं व्यामोहिकामायाजन्यविषयतारूपत्वात् शुक्तिरजतादिवत् इति अनुमानात्. "अन्धकारस्थघटादिषु तु नृचक्षुः प्रति मायया तमोजननात्. तदेवविषयी क्रियते न तु विषयः तदावृतत्वात्" इति पुरुषोत्तमाचार्यवचनात्. "ऋतेऽर्थम्" इत्यादिशास्त्रवचनादेश्च इति.

तदपि न, तमसो मायाजन्यत्वेन भ्रान्तरूपत्वे तेजसा निवृत्यनुपपत्तेः

अधिष्ठानसाक्षात्कारादेव तन्निवृत्तेः दर्शनात्. न च शुक्तिरजतादेरपि प्रकाशसंयोगात्. निवृत्तिः दृश्यते इति वाच्यम्. तत्र प्रकाशेन अधिष्ठानभूत-शुक्तिसाक्षात्कारादेव निवृत्यङ्गीकारात्. न च अत्रापि तमोविरोधितेजःसंयोगात् घटाद्यधिष्ठानदर्शनात् तमोनिवृत्तिः इति वाच्यम्. मन्दालोके निपुणतरनिरीक्षणात् घटाद्यधिष्ठानज्ञानात् तमोनिवृत्तिप्रसङ्गात्. कतिपयाधिष्ठानदर्शनात् सर्वत्र तमोनिवृत्तिप्रसङ्गाच्च. नहि सर्वं स्वेतरत् क्षपयत् तमः कतिपयघटादि-साक्षात्काराद् निवर्तते. न च तमसो भ्रान्तस्य घटाद्यधिष्ठानं सम्भवति. तज्ज्ञानं विनापि तेजसा निवृत्तिदर्शनात्. किञ्च भ्रान्तस्य तमसः मायाजन्यस्य किञ्चित् अधिष्ठानं वक्तव्यम्, निरधिष्ठानभ्रमानङ्गीकारात् भवन्मते. तच्च न पदार्थमात्रं, रजतादिभ्रमस्य अतिप्रसक्तेः तेजोऽभावो अधिष्ठानम् इति चेत् न, अभावस्य अधिष्ठानानुपपत्तेः शून्यवादप्रसङ्गाच्च. तेजःसत्वे अन्धकारस्य अनिवृत्ति-प्रसङ्गाच्च.

किञ्च भ्रमे दोषस्यापि सहकारित्वं वक्तव्यम् अन्यथा अदुष्टकरणस्यापि शुक्यादौ रजतभ्रमापत्तिः स्यात्. तथा च अत्र तमोभ्रमे को दोषः. दुष्टादुष्टकरणस्य सर्वस्यापि पुरुषस्य तमोऽनुभवो जायतएव.

एवञ्च तमो मायाजन्यं विषयताख्यं भ्रमः अन्यख्यातिरूपः इति स्वीकारो न युक्ति सहः.

न च उक्तशास्त्रविरोधः—तस्य दृष्टान्ततामात्रप्रदर्शकत्वात्. "**यथाभासो यथातम**" इति दृष्टान्तद्वयस्य द्विविधमायाप्रदर्शनार्थत्वाच्च. तथाहि 'यथाभासः' इति व्यामोहिकायाः 'यथातमः' इति मूलशक्तेः इति. ननु एवं मूलशक्तिरूपमायाकार्यत्वे तमसो विषयरूपत्वं स्यात् न विषयतारूपत्वम् इति चेत्, न, विषयरूपत्वेऽपि तमसः भावरूपपदार्थान्तरत्वसिद्धेः. न च आच्छादकत्वम् अन्यथाकरत्वञ्च तमसः तथा सति न स्याद् इति वाच्यम्. विषयरूपस्यापि पटादेश्च आच्छादकत्वस्य अन्यथाकरत्वस्य दर्शनात्. आविर्भावतिरोभावाख्यभगवच्छक्त्यैव झटिति तमसः आविर्भावतिरोभावोपपत्तेः भ्रान्तत्वकल्पनं व्यर्थम्.

ननु, युष्माभिरपि शुक्तिरजतादिवत् तमसो भ्रान्तत्वम् अङ्गीक्रियत इति चेत्, न, अस्माभिः तथास्वीकारात्. यथायोग्यबाह्यार्थप्रत्यक्षानुमेयत्ववादिभिः वैभाषिकैः बाह्यार्थानुमेयत्ववादिभिः सौत्रान्तिकैः विज्ञानमात्रसत्ववादिभिः विज्ञानवादिभिः सर्वशून्यत्ववादिभिः माध्यमिकैश्च तमो न भ्रान्तम् अपितु घटादिवद् प्रत्यक्षं बाह्यं, अनुमेयं, विज्ञानमात्रं सांवृतिकम् इति अङ्गीकारात्.

शुक्तिरजतमपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमते विज्ञानरूपं सत्यं शून्यवादिमते च सांवृत्तिकं सत्यम्.

तथा च वैभाषिकादिमते अन्यधर्मस्यान्यत्रावभासोऽध्यास इति लक्षणस्य समन्वयः—अन्यधर्मस्य ज्ञानधर्मस्य=ज्ञानाकारस्य अन्यत्र बाह्ये शुक्तिकादौ अवभासः इदं रजतमित्यादिरूपोऽध्यासः. तत्र वैभाषिक-सौत्रान्तिकनये प्रत्यक्षमनुमेयं चास्ति बाह्यं शुक्तिकादि, तत्र विज्ञानाकारस्य आरोपः. विज्ञानवादिमते यद्यपि बाह्यं किञ्चिद् नास्ति परमार्थतः, तथापि अनाद्यविद्यावासनाकल्पितमलीकं शुक्त्यादि बाह्यं, तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः.

वस्तु सदेवाधिष्ठानमिति नियमाभावात्. आरोपितेऽपि रजते उत्कृष्टत्वानुत्कृष्टत्वारोपदर्शनात्. नहि वस्तु सत्तामात्रेणाधिष्ठानं किञ्चित् दृष्टमपि तु सामान्येन ज्ञानविषयतापन्नमेव. तच्च ज्ञानं भ्रमो वा स्यात् प्रमा वेति. तथा च मतत्रयेऽपि आत्मनो ज्ञानरूपस्य आकारएव शुक्तिरजतादिकम्. शून्यवादिनये च निरधिष्ठाने संवृत्या रजतादिकं कल्प्यते.

ननु सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य विज्ञानवादिनये विज्ञानाकारत्वात् शून्यवादिनये च सांवृतिकत्वात् घटपटादेः शुक्तिरजतादेश्च को भेदः स्यात्? इति चेत् न, शुक्तिरजतादेः तथात्वेऽपि तत्वज्ञानेतरज्ञानबाध्यत्वात् अर्थक्रिया-कारित्वाक्षमत्वाच्च घटपटादेः भेदव्यवहारात्.

न च विज्ञानाकारत्वसामान्येऽपि कुतः एकत्र घटादौ अर्थक्रियाक्षमत्वं शुक्तिरजतादौ न इति वाच्यं, पदार्थानां स्वभाववैचित्र्यात्. स्वभावो वासना.

वासनावैचित्र्यादेव पदार्थभेदः. अन्यथा जलेन पिपासोपशमो न तेजसा सति प्रश्ने स्वभावातिरिक्तं किम् उत्तरं स्यात्.

अथवा सत्ता त्रैविध्यं मतत्रये परिकल्पित–परतन्त्रक–परिनिष्पन्नभेदेन शुक्तिरजतादौ परिकल्पिता, न अर्थक्रियाकारिणी, सा ज्ञानान्तरेण बाध्यते. घटपटादौ परतन्त्रका सत्ता हेतुप्रत्ययजनिता, अतएव परतन्त्रा अर्थक्रियाक्षमा यावत् संसारम् अबाधमाना क्षणिका सन्तानप्रवाहरूपा. परिनिष्पन्ना सत्ता तथता(?)=परमशून्यरूपा नित्यनिष्पन्नेति. न तत्र ग्राह्यग्राहकादिभावकल्पना.

शून्यवादिनयेऽपि सांवृत्तिकं सत्वं परमार्थसत्वम् इति सत्वद्वयम्. तत्र शुक्तिरजतादौ घटादौ च यद्यपि समानमेव सत्वं तथापि लौकिक-व्यावहारार्थक्रियाक्षमत्वाक्षमत्वप्रयुक्तौ भेदः सांवृत्तिकएव कल्प्य इति.

ननु एवं वर्णनस्य को अभिप्रायः. किं शुक्तिरजतादि न भ्रान्तम्? न भ्रान्तं, शुक्तिरजतादौ यद् बाह्यत्वं तदेव दोषवशाद् भ्रान्तं, तदेव बाध्यताम्, न रजतादि, तत्तु विज्ञानाकाररूपं तदवस्थमेव सदेव. विज्ञानाकारो घटादि विज्ञानाभिन्नत्वात् विज्ञानमेव. साकारस्यैव विज्ञानस्य अभ्युपगमात्. एवं रजतं विज्ञानाभिन्नं सदेव. एवं विज्ञानवादिनये सर्वप्रपञ्चेऽपि बाह्यत्वं कल्पितम् अवगन्तव्यम्. घटादिप्रपञ्चस्य विज्ञानाकारत्वात्.

माध्यमिकनये च रजतादौ बाह्यत्वं=इदन्त्वं बाधितं चेत्, तद्विशिष्टं रजताद्यपि बाध्यम्. तदेव युक्तम्. न हि खपुष्पमालायां बाधितायां तद्मालाधारी पुरुषः सत्यो भवति. अतः सर्वस्यापि बाधे शून्यतामात्रम् अवशिष्यते. अन्धकारे च यद्यपि विज्ञानरूपता अस्ति सांवृत्तिकता वा अस्ति तथापि तस्या अर्थक्रियाक्षमत्वात् घटादेरिव परतन्त्रसत्तैव अङ्गीकार्या न परिकल्पिता सत्ता.

वाल्लभमतेऽपि अन्धकारस्य शुक्तिरजतादेः विषयतारूपात् स्वभावभेदेन प्रतीयमानस्य मूलशक्तिजन्यत्वमेव अङ्गीकार्यं, विषयरूपत्वमेव न विषयतारूपत्वम्.

न च अत्र अन्धकारे अन्यख्यातिः कथमपि संघटते.

ननु वाल्लभमते विषयतारूपस्यापि मायाजन्यस्य न नियमतो अर्थक्रियाऽक्षमत्वं, क्वचित् स्थले मायिकत्वाविशेषेऽपि मायाशक्तिवैचित्र्यादेव अर्थक्रियाकारित्वोपगमात्. तेजोऽभावे अधिष्ठाने मायाकल्पितस्य नीलरूपतमसो धर्मिणः अर्थक्रियाक्षमत्वं सम्भवत्येव इति चेत् न शुक्तिरजतादावपि तथा प्रसङ्गात्. वैषम्ये बीजाभावात्. न च यत्र धर्ममात्रारोपः तत्र अर्थक्रियाऽक्षमत्वं यत्र च धर्मिणः आरोपः तत्र अर्थक्रियाक्षमत्वम् इति व्यवस्थया वैषम्यम् इति वाच्यम्, तादृशव्यवस्थायां प्रमाणाभावात्.

किञ्च, भ्रान्तविषयस्य विज्ञानरूपात्मव्यतिरिक्तत्वे अपरोक्षावभासाभावप्रसङ्गः. स्वयं प्रकाशविज्ञानातिरिक्तस्य विषयप्रकाशस्य अभावात्. न च ज्ञानविषययोः भेदे विषयप्रकाशः सम्भवति. विज्ञानं हि सम्बद्धं प्रकाशयेत् न असम्बद्धम्, अतिप्रसङ्गात्. न च विज्ञानेन विषयस्य संयोगसमवायादिसंसर्गः सम्भवति. न च विषयविषयिभावः सम्बन्धः, तस्य दुर्निरूपत्वात्. सम्बन्धे सति ज्ञाने विषयिता अर्थे च विषयतासम्भवेत् सम्बन्धश्च सएव. तथाच आत्माश्रयता स्यात्. तस्मात् तमो विज्ञानाभिन्नं अपरोक्षतयावभासमानत्वात् संविद्वत् इत्यनुमानात् तमसो विज्ञानरूपत्वं सिध्यति. विज्ञानं बुद्धिः आत्मा इति अनर्थान्तरम्. किञ्च भवद्भिरपि वाल्लभैः भ्रान्तं वस्तु न चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरम् अपितु मायामोहितं तमोगुणयुक्तबुद्धिवृत्तिरूपं बुद्ध्यैव ग्राह्यं विषयताख्यं विषयासम्बन्धम् अङ्गीक्रियते. यथा उक्तं सुबोधिन्यां **"रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते च. तत्र सा बुद्धिरेव कारणम्. इन्द्रियार्थयोर्मध्ये यद् भाति तद् मृषा"** इति. एवञ्च बौद्धमेव शुक्त्यादौ अधिष्ठाने रजतं बुद्ध्यैव विषयीक्रियते इति. तथा च अवश्यमेव बुद्धिरजतयोः अभेदो अङ्गीकार्यः अन्यथा बुद्ध्यैव बुद्धिजनितं रजतादि गृह्यते इति कथं स्यात्. एवञ्च बुद्धिर्ज्ञानमेव ज्ञानमयं रजतं ज्ञानेन गृह्यते इत्यादि सर्वं विज्ञानवादिमतप्रवेशे पर्याप्तं स्यात्. एवं तमस्यपि बोध्यम् तेजोऽभावे तमः नीलरूपं मायामोहित-तमोगुणबहुलबुद्धिसृष्टिः सा च बौद्धी, विषये तेजोऽभावे विषयताख्या तमोबुद्ध्यैव गृह्यते. तत्र बाह्यत्वं भवन्मतेऽपि प्रातीतिकमेवेति सौगतसमयप्रवेशो अनिवार्यः.

ननु तमसः रजतादेश्च बुद्धिवृत्तित्वेऽपि बुद्धिग्राह्यत्वेऽपि न ज्ञानरूपत्वं नव आत्मरूपत्वम्. न च ज्ञानग्राह्यत्वम् अस्मन्मते बुद्धिज्ञानयोः भेदात्. ज्ञानं नाम चैतन्यं प्रकाशकम्. बुद्धिश्च तत्साधनम्. एवं हि वाल्लभाभ्युपगमः, वस्तुनः सामान्यज्ञानं विषयेन्द्रियसन्निकर्षाद् अनन्तरं मानसं, तदनन्तरञ्च विशेषज्ञानं बुद्धिकृतम्. यदाहुः **"संशयोऽथविपर्यासः निश्चयः स्मृतिरेव च"** इति. **"चक्षुषालोच्य वस्तूनि, विकल्प्य मनसा तथा, अहमत्याप्यहंकारात् बुद्ध्यैव ह्यध्यवस्यति"** (लक्ष्मी त.१३।३४) **"स्वाप इत्युच्येत बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्"** (भाग.पु.३।२६।३०) तत्र सत्वादिगुणयोगात् निश्चयादि-विशेषविज्ञानजनिका बुद्धिः इति. पदार्थस्फुरणरूपं विज्ञानं, जनिका च बुद्धिरिति. अहं प्रत्ययविषय आत्मा इति. तस्मात् न 'भ्रान्तं वस्तुज्ञानं वा आत्मरूपविज्ञानमयम्. अतो न आत्मख्यातिः न च बौद्धमतप्रवेश इति चेत्, न, बुद्धिज्ञानयोः भेदस्य दुर्निरूप्यत्वात्. साकारं प्रवृत्तिविज्ञानमेव बुद्धिरिति. आलयविज्ञानमेव विषयवासनावदिग्धं प्रवृत्तिविज्ञानं संसारापादकं बुद्धिः इति उच्यते. किञ्च विज्ञानातिरिक्ता बुद्धिश्चेत् तया जड़या बौद्धस्य रजतादेः ग्रहणानुपपत्तिः स्यात्. न च सा स्वयं प्रकाशा येन ग्राह्यग्राहकभावः विज्ञाने इव तस्यां स्यात् इति. वैशेषिकादिभिरपि बुद्धिर्ज्ञानम् इति अङ्गीकाराच्च.

किञ्च तेजोऽभावे मायामोहितबुद्ध्या धर्मः नीलगुणः सृज्यते किं वा नीलगुणवत्तमोधर्मी इति. उभयथापि न उपपद्यते, अभावे नीलगुणः सृज्यते इति पक्षे शून्यवादप्रसङ्गात्. धर्मिणं विहाय धर्मस्य सृष्ट्यनुपपत्तेः. द्वितीये "पीतः शंखः" इत्यादौ पीतशंखसृष्टिप्रसङ्गात्. माया क्वचित् धर्मं क्वचित् धर्मिणं सृजति इति अभ्युपगमोऽपि नियामकाभावात् न आदर्तव्यः इति.

एवञ्च कथमपि तमसो मायिकत्वं न उपपद्यते. उपपद्यते च विज्ञानात्माभिन्नं घटपटादिविषयवत्. विज्ञानाभिन्नत्वादेव अपरोक्षं सत् तमः. तज्ज्ञानञ्च प्रवृत्तिविज्ञानरूपं मुख्यालयविज्ञानाभिन्नमेव इति दिक्.

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्याम मनोहर

उक्तमेव असकृद् मया यद् अनेकतन्त्रपारंगताः श्रीमत्पारसनाथमहोदयाः स्ववैदुष्यमहिम्ना हि यां-कामपि विद्वत्संगोष्ठीं विचारगाम्भीर्यप्रचुरां घटयन्तीति सौगतमतेन वाल्लभवेदान्तसिद्धान्तविमर्शाय समाहूताः तत्र प्राप्तं कर्तव्यं निर्वोढुं तावद् एवं प्रत्यपिपदन् :

''[1]*तमसो अभावातिरिक्तवस्त्वन्तरत्वसिद्धावपि तस्य मायाजन्य-विषयतारूपत्वं दुर्निरूप्यं, मायायां प्रमाणाभावात्.* [2]*ईश्वरशक्तिः जगदुत्पत्त्यादिहेतुभूता तदधीना च माया श्रुतिस्मृत्यादिप्रसिद्धा इति चेद् न, ईश्वरे प्रमाणाभावात्, तच्छक्तेरपि अप्रामाणिकत्वात्.* [3]*नच 'ऋते अर्थम्...' इत्यादिशास्त्रवचनं प्रमाणम् इति वाच्यं शब्दप्रामाण्या-नभ्युपगमाद्.* [4]*अनधिगतार्थाधिगमकं प्रमाणं शब्दस्यच अधिगतार्थ-गमकत्वाद् न प्रामाण्यम्''.*

(१)

तदत्र वाल्लभवेदान्तदृष्ट्या किमपि विचारयितुं समीहे. तथाहि :

इह [1]वचने *''तमसो... मायाजन्यविषतारूपत्वं दुर्निरूप्यं, मायायां प्रमाणाभावाद्''* इति यद् उक्तं तत्तु, अन्धकारकारणतया मायायाः इदानीं विप्रतिपत्तिग्रस्तत्वेऽपि, सौगतैः वा तत्तन्त्राभ्युपगमसंस्थितिवादिभिरपि वा न शक्यते वक्तुं, मायाविद्ययोः अभ्युपगमादेव.

तथाहि आह मध्यान्तविभागे भदन्तो वसुबन्धः तावद्-

''मायादिवद् असत्त्वं च सत्त्वं च अर्थस्य तद् मतं सो अविसारे अविपर्यासो भावाभावविसारतः(मूलं) **यत् तद् 'अर्थस्य असत्त्वं सत्त्वं च'=अनन्तरम् उक्तं 'तद् मायादिवद् मतम्'. एषा**

माया न हस्त्यादिभावेन अस्ति; नच नैव अस्ति, तद्भ्रान्तिमात्रास्तित्वात्. एवम् अर्थोऽपि नच अस्ति यथा सम्प्रख्यातिः ग्राह्यग्राहकत्वेन; नच नैव अस्ति, तद्भ्रान्तिमात्रास्तित्वात्. 'आदि'शब्देन मरीचि-स्वप्न-उदकचन्द्रादयो दृष्टान्ताः यथायोगं वेदितव्याइति यद् मायाद्युपमार्थे दर्शनाद् अविसारं चेतसः पश्यन्ति सो 'अविसारः'=अविपर्यासः तेन भावाभावयोः चित्तस्य अविसारणात्... यथा मायाकृतं न विद्यते उपलभ्यते च''.

''मायाकृतं मन्त्रवशात् ख्याति हस्त्यात्मना यथा आकारमात्रं तत्र अस्ति हस्ती नास्ति तु सर्वथा''(भाष्यम्).

(मध्या.विभा.१७-२३,त्रिस्वभा.निर्दे.२७) इति.

तथैव आचार्यचन्द्रकीर्तिरपि मध्यमकशास्त्रप्रसन्नपदायाम् एवं जगाद-

''तथागतो यत्स्वभावः तत्स्वभावम् इदं जगत्, तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावम् इदं जगद्''(मूलम्)**, सर्वधर्माअपि... मायोपमाः स्वप्नोपमाः. स्रोतापत्तिफलमपि मायोपमं स्वप्नोपमम्. एवं सकृदागाम्यपि सकृदागामिफलमपि, अनागाम्यपि अनागामिफलमपि, अर्हन्नपि मायोपमः स्वप्नोपमो, अर्हत्फलमपि मायोपमं स्वप्नोपमम्. प्रत्येकबुद्धत्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमं... निर्वाणादपि अन्यः कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात् तमपि अहं मायोपमम् इति वदेयम्''**

(मध्य.शा.प्रस.प.२२।१६).

भदन्तप्रज्ञाकरमतिविरचितायां बोधिचर्यावतारपञ्जिकायामपि मायोपमेष्वपि वस्तुषु पुण्यपापजनकताम् अंगीकर्तुं यद् उक्तं तदपि इह न अनवधेयं भवति-

''यदि भगवानपि मायोपमस्वभावः तदा 'मायोपमाद्'=निःस्वभावाद् 'जिनाद्'=भगवतः 'पुण्यं'=सुकृतं

पूजासत्कारपादवन्दनादिभिः 'कथं'=कथमिव इति मन्यसे. नहि मायाकारनिर्मितपुरुषकारापकारयोः पुण्यपापप्रसूतिः युक्ता इति परस्य अभिप्रायः... भवतु नाम मायोपमादपि जिनात् पुण्यम् इदन्तु कथं समाधीयते इति आह 'यदि मायोपम' इत्यादि. अथवा अन्यथा अवतार्यते यदि जिनोऽपि मायोपमः का वार्ता तर्हि सांसारिकेषु सत्त्वेषु? तेऽपि तथा इति ब्रूमः''.

(बोधि.चर्या.पं.९।९) इति.

सति चैवम् अन्धकारस्यापि मायिकत्वे कथंकारा विप्रतिपत्तिः सौगतैः वा तत्तन्त्राभ्युपगमसंस्थितिवादिभिरपि वा उपस्थापयितुं युक्ता? नच अन्यादृशी हि सौगती माया निखिलवस्तुजातस्य मायिकत्वहेतुभूतेति सर्वसाधारणी, अन्यैवतु पुनः ब्रह्मात्मकत्वेन वस्तुभूततया प्रमानुभूतिगोचरे जगति खलु असाधारणी, वस्तुभूतस्य अवस्तुतया-अवस्तुभूतस्य च वस्तुतया आभासजनिका, वाल्लभी माया इति वाच्यं, सेयं विवेककारिणी हि प्रज्ञा तावद् न ईदृश्येव सौगतानां सम्भवतीति. यस्मात् प्रज्ञाकरमतिस्तु स्वयं हि शतसाहस्रिकायां प्रज्ञापारमितायां यद् आह तत्रापि दृष्टिक्षेपस्य विधातव्यत्वात् :

''**'संवृतिः परमार्थः च सत्यद्वयम् इदं मतं : बुद्धेः अगोचरः तत्त्वं, बुद्धिः संवृतिः उच्यते'(मूलम्) 'संवृतिः' इत्यादि, संव्रियते आव्रियते यथाभूतं परिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृतप्रकाशनात् च अनया इति 'संवृतिः'. अविद्या मोहो विपर्यासः इति पर्यायाः. अविद्या हि असत्पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृतिः उपपद्यते. यद् उक्तम् आर्यशालिस्तम्बसूत्रे '... तत्त्वे, [1]अप्रतिपत्तिः [2]मिथ्याप्रतिपत्तिः अज्ञानम्, अविद्या इति... अभूतं ख्यापयति अर्थं, भूतम् आवृत्य वर्तते, अविद्या जायमानैव कामलातंकवृत्तिवद् इति... साच संवृतिः द्विविधा लोकतएव [1]तथ्यसंवृतिः [2]मिथ्यासंवृतिः च इति''.**

(बोधि.चर्या.पञ्जि.९।२).

नच इहापि सौगतवाल्लभमतयोः स्वस्वाभिप्रेतत्वेन साधारण्यासाधारण्यकृतो

भेदः पुनरपि आपादनीयः, एकांशव्याकरणीय-विभज्यव्याकरणीय-अव्याकरणीय-भेदभिन्नानां पर्यनुयोगानां त्रैविध्यवादिनि ताथागते मते न वाल्लभीयायाः व्यामोहिकायाः मायायाः एकांशेन निराकरणं युक्तं; नापि अव्याकरणीयतया एतस्मिन् विषये वचसो हि अविन्यासएव वा अवलम्बनीयः. अथ विभज्यव्याकरणेतु बौद्धवचनप्रामाण्यवादिमतेन इत्थम्भूतायाः मायायाः अंगीकार्यता उचिता. अनुचितातु खलु बुद्धवचनाप्रामाण्यवादिभिः कल्पिता माया; आतश्च भवेदपि अनंगीकार्यता, सति चैवं विभज्य व्याकरणेतु एतावानेव प्रतिपादनावकाशो नातो अधिकः. ननु तदेव आपाद्यते इति चेद् न, एवमपि आपाद्यमाने न व्यामोहिकायां मायायां प्रमाणाभावः सिद्ध्यति. यस्माद् सौगताभिप्रेतमायाकल्पायाः व्यामोहकमायायाः स्वाभीष्टत्वेऽपि तस्याः मुखरितो अंगीकारो वाल्लभैः न कर्तव्यः इति उच्यमाने सेयं सुगताज्ञा चेत् तस्याः प्रमाणात्वानभिमतत्वादेव अनंगीकारः. वाल्लभानां कृते वदतोव्याघातरूपविसंगत्यापादनेतु वाल्लभमताभिप्रेतप्रमाणवचनैरेव व्यामोहक-मायाकार्यत्वस्य तमसि विवक्षितत्वेन एवमापादनस्यैव अनवकाशापत्तेः च.

(२)

यत्तु *''ईश्वरे प्रमाणाभावाद् ईश्वराधीनशक्तिरूपायाः जगदुत्पत्त्यादिहेतुभूतायाः श्रुतिस्मृत्यादिप्रसिद्धमायायारपि अप्रामाणिकत्वम्''* इति आपादितम्. तत्रापि वाल्लभमतानुसारिणी ईदृशी अभिमतिः मां मुखरयति यद् मायायाः प्रामाणिकत्वा-प्रामाणिकत्वविचारवद् इह श्रुतिस्मृतिपुराणप्रतिपादितेश्वरास्तित्वविचारप्रसंगेऽपि विभज्यव्याकरणेनैव बौद्धैः स्वमतीयानंगीकारो घोषणीयो नतु एकांशेन. तत् कुतः इति चेद्, श्रुतिस्मृतीहासपुराणेषु तावद्-

[1]''इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः सः सुपर्णो गरुत्मान्. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः'', [2]''यो नः पिता जनिता नो विधाता...'', ''यो देवानां नामधा एकएव'', [3]''यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे गात्रा विभेजिरे तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः''.

(ऋक्संहि.[1]१।१६४।४६, [2]१०।८२।३, [3]अथ.संहि.१०।७।१६)

इत्येमादिभिः नैकनामभिः प्रतिपादितानां जगता सममेव सञ्जायमानत्वेन

नैकविधपरमेश्वररूपाणां भगवतो प्रतीत्यसमुत्पादोपदर्शितथागताद् निःशेषोत्सारितमोहाद् बुद्धाद् च अवरत्वेनतु अभिमतानां पुनः जगत्कर्तृत्वेन अनभिमतानां च, न स्वरूपतो अनंगीकारो बौद्धागमेषु संदृश्यते.

तथाहि भगवता सुगतेन स्वयमेव स्वस्य प्रामाण्यं प्रस्थापयितुं **"अगञ्ञञ्चाहं... पजाननं न परामसामि अपरामसतो च मे पच्चतञ्ञेव निब्बुति विदिता, यदभिजानं तथागतो नो अनयं आपज्जति"** इति गदता स्वकीयानितरसाधारणप्रामाण्योद्घोषणेन स्वमतं प्रादर्शि :

"एके समणब्राह्मणा इस्सरकुत्तं ब्रह्मकुत्तं आचरियकं अग्गञ्ञं पञ्ञपेन्ति... ते मया पुट्ठा न सम्पायन्ति. असम्पायन्ता ममञ्ञे पटिपुच्छन्ति. तेसाहं पुट्ठो व्याकरोमि : [क]... समयो यं कदाचि करहचि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन अयं लोको संवट्टति... [ख]ये भुय्येन सत्ता आभस्सरसंवत्तनिका होन्ति ते तत्थ होन्ति मनोमया पीतिभक्खा सयम्पभा सुभट्ठायिनो चिरं दीघमद्धानं तिट्ठन्ति... दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन अयं लोको विवट्टति. [ग]विवट्टमाने लोके सुञ्ञं ब्रह्मविमानं पातुभवति... आयुक्खया वा पुञ्ञक्खया वा आभास्सरकाया चवित्वा सुञ्ञं ब्रह्मविमानं उपपज्जति... [घ]तस्स तत्थ एककस्स दीघरत्तं निवुसितता अनभिरति परितस्सना उप्पज्जति 'अहो वत अञ्ञे पि सत्ता इत्थत्तं अगच्छेय्युं' ति... [ङ]यो सो सत्तो पठमं उपपन्नो तस्स एवं होति 'अहमस्मि ब्रह्मा महाब्रह्मा अधिभू अनभिभूतो अञ्ञदत्थुदसो वसवत्ती इस्सरो कत्ता निम्माता सेट्ठो सजिता वसी पिता भूतभब्यानं, मया इमे सत्ता निम्मिता; किस्स हेतु?, ममं हि पुब्बे एतदहोसि 'अहो वत अञ्ञेपि सत्ता इत्थत्तं आगच्छेयुं ति' इति मम च मनोपणिधि इमे च सत्ता इत्थत्तं आगता ति. [च]ये पि ते सत्ता पच्छा उपपन्ना तेसं पि एवं होति 'अयं खो भवं ब्रह्मा महाब्रह्मा... इस्सरो कत्ता... इमिना मयं भोता ब्रह्मना निम्मिता... इमं हि मयं अद्दसाम इध पठमं उपपन्नं मयं पनाम्ह पच्छा उपपन्ना' ति".

(दी.नि.३।१।८).

सर्वाण्यपि खलु एतानि बुद्धवचनानि श्रुतिस्मृत्यादिवचनैः सह एकार्थीभावापन्नानीति उभयोरपि, बुद्धवचन-श्रुत्यादिवचन-रूपयोः, सममेव प्रामाण्यं न किं प्रस्थापयन्ति? अथ यदि सुगतश्रुत्यादिवचनप्रामाण्यवादिनोः मध्ये कस्यचन पुरुषस्य एकतरस्मिन्नेव श्रुतिस्मृत्याद्युक्ते वा सुगतोक्ते वा प्रामाण्ये भरः, तदातु एकतरस्य अपरसंवादित्वेऽपि श्रुतिवचनस्य वा बुद्धवचनस्य वापि केनचिद् अपराधेन अप्रामाण्यम् कल्पनीयं स्याद्. तदातु तदुत्तरकालजातानां मूलवचनसंवादिव्याख्यानानामपि अप्रामाण्यप्रसक्तिः दुर्वारैव. ततश्च सर्वाणि हि बुद्धवचनव्यांख्यानान्यपि श्रुतिवचन-सूत्रभाष्यव्याख्यारूपाणां वचनानामिव अप्रामाणिकान्येव भवेयुः, ननु अधिगतार्थज्ञापकत्वादेव.

अपिच प्रतीत्यसमुत्पादद्रष्टा बुद्धो वा श्रुतिराशीद्रष्टा ऋषिः वापि तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरं निजानुभूतं निजवचनैः प्रकटयति इति अभ्युपगम्यमाने तादृशः तत्त्वसाक्षात्कारसामर्थ्यस्य एकतरस्मिन् सत्त्वे अपरस्मिन् असत्त्वे च अंगीक्रियमाणे तथास्वीकर्तुः स्वीये श्रद्धाभाजनएव श्रद्धातिशयरूपोहि एको हेतुः प्रत्युपस्थापनीयः स्यात्. ततश्च येन पुरुषेन प्रागेव बुद्धवचनेन एतत् तथ्यं चेद् अधिगतं तस्य कृते श्रुतिवचनम् अप्रमाणमपि भवेद् इति यथा मन्तुं शक्यते, तथैव येन पुरुषेन श्रुतिवचनमेव प्राक् श्रुतं तस्य कृते बुद्धवचनमपि नूनम् इत्थमेव अप्रमाणं भवेदेव, समानयोगक्षेमात्.

नच एनयोः वचनयोः मिथः संवादो नास्त्येव इति भ्रमितव्यं, तस्यैतस्य अनुपदं प्रदिदर्शयिषितत्वादेव.

तथाहि भगवतो बुद्धस्य [क-ख]वचनाभ्यां सममेव बृहदारण्यकीयं च भगवद्गीतावचनानि चापि निभालयन्तु अत्र भवन्तः :

"नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद्. मृत्युना इदम् आवृतम् आसीद् अशनायया. अशनाया हि मृत्युः. तद् मनो अकुरुत

'आत्मन्वी स्याम्' इति''.

(बृह.उप.१।२।१) इति.

''सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः रात्रिं युगसहस्रान्तां ते अहोरात्रविदो जनाः. अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति अहरागमे रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैव 'अव्यक्त'संज्ञके. भूतग्रामः सएव अयं भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते रात्र्यागमे अवशः, पार्थ प्रभवति अहरागामे'', ''त्रैविद्याः मां सोमपाः पूतपापाः यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते. ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्. ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति''.

(भग.गीता.८।१७-१८,९।२०-२१) इति.

तथैव भगवतो बुद्धस्य तृतीये "वचने **''विवट्टमाने लोके सुञ्ञं ब्रह्मविमानं पातुभवति''**इत्यत्र **'ब्रह्मविमाने'**ति पदाभिप्रेतस्य शून्यापरपर्यायरूप'ख'पदवाच्यस्य आकाशस्य ब्रह्मणः सकाशात् प्रथमा उत्पत्तिः श्राविता सापि श्रुतौ न न निरूपिता.

तथाहि **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म... तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्याः ओषधयः, ओषधीभ्यो अन्नम्, अन्नात् पुरुषः. सवा एष पुरुषो अन्नरसमयः''** (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र आकाशादिपुरुषान्तानां क्रमशो ब्रह्मोपादानकतापि निरूपितैव. तस्यैतस्य ब्रह्मोपादानकस्य आकाशस्य 'ब्रह्म'पदवाच्यतेव ब्रह्मतया उपासनापि श्रुतौ निरूपितैव. तथाहि **''एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति'', ''आकाशो वै नाम नामरूपयोः निर्वहिता. ते यद् अन्तरा तद् ब्रह्म''** (बृह.उप.२।१।२०, छान्दो.उप.८।१४।१) इति, **''स य आकाशं ब्रह्म इति उपास्ते... यावद् आकाशस्य गतं तत्र अस्य कामचारो भवति''** (छान्दो.उप.७।१२।२) इति च.

अतोहि दीघनिकायोक्त्या सममेव उपनिषत्स्वपि ब्रह्मणः सकाशाद् आकाशस्य प्राथमिक्युत्पत्तिः श्रावितेति ब्रह्मवद् आकाशस्यापि देवदानवमानवादिसर्वरूपाधारता

सर्वनामाधारतापि श्रुतिविदाम् न अविदिता नाम. सति चैवं बुद्धवचनस्य प्रामाण्ये श्रुत्यादिशास्त्राणामपि बुद्धवचनसंवादितारूपं प्रामाण्यं भवेदेव. अथ तेषाम् अप्रामाण्येतु तदेकार्थप्रतिपादकसुगतवचनानामपि अप्रामाण्यं कैमुतिकेन न्यायेन आपद्यतइति, मायाविद्याशक्तिमदीश्वरोपदेशपरशास्त्राणाम् अप्रामाण्यं नैकांशेन वक्तुं शक्यं वा युक्तं वा इति अवधेयम्.

एवमेव चतुर्थे "वचने **''तस्स तत्थ एककस्स दीघरत्तं निवुसितता अनभिरति परितस्सना उप्पज्जति 'अहो वत अञ्ञे पि सत्ता इत्थत्तं अगच्छेय्युं' ति.''** इति यद् भगवता बुद्धेन प्रतिपादितं तदपि **''सवै नैव रेमे. तस्माद् एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छद्''** (बृह.उप.१।४।३) इति वचनेन समानार्थकमेव. सिद्धं तस्माद् इह उभयोः वचनयोः इतरेतरप्रतिच्छायारूपता.

नच ब्राह्मणैरेव सुगतवचनं क्वचित् श्रुत्वा बुद्धवचनप्रतिच्छायारूपं श्रुतिवचनम् उपकल्पितम् इति वाच्यं, **''मग्गामग्गे... ब्राह्मणा नानामग्गे पञ्ञापेन्ति अद्धरिया ब्राह्मणा, तित्तिरिया ब्राह्मणा, छन्दोका ब्राह्मणा, बव्हारिज्झा ब्राह्मणा''** (दी.नि.१३।तेवि.सु.१) इत्यत्र बौद्धागमेऽपि मन्त्रब्राह्मणोपनिषदां च सद्भावांगीकारादेव तेषां पूर्वसिद्धत्वन्तु निरपवादमेव. तस्माद् दीघनिकायेऽपि वाशिष्ठब्राह्मणस्य यः श्रुत्युक्तमार्गविषयकः सन्देहो निरूपितो यद् उपदिष्टबहुविधमार्गेषु कस्य एकतमस्य प्रामाणिकत्वम्? इति, तत्र इदं बौद्धागमाकूतं प्रतिभाति यत् तदानीन्तनाः ब्राह्मणाः यथा परब्रह्माभिज्ञानरहितत्वेन शब्दब्रह्मैकाभिज्ञाः अभूवन् तथैव प्राक्तनाअपि अष्टकवामकवामदेव-विश्वामित्र-जमदग्न्यांगिरस-भारद्वाज-वशिष्ठ-कश्यप-भृग्वादयोऽपि ऋषयो अकृततत्त्वसाक्षात्काराएव मन्त्रान् प्रकटीकृतवन्तः इति. एवम् आक्षिप्य स्वस्य च कृतसाक्षात्कारोपदेशकत्वं भगवता बुद्धेन यद् घोषितं तत्तु बौद्धानां कृते नूनं श्रद्धाधायकं युक्तं च.

तथापि इयमिह पिपृच्छिषातु भवत्येव यद् इदानीं तावद् मन्त्रकृदृषिगणवद् भगवतो बुद्धस्यापि कृतसाक्षात्कारोपदेशकत्वं न कस्यचित् स्वानधिगतार्थज्ञानरूपं नाप्यनुमितिरूपं वा समुपलभ्यतइति तदपि यदि तथागतशब्दप्रामाण्यहेतुकमेव अंगीकरणीयं, तदा भगवतो बुद्धस्य कृतसाक्षात्कारोपदेशकत्वमिव मन्त्रदृशामपि ऋषीणां

वचनमपि कृतसाक्षात्कारोपदेशकत्वसाधनाय कुतो न अलम्? तथाच **"अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भुः अभ्यानर्षद् (आभिमुख्येन प्रत्यक्षम् आगच्छत्) तद् ऋषयो अभवन्. तद् ऋषीणाम् ऋषित्वं, तान् देवता उपातिष्ठन्त यज्ञकामाः"** (तैत्ति.आर.२।९।१) इति ऋषीणां यदि कृतसाक्षात्कारोपदेशकत्वांगीकृतिः न प्रामाणिकी चेत् सैषैव गतिः बुद्धवचनानामपि कुतो न भवित्री?

यत् पुनः पञ्चमे [५]वचने ईश्वरकर्तृकतावादखण्डनाय भगवतो बुद्धस्य **"यो सो सत्तो पठमं उपपन्नो तस्स एवं होति 'अहमस्मि ब्रह्मा... इस्सरो कत्ता निम्माता... ममं हि पुब्बे एतदहोसि अहो वत अञ्ञेपि सत्ता इत्थत्तं आगच्छेयुं' ति... 'मम च मनोपणिधि इमे च सत्ता इत्थत्तं आगता' ति"** इति प्रतिपादनं, तेनापि न भगवतो बुद्धस्यैव अनन्यसाधारणी बोधिः इति मन्तव्यं किमुत नैकश्रुतिवचनबोधितमेव **"अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति"** (बृह.उप.२।१।२०) इति श्रौतरहस्यम्. अमुमेव रहस्यं भगवान् बुद्धोऽपि अनुवदति यथाच प्रक्रमन्ते स्मृतीतिहासपुराणादयो हि श्रुतिवाक्यानाम् उपोद्बलनाय.

तथाहि **"ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता"** (मुण्ड.उप.१।१।१) इति, **"रूपं यदेतद् अवबोधरसेन शश्वद् निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय आदौ गृहीतम् अवतारशतैकबीजं यन्नाभिपद्मभवनाद् अहम् आविरासम्"** (भाग.पुरा.३।९।२) इति च, तएते सर्वेऽपि देवाः ब्रह्मणि अन्तःस्थानाम् अव्याकृतनामरूपकर्मणां व्याकृतिरूपाः इति श्रुतिरेव आह **"ब्रह्म देवान् अजनयद् ब्रह्म विश्वम् इदं जगत्... ब्रह्मन् देवाः त्रयस्त्रिंशद् ब्रह्मन् इन्द्रप्रजापती"** (तैत्ति.ब्राह्म.२।१।२।) **"तद् यद् इदम् आहुः 'अमुं यज'-'अमुं यज' इति एकैकं देवम् एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः... तद्धा इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते"** (बृह.उप.१।४।६-७) इत्यादिवचनेभ्यः न श्रुतिप्रतिपादिताद् व्यतिरिक्तां काञ्चिदपि कल्पनाम् इह पश्यामः. उभयोः तारतम्यन्तु एतावदेव यद् बुद्धो भगवांस्तु उपनिषत्प्रतिपादितब्रह्मस्थाने प्रतीत्यसमुत्पन्नसंघातदर्शी संज्ञान्तरागमम् अभिवाञ्छति नतु संज्ञान्तरादेशं "मित्रवदागमः शत्रुवदादेशः" इति उक्तेः. देशकालस्वरूपतश्च अपरिच्छिन्ने हि औपनिषदेतु ब्रह्मणि काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुष-विद्याविद्यादिशक्तीनाम् एकनीडता, संघातरूपा समवेततारूपा तदात्मकधर्मरूपा वा

प्रस्थानभेदैः अभ्युपगन्तुं शक्यैव इति भगवतो बुद्धस्य 'ब्रह्मविमाने' निखिलानां देवानाम् उत्पत्त्यंगीकारः श्रौतमतैकदेशितामिव अभिव्यनक्ति. यस्माद् **"द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो, ब्रह्मन्, नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः"** (भाग.पुरा.२।५।१४) इति वचनोपलम्भात्.

एवमेव षष्ठे [६]वचनेऽपि यद् भगवान् बुद्धो वदति **"ये पि ते सत्ता पच्छा उपपन्ना तेसं पि एवं होति 'अयं खो भवं ब्रह्मा महाब्रह्मा... इमिना मयं भोता ब्रह्मना निम्मिता... इमं हि मयं अद्दसाम, इध पठमं उपपन्नं, मयं पनाम्ह पच्छा उपपन्ना' ति"** तदपि श्रुत्युक्तमेव अनुवदतीति न नूतनः कश्चन मतो अत्रापि मन्तुं युक्तः. तथाहि **"सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः इन्द्रस्य आत्मानं शतधा चरन्तं... देवानां हृदयं ब्रह्मा अन्वविन्दद् ब्रह्मा एतद् ब्रह्मणः उज्जभार"** (तैत्ति.आर.३।११।५-६) इति वचने ब्रह्मविषयकं देवादीनामपि अज्ञानं श्रुतिरपि अनुमनुते. तस्मात् श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धाश्च एते त्रयस्त्रिंशद् देवाः यदि अप्रामाणिकाः स्युः तदा **"ब्रह्मा सनङ्कुमारो तावतिंसानं पातुभवति... मोदन्ति वत भो देवा तावतिंसा सहिंदका तथागतं नमस्सन्ता धम्मस्स च सुधम्मतं"** (दी.नि.२।५। ज.व.सु.१२) इति बौद्धागमोक्तान् देवानपि अप्रामाणिकान् घटयेयुः. अथ बौद्धागमस्यतु प्रामाणिकत्वे ततोऽपि प्रागेव तत्प्रतिपादितार्थप्रतिपादकानि श्रुत्यादिशास्त्राणि कथन्नु अप्रामाणिकानि भवितुं शक्नुवन्ति, अनधिगतार्थज्ञापकत्वं चेत् प्रामाण्यमूलम्.

तस्मात् सर्वाणि एतानि वचनानि भगवतो बुद्धस्य भगवत्याः श्रुतेः च एकार्थप्रतिपादकानि इति उपलभ्यापि एकतरस्य प्रामाण्यम् अपरस्य अप्रामाण्यं वदन् कथं हि पक्षपातराहित्यम् आत्मनो अभिपायात्

(३)

एतेन *" 'ऋते अर्थम्...' इत्यादिशास्त्रवचनमपि न प्रमाणं, शब्दप्रामाण्यानभ्युपगमाद्"* इति अनुपपत्तिरपि परिहृता वेदितव्या.

(४)

यत् पुनः *"अनधिगतार्थाधिगमकं प्रमाणं, शब्दस्यच अधिगतार्थगमकत्वाद् न*

प्रमाण्यम्'' इति उक्तं तत्तु भदन्तधर्मकीर्तेः–

१.''प्रमाणम् अविसंवादि ज्ञानम्. अर्थक्रियास्थितिः अविसंवादनं शाब्देऽपि, अभिप्रायनिवेदनात्. वक्तृव्यापारविषयो यो अर्थो बुद्धौ प्रकाशते प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य न अर्थतत्त्वनिबन्धनं... अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगमे परं प्राप्तं सामान्यविज्ञानम् अविज्ञाते स्वलक्षणे यद् ज्ञानम् इति अभिप्रायात् स्वलक्षणविचारतः. तद्वत् प्रमाणं भगवान् (यथाभिहितस्य सत्यचतुष्टयस्य अविसंवादनात् तस्यैव परैः अज्ञातस्य प्रकाशनात् च) अभूतविनिवृत्तये''.

२.''समाधिबलप्रभवं भूतभाविविवर्तमानानां... यथा देवाद्यधिष्ठानप्रभावेन सत्यानि स्वप्नज्ञानानि भूतभाविविविध-विषयाणि अविभ्रमाणि उत्पद्यन्ते तथैव योगबलेन ध्येयानां ज्ञानम् अतीतानागतदूरसान्तराणुभूतविषयाणां प्रकाशकं ज्योतिरूपम् उत्पद्यते... यथा वा भगवतः शाक्यमुनेः उपदेशे भाविदर्शनिमित्त-सत्योपलब्धि-मातृचेटकालक्षय-राजा- शोकाद्याशावन-काश्मीरदेशागमाः अविपरीताः उपलभ्यन्ते''.

(प्रमा.वार्ति.१।३-९,न्या.बि.विस्त.११).

इति प्रमाणवार्तिक-न्यायबिन्द्वोः शीकरोपमैः वचनैः सम्प्रोक्ष्य संशोधनीयम्. ननु भगवतः तथागतस्य समाधिशीलप्रज्ञाभिगतार्यचतुष्टस्य तथ्याविसंवाद्युपदेशकतयैव प्रामाण्यं न अपरेषाम् इति चेद् न, भगवतोऽपि उपदेशेषु क्वचित्क्वचित् स्वोदितविसंवाद्युपदेशोपलम्भात्. यथाहि पूर्वोदाहृते वचने ब्रह्मादिदेवानां अज्ञानभीत्यादिमोहो वर्णितः स्वस्य अज्ञानमोहातीततप्रतिपादनार्थं जनवसभसुत्तेतु पुनः स्वोपदेशश्रोतृत्वेन देवानां समुत्कर्षोऽपि कण्ठतः प्रतिपादितइति स्ववचनविसंवादोऽपि बौद्धागमेषु उपलभ्यतएव. नच श्रवणात् पूर्वकालिका हि मोहदशा तदुत्तरकालिकातु भग्नमोहावस्था इति न विसंवादः कश्चन इति वाच्यं, देवानां दीर्घकालिकी हि आयुष्यमत्ता, तयाच भगवतो बुद्धस्य नैकबोधिसत्त्वादिरूपैः अवतारकथाभिज्ञता चेति विसंवादतादवस्थ्यावगमाद्.

तथापि अधिगतार्थगमकत्वेन शब्दानां यद् अप्रामाण्यं प्रसिसाधयिषितं तद् अस्माकं मते शब्दप्रामाण्यं स्वीकृतम् इति अस्मद्ग्रन्थगतशब्दानाम् अस्मन्मत-स्वरूपावधारणे प्रामाण्यम् अंगीकृत्य आहोस्विद् अनंगीकृत्य? तत्र यदि आद्यं तदा पाटच्चरलुण्ठिते वेश्मनि यामिकस्य जागरणकल्पमेव तद् बोध्यम्. अथ अनंगीकृत्यापि शब्दप्रामाण्यम् अस्मद्ग्रन्थोदितानां शब्दानां अस्मन्मतप्रमापकत्वमपि अंगीक्रियते चेत् तदा *''शब्दाः न प्रमाणम् अधिगतार्थज्ञापकत्वाद्''* इति विरुद्धाभिधानेन स्फुटो वदतोव्याघातः. अथ एतत् स्याद् न अस्मद्ग्रन्थगतानां शब्दानाम् अस्मन्मतप्रमायाः करणता किन्तु तल्लिंगेन अस्मन्मतस्वरूपविषये अनुमानं शक्यते कर्तुं ततश्च अनुमितौ अन्तर्भावांगीकारात् शब्दानां स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यनिराकरणएव तात्पर्यम् इति. तत्र इदम् अवगन्तव्यं : यदि त्रिपिटकान्तर्भाववशाद् दीघनिकाय-मज्झमनिकाययोः अप्रामाण्यं बौद्धैः न प्रतिपाद्यते चेत् तदा कुतो अकस्माद् अनुमानान्तर्भावेन शब्दानामेव प्रामाण्यनिराकरणं युज्येत? नहि प्रमाणान्तर्भूतेन अप्रमाणं भवितुं युक्तम् अप्रमाणं सदपि यदि किञ्चित् प्रमाणे अन्तर्भवितुम् अर्हति अबुद्धोऽपि कदाचिद् बुद्धे अन्तर्भूतो अवकल्पेत मा भूत् स्वातन्त्र्येण अनुमानमपि प्रमाणं विकल्पावगाहित्वेन. परमार्थतस्तु अप्रमाणमेव सद् तद् व्यवहारे प्रामाण्यं यथा आवहति तथैव योगिप्रत्यक्षबोधकवचनानामपि पारमार्थिकं प्रामाण्यन्तु अनाश्रित्यैव व्यवहारे तत्प्रामाण्यम् न निराक्रियते इति चेद् तदा समानयोगक्षेमाद् व्यवहारे अधिगतार्थज्ञापकत्वेऽपि शब्दानामपि प्रामाण्यं व्यवहारेतु न निराकरणीयमेव.

(५)

यातु पुनः *''वाल्लभमते माया ईश्वरशक्तिः व्यामोहिका च''* इति विरोधोद्भावनपरा उक्तिः सातु अनवधानप्रयुक्तैव प्रतिभाति. यस्माद् अन्याहि सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया, अन्याच व्यामोहिका अविद्यारूपा. ईश्वरशक्तित्वाविशेषेऽपि तयोरेतयोः एकस्याः सच्चिदात्मकसत्यसृष्टौ ईश्वरीयकरणत्वम्, अपरस्यास्तु असत्प्रतिभासरूपसृष्टौ भ्रमसृष्टौ वा करणतेति कार्यभेदनिरूपितो हि उभयोः करणताप्रभेदः, ईश्वरीयकरणतायाः एकाधिकरणतानिरूपिते साधारण्येऽपि. तत्रहि प्रयोजनमीमांसायान्तु उभयोरपि माययोः भगवत्क्रीडायां दैवासुरसम्पद्भेदभिन्नजीवद्वैविध्यप्रयोजिका स्वभावगुणकर्मप्रभेदहेतुता. भूतले रामकृष्णावतारादिलीलायां वैकुण्ठस्थयोः जयविजयाख्ययोः स्वपार्षदयोः आसुरभावापादनक्रीडामिव.

(६)

ननु *"व्यामोहिकया मायया कुत्र प्रक्षेपः किं सदृशे विसदृशे वा? आद्ये एकत्र प्रक्षिप्तस्य अन्यत्र अभावप्रसक्तिः. द्वितीये घटादावपि तत्प्रसक्तिप्रसंगाद् अनियमप्रसक्तेः. सर्वत्र प्रक्षेपेतु अतिप्रसंगः"* इत्यादि तदपि चिन्त्यमेव, नहि असतः प्रतिभासमात्रशरीरस्य क्वचित् प्रक्षेपे अन्यत्र अभावप्रसक्तिः यौक्तिकी सम्भवति. यस्माद् यत्र प्रक्षेपः तत्रापि असत्त्वादेव सिद्धे अभावे तत्रात्र वा कुत्रचिदपि प्रक्षेपप्रयुक्ताभावापादनस्यैव अविचारणीयत्वात्. नहि शुक्तिरजतभ्रमदृष्टान्ते व्यामोहिका मायैव एकाकिनी हेतुः अपितु पूर्वानुभूतस्य विषयस्य सादृश्यं, पुरोवस्थितस्य सामान्यज्ञानेन अवगतस्य तत्संस्कारोद्बोधकत्वं च-इत्येवमाद्यनेकसहायकसामग्र्यः सर्वैरपि अंगीकार्याएव.

(७)

"मनुष्यादीन् प्रति व्यामोहिका माया तेजः सृजति इति तदपि न, तेजोऽभावतमसोः सादृश्याभावात्" इति आक्षेपोऽपि न बहुविचारणीयो अवभासते, निरुपाधिक-सोपाधिकभ्रान्त्योः मध्ये शुक्तिरजतरूपनिरुपाधिके भ्रमएव सादृश्यापेक्षा न पुनः सोपाधिके शंखपीतिमादिभ्रमे, कामलातंकादेरेव तत्र हेतुत्वदर्शनेन उपाधित्वोपगमात्.

अतएव *"तमसो भ्रान्तिरूपत्वे तेजसा निवृत्त्यनुपपत्तेः अधिष्ठानसाक्षात्कारादेव तन्निवृत्तेः दर्शनात्"* इत्यपि अविचारणीयमेव. वस्तुतस्तु तमसः प्रतीतिः तावद् न भ्रान्तिरूपा किन्तु भ्रान्तिकारणभूतान्यथाज्ञानरूपैव. तेनैतेन अन्यथाज्ञानेन कस्यचिद् भ्रान्त्युत्पत्तेः शक्यत्वेऽपि न सर्वेषाम्. प्रचुरालोकवद्देशाद् मन्दालोकवद्देशे गमने मन्दालोकवद्देशाद् वा प्रचुरालोकवद्देशे सहसा गमने कियत्कालं यावत् तमो अनुभूयते. पश्चात्तु नयनयोः अल्पालोकेन बहुलालोकेन वा सामञ्जस्ये तु अन्धकारभ्रान्तिनिवृत्तिपूर्वकं वस्तुदर्शनमपि भवति. तत्र एवं सति एकस्यैव तमसो मिथोविरुद्धं दृष्टिप्रतिबन्धाप्रतिबन्धहेतुत्वं कथं सम्भवेत्? तस्माद् मायाजनितेन अन्यथाभानेन क्वचिद् द्रष्टुः भ्रान्तिः जन्यते क्वचित् पुनः न इत्येव अंगीकरणीयम्. तस्माद् मायिकान्यथाभानजातायाः भ्रान्तेः निवृत्तिः द्वेधापि सम्भवति : १.क्वचिद् अपेक्षितालोकेन मायिकतमोनिवृत्त्या २.क्वचित् पुनः मायोपाधिकभ्रान्तिकारणीभूतस्य चाक्षुषान्यथा-भाननिवृत्त्यापि यथा नयनगतकामलातंकोपाधिनिवृत्त्या 'पीतः शंखः' इति भ्रान्तिनिवृत्तिः. शतधापि शंखश्वेतिमानिश्चये नहि कामलातंकनिवृत्तेः प्राक् पीतिमाभ्रान्तिनिवृत्तिः

कस्यचन दृष्टचरी.

(८)

तस्मात् *"तमसो भ्रान्त्यधिष्ठानविषणी हि चिन्तापि"* न युक्ता, यस्माद् अधिष्ठानापेक्षां विनैव केशोन्डुकभ्रान्तिः जायते तथा तपिशाचयक्षादिभ्रान्तिरपि. तत्र यथा न कस्मिंश्चिदपि अधिष्ठाने भ्रमो जायते प्रत्युत विषयग्राहक-बाह्याभ्यन्तर-करणेष्वेव अलीकं भानं समुत्पद्यमानम् अनुभूयते. तथैव तमसोऽपि अन्यथाज्ञानं नरनयनयोरेव सञ्जायते न बाह्याधिष्ठाने कस्मिंश्चित् तेजोऽभावादिरूपे. वस्तुतस्तु तेजोऽभावोऽपि वाल्लभे वेदान्ते तिरोभावएव नातः शून्यवादानुसरणापत्तिरपि. किञ्च यदि नाम भ्रान्तौ अधिष्ठानं चेदपि अपरिहार्यं तदापि बौद्धैः वा विज्ञानवाद-शून्यवादतन्त्राभ्युपगम-संस्थितिवादिभिस्तु नैवम् आपादनीयं स्वमतहानेः प्रसंगात्.

(९)

"भ्रमे दोषस्यापि सहकारित्वम् अन्यथा अदुष्टकरणस्यापि शुक्तौ रजतभ्रमापत्तिः... दुष्टादुष्टकरणस्य सर्वस्यापि पुरुषस्य तमोऽनुभवो जायते" इति आपादनमपि निरनुयोज्यानुयोगएव, [1]तेजस्तिरोभावरूपः तेजोऽभावः प्रथमो दोषः, [2]व्यामोहकमायाजनितो बहिरिन्द्रियेषु अन्तःकरणेषु वा जायमानो मोहः द्वितीयो दोषः, [3]तज्जन्यमोहानुकूला बुद्ध्यादिषु रजस्तमोगुणोद्रेकः, [4]तादृग्गुणव्यतिकरहेतुभूता पूर्वानुभूतविषयाणां वासना, [5]तादृग्वासनाहेतुभूतौ पूर्वानुभूतविषके सुखदुःखे एवं यथायथा ऊह्याः कति-कति न सम्भवेयुः?

(१०)

किञ्च इहैव अग्रे *"विज्ञानवादिमते यद्यपि बाह्यं किञ्चिद् नास्ति परमार्थतः तथापि अनाद्यविद्यावासनाकल्पितम् अलीकं शुक्त्यादि बाह्यम्. तत्र ज्ञानाकारस्य आरोपो, वस्तुसदेव अधिष्ठानम् इति नियमाभावाद्... सामान्येन ज्ञानविषयतापन्नमेव अधिष्ठानाय अलम्... आत्मनो ज्ञानरूपस्य आकारएव शुक्तिरजतादिकं, शून्यवादिनये च निरधिष्ठाने संवृत्या रजतादिकं कल्प्यते"* इति प्रतिपादयद्भिः श्रीमत्पारसनाथैः अधिष्ठानस्य अपेक्षां विहाय तज्ज्ञानस्य अपेक्षायां यो स्वस्य भरो दर्शितः, तत्र आलोचनीयमिव किञ्चित् पश्यामि.

(११)

नहि भ्रान्तिः सर्वत्र अपरोक्षज्ञानात्मिकैव भवति. नच का बाधेति न आपादनीयं, यस्माद् महती हि बाधा इहैव अवतिष्ठते. विप्रतिपत्तिशालिनौ हि वादिप्रतिवादिनौ मिथो अन्योन्यमतिं भ्रान्तिरूपामेव मन्वाते, न तत्र अधिष्ठानज्ञानापेक्षा. यथा जगत्कर्तुः ईश्वरास्तित्वमतिः बौद्धानां मते भ्रान्तिरूपा तथा वेदान्तिनां मतेतु तदनस्तित्वमतिरेव भ्रान्तिरूपा. ते-इमे उभेअपि भ्रान्ती कं वा अधिष्ठानम् अवलम्ब्य उत्पद्येते? किम्प्रकारके वा सामान्यज्ञानविषयीभूते हि अधिष्ठाने जायेते? नच अभ्रान्तिरूपे इत्यपि स्वीकर्तुं शक्ये तस्माद् अयमपि न हेतुः समीचीनः.

(१२)

या पुनः वाचोयुक्तिः *"नच अत्र अन्धकारे अन्यख्यातिः कथमपि संघटते"* इति सेयम् अनवधानमूलिकैव. यस्माद् व्यामोहकमायाजनितं ज्ञानं क्वचिद् भ्रमरूपं नयनादिगोचरसामान्यज्ञानविषयाद् अन्यं सद् मायादर्शितार्थविषयकं ज्ञानम्. इदमेव ज्ञानम् अन्यख्यातिरूपम् इति अभ्युपेतं यथा शुक्तौ रजतभानम्. क्वचित् पुनः तद्धेतुभूतम् अज्ञानरूपं भवति, यथा शुक्तौ रजतभ्रमात् प्राक् चक्षुर्गोचरायामपि शुक्तौ शुक्तितया अज्ञानम्. इतरत्रतु पुनः शंखादिरूपाधिष्ठानस्य निर्भ्रान्तबोधसत्त्वेऽपि चक्षुर्गत-कामलातंकोपाधिना जायमानं "शंखः पीतः" इति अन्यथाभानरूपम्. एतादृशेन चाक्षुषवृत्तिरूपेण अन्यथाभानेन क्वचित् कस्यचित् पुरुषस्य भ्रान्तिरपि उत्पद्यते. यदा कश्चन पुरुषः कामलातंकरूपं स्वनयनगतदोषम् अविजानन् शंखं दृष्ट्वा "सहसा शंखः पीतः संवृत्तः" इति मनुते. तदा इदं ज्ञानम् अन्यथाज्ञानेन जायमानं अन्यख्यातिरूपं भवति. तस्माद् अन्यख्यातिस्तु बुद्धिवृत्तिरूपो विपर्यासापरपर्यायः. अन्यथाभानन्तु नायनिकं बुद्धौ तथाविधविपर्यासाभावेऽपि. अतोहि तमसो न सर्वदा भ्रान्तिज्ञानविषयतैव नापि सर्वदा अन्यथाज्ञानविषयत्वमेव वा. यत्रतु अधिष्ठानस्य यथार्थज्ञानसत्त्वेऽपि चाक्षुषं भानम् अन्यथैव उत्पद्यते तत्र अन्यथाज्ञानं मायया जायमानं कथ्यते. यत्र पुनः एतादृशेन मायाजन्याज्ञानेन अन्यथाज्ञानेन वा अधिष्ठानयाथार्थ्यस्य विपर्यासो बुद्धौ अवभासते मायया, तत्र अन्यख्यातिरूपं ज्ञानं जायते. एवंहि माया द्वौच भ्रान्तिहेतू जनयति, अपरां च भ्रान्तिमपि कदाचिद् जनयति. तथाच विषयतापि त्रिविधा मन्तव्या : १.विद्यमानस्य वस्तुनः इन्द्रियादिभिः संयोगेऽपि अभानरूपता २.विद्यमानस्य वस्तुनो याथार्थ्यबोधेऽपि इन्द्रियादिभिः करणैः अन्यथाभानरूपता ३.एताभ्याम् अभानान्यथाभानाभ्यां बुद्धौ

वृत्तिरूपेण जायमाने ज्ञाने विपर्यासः सामान्यज्ञानविषयीभूताद् विषयाद् अन्यस्यैव कस्यचिद् विषयस्य क्वचित् कदाचिद् विद्यमानस्य वस्तुनो भानम् इति सिद्धान्तः.

(१३)

श्रीमत्पारसनाथैः तमस्वरूपालोचनप्रसंगेन वाल्लभमताभिमते ज्ञानज्ञेययोः सम्बन्धोऽपि न उपपद्यते इति विचारयता *"भ्रान्तिविषयस्य विज्ञानरूपात्मव्यतिरिक्तत्वे अपरोक्षावभासाभावप्रसंगः, स्वयम्प्रकाशविज्ञानातिरिक्तस्य विषयप्रकाशस्य अभावात्... भेदेतु संयोगादिसम्बन्धे सति विषयविषयिभावरूपः सम्बन्धो वाच्यः. तादृक्संयोगादिसम्बन्धे सति ज्ञाने विषयिता विषये विषयतेति विषयविषयिभावरूपः सम्बन्धो भवितुम् अर्हति नान्यथा. अतः तमसोऽपि ज्ञानरूपतैव अंगीकार्या. विज्ञानं बुद्धिः आत्मा इति अनर्थान्तरम्"* इति यद् उक्तं तत्र सर्वस्य ज्ञेयविषयस्य ज्ञानात्मकत्वे अंगीकृतेतु असद्भावापन्नभूतवस्तुविषयके स्मरणे भासमानम् असत्त्वं स्वयम्प्रकाशविज्ञानात्मकं चेत् तदा विषयम् अतिक्रम्य विषयिणि ज्ञाने पराक्रामेत्. नच सोऽपि असत्पराक्रमो ज्ञानेनैव स्वस्मिन्नेव भासमानः सन् ज्ञाने असत्त्वाधानाय न प्रभवेद् इति वाच्यं, भवतु तावद् ज्ञानपरिभासितमेव असत्त्वं ज्ञाने आत्मघातवत् का हानिः?

ननु यदि स्वेनैव स्वस्मिन् आहितेन असत्त्वेन स्वस्यैव घाते असत्त्वभासोऽपि विरुध्यते. अथ आधित्स्यमानेन असत्त्वेन चेत् तदा न ज्ञाने असत्त्वाभासः इत्येव हानिः इति चेद् तदा अंगीकृतं सदात्मकस्य असदात्मकस्य वा विषयस्य ज्ञानव्यतिरेकः. नहि स्वप्रकाशे विज्ञाने भासमानयोः विषयसत्त्वासत्त्वयोः अविज्ञानात्मकत्वे विषयाणां विज्ञानात्मकत्वं वक्तुं युक्तम्.

तस्मादेव तमोऽपि न विज्ञानरूपं, क्वचिद् भवने पूर्ववर्तिप्रकोष्ठे दीपप्रकाशसत्त्वे, अन्धकारावृते मध्यप्रकोष्ठे च तदुत्तरवर्तिप्रकोष्ठे अवस्थितस्य द्रष्टुः तमोभासपूर्वकएव प्रकाशावभासोऽपि युगपदेव उपलभ्यते. तत्र तमसो विज्ञानरूपत्वे दीपप्रकाशस्य विज्ञानात्मकता अनुपपद्यते. दीपप्रकाशस्य विज्ञानात्मकत्वे तु तमसो विज्ञानात्मकता अनुपपद्यते. अथ विज्ञानस्य उभयरूपत्वे तमःप्रकाशयोः विरोधएव नोपपद्येत. ततः सर्वमपि असमञ्जसं भवेत्. तस्मादपि तमो न विज्ञानरूपं किन्तु मायिकभानरूपमेव इति मन्तव्यम्. नैव चातो विज्ञानवादप्रवेशसम्भावना वाल्लभवेदान्ते मन्तुं शक्या.

(१४)

यदपि *"बुद्धिर्ज्ञानयोः भेदस्य दुर्निरूप्यत्वात् साकारं प्रवृत्तिविज्ञानमेव बुद्धिः विषयवासनावदिथम् आलयविज्ञानं साकारं सत् प्रवृत्तिविज्ञानं संसारापादकं सद् बुद्धिः. विज्ञानातिरिक्ता बुद्धिः चेद् जडरूपतया तया नौद्ररजतादेः ग्रहणानुपपत्तिः"* इति भाषितं तदपि न युक्तं, यस्माद् अयुक्तएव अयं बुद्धौ प्रद्वेषो यत् तस्याएव विज्ञानव्यतिरेके जडरूपतया विषयप्रकाशनशक्तेः ह्रासो न पुनः चक्षुरादीन्द्रियाणाम्. यस्मात् तेषान्तु जडत्वेऽपि चाक्षुषाद्यर्थप्रकाशनक्षमता निर्विचिकित्सैव अथ प्राणापगमे सति बहिरिन्द्रिय-सद्भावेऽपि विषयप्रकाशानुपलब्धे तत्र विज्ञानाधिष्ठानकत्वं विज्ञानसमवेतत्वं तत्संयुक्तत्वं वा अन्यं किञ्चित् अवश्यंकल्पनीयम् इति चेद् नेयं काचिद् चक्रवर्तिनो राज्ञः आज्ञा यत् चक्षुरादीन्द्रियाणामिव मनोबुद्ध्यंकारादीनाम् अन्तःकरणता न कल्पनीया इति. सत्यान्तु अन्तःकरणरूपतायां बुद्ध्यादीनामपि आत्मविज्ञानाधिष्ठानकत्वं वा आत्मविज्ञानोपाधित्वं वा किञ्चित् कल्पयित्वा आक्षेपसाधारणएव दोषपरिहारो वाच्यः.

(१५)

अन्तेतु *"तेजोऽभावे मायामोहितबुद्ध्या धर्मरूपो नीलगुणः किंवा नीलगुणवत्तमोधर्मी सृज्यते? उभयथापि न उपपद्यते अभावे गुणजनने शून्यवादापत्तिः भावे भावान्तररूपधर्मिजनने 'पीतः शंखः' इति भ्रमेऽपि पीतशंखजननापत्तिः"* इत्यादिको विकल्पजालः उट्टंकितः, सोऽपि न विचारसहिष्णुः, यस्माद् मायया नहि तेजोऽभावरूपाधिष्ठाने प्रत्युत नृचक्षुष्येव तमःसृष्टिः. किञ्च मायया नीलगुणवद्-धर्मिजननेऽपि न बाधा काचिद्. यद्यपि वाल्लभवेदान्तप्रक्रियायाम् अनभ्युपगतं तथापि इदं तावद् वक्तुं शक्यतएव यत् शंखपीतिमाभ्रमेऽपि लाघवविचारेण पीतिमाजननेन कृतकृत्या माया न पीतं शंखं जनयेत् किन्तु कदाचिद् जनयन्त्यपि नृनेत्रयोरेव तज्जन्यभासोपरक्तायां बुद्धावेव जनयेद् न पुनः शंखे इति. ततश्च भ्रान्तिजनक-कामलातंकरूपदोषोपघाते बुद्धौ सत्त्वगुणप्राबल्ये बुद्धिनयनयोः अभिभवं कर्तुम् अशक्नुवन्ती न किमपि मोहाय न जनयतीति न बाधा काचित्.

स्वपक्षशक्त्यभ्यसनाद्यभावेऽप्युपाश्रिता खेचरतात्र तन्त्रे।
ताथागतीये श्रुतिभूचरित्रा पतत्रिणा सात्मसमा मयैषा।।
इतोऽधिकायोद्गमनाय शक्तो नचास्मि युक्तेर्हि निराचिकीर्षुः।

तमःस्वरूपानुपपत्तयेऽस्मन्मते सुहृत्पारसनाथसूरेः।।

वस्तुतस्तु असंभावनाविपरीतभावनारहिता बुद्धि श्रद्धाध्यानसमाधिभजनविधौ अत्युपकारिणी न पुनः कस्यचिदपि विषयस्य युक्तायुक्तविमर्शे. तत्र असंभावना-विपरीतभावनाविमर्शरहिता बुद्धिः स्वस्यां तमएव सृजति न तत्त्वानुभूतिं तस्माद् वाल्लभवेदान्तीयसिद्धान्ते असम्भावनाविपरीतभावने असमर्थानां मादृशां कृते एतादृश्योः असम्भावनाविपरीतभावनयोः उपस्थापनेन न किं-किं साहाय्यं तत्र एभिः श्रीमद्भिः पारसनाथमहोदयैः आचरितम् इति कथं वयम् अनृणाः भवितुं शक्नुमः इति बहूपकारं प्रति स्वीयम् आधमर्ण्यं प्रकाशयन् विरमामि.

Darkness And Its Application In Chemical And Biocamical Process

Dr. Ankit Goswami

ABSTRACT :

Darkness has been treated in terms of its application to chemical and biochemical processes. It has been illustrated that even in one of the basic biochemical process the photosynthesis it would not have been possible for the living beings to survive if the light reaction was not followed by dark reaction, the step where energy necessary for living beings is produced. Thus in conclusion darkness is equally significant and important for both chemical and biochemical processes.

Introduction:

Word dark is as defined in dictionary means "with no or little light." It also has been defined as absence of light, especially at night. Further, it has been defined as "of colour more or less near black." Darkness thus means absence of light and a black body means a body which absorbs all the radiant light falling on it and reflects nothing. Although to my mind in common meaning dark is with relatively little light. However absolute darkness commonly doesn't refer to these meanings. We normally treat darkness or light in terms of our eye's perception.

The sun is the ultimate source of all energy in the biosphere. It accounts for 99.8% of our total energy supply. Solar energy permeates the earth as sun light. Light consists of bundles of energy called quanta. The energy contents of a quantum is proportional to the frequency of light. Shorter the wave length, higher the

frequency of light and higher the energy. Solar radiation reach the earth in short wave length consisting of heat and light.

The term light comprises of a small region of continuous electromagnetic spectrum of radiation energy emitted by sun. It also serves to mean those regions of spectrum to which human eye is sensitive. It includes, those wave lengths possessing sufficient energy to alter electronic energy leaves of atoms but not so much as to ionize them. Therefore, it includes not only light detectable by human eye or visible light but also near UV (Ultraviolet) and near IR (Infrared) regions. The range of visible region is determined by photochemical. Properties of human-visual pigment extending from 380 nm (nanometer) to 770 nm (nanometer). Any region beyond these wavelengths can be treated as darkness. Thus all the chemical reaction undergoing below or above these two border lines can also be treated as dark reactions.

Discussion:

Light has an important role in a variety of biochemical and chemical processes. It has no roll to play in equally big number of chemical or biochemical reactions. I would try to emphasize application of darkness in chemical and biochemical processes. The basic thrust of present discussion would be "Darkness and its application in chemical and biochemical reactions."

(1) In all the primordial organisms where food synthesis is not dependent on chemical reactions such as enzymatic reaction for their survival.

(2) Almost all the physiological processes of higher animals are taking place inside body where there is darkness. To enumerate,

chemical reactions of respiration, digestion, excretion, blood circulation, nervous activity, reproduction etc. would simply not alter even in dark. We all know that entire chemistry of human body smoothly functions in night when there is darkness. Thus it can be seen that light has no role to play in these chemical reactions.

(3) The fundamental laws of chemical combination do not define light as a factor responsible for proceeding of a chemical reaction except in case of photochemical reactions which are initiated by photons (light quanta).

(4) Broadly chemical reactions are categorized into two: Photo chemical and Thermal reactions. Those reactions which are not photochemical do not depend on light are thermal reactions are temperature dependent. These second type of reactions can be called 'dark reactions'. Hence, almost all ionic reactions covalent and co-ordinate bond based reactions which are thermal can be classified as dark reactions. As far as ionic reactions in terms of rates (fastness and slowness of a chemical reaction) are concerned, even the basic law of chemical as well as ionic equilibrilia explain (Guldberg and Waage's Rule and Le Chatalier's Principle) no role of light as such. The former states that "The rate of chemical reaction is proportional to the product of the active masses of the reacting substances", while latter states "If at equilibrium temperature, pressure and concentration is changed the equilibrium shifts to that direction by which the effect of these changes is destroyed." It clearly indicates that in both these laws there is absolutely no role of light is defined, or they are rather light independent. Few reactions to show above two laws can be quoted:

(i) $N_2 + 3H_2 \longrightarrow 2NH_3 + 22400$ Cal.

This is an Exothermic (evolving heat) reaction so when the equilibrium is attained in the reaction, and we reduce the temperature the equilibrium will be shifted to forward reaction producing more ammonia. Thus temperature has thought a role to play, light has no role to play.

(ii) $BaCl_2 + H_2SO_4 \longrightarrow BaSO_4 + 2HCL$
(precipitate)

The reaction is ionic and there is no defined of light, but temperature may be useful factor in deciding the course of reaction.

5. **Biochemical Processes:** To illustrate the application of darkness in biochemical processes, one final example of photosynthesis can be very appropriate. The primary producers of energy in the biosphere are plants or plant kingdom. The primary process of this energy production is photosynthesis. In common parlance photosynthesis is a process through which light from the sun is captured by chlorophyll (pigment of green plants) and this light is converted to energy necessary for the vital function of living beings. The energy thus captured by photosynthesis ultimately feeds not only the photosynthetic organisms i.e. plants themselves but also the animals that feed on the plants or these organisms. In photosynthesis CO_2 and H_2O are combined to form carbohydrate (Sugar) and O_2. It is known that blue and red light trigger the mechanism of photosynthesis. The energy thus produced is stored in plant as chemical bonds of carbohydrates and a molecule called ATP (Adenosine Triphosphate), which form the basic source of energy in all the living cells. High energy

phosphate bonds of each store 12000 calories and release 7500 calories when broken.

It was suggested by plant physiologist F.F. Blackman that photosynthesis is a two step mechanism involving.

(1) Photo chemical or light reaction and (2) non-photo-chemical or dark reaction. The photochemical reaction is temperature independent whereas dark reaction is temperature dependent. Since dark reaction is not controlled by light, and is equally important in energy dissipation significance of darkness is evident in this process. To further importance of dark reaction, Emerson and Arnold (1932) measured photosynthetic oxygen evolution under consecutive flashing light with dark intervals in between. It was concluded by the two scientists that the maximum yield of photosynthesis is determined not only by Flash intensity and the number of Cholophyll molecules capturing light, but also on the time intervals between flashes during which dark reactions are carried out by the enzyme molecules. This proves that in photosynthesis, dark reaction is equally important.

It can be summed up that the reducing power in the form of NADP/(NADPH) and chemical energy in the form ATP are produced in light reactions, whereas a cycle of enzyme catalyzed reactions (Calvin cycle) lead to reduction of CO_2 to carbohydrate comprising the dark reaction.

The overall chemical reactions which are taking place in photosynthesis can be shown as :

(1) Light reaction (2) Dark reaction (Calvin cycle)

Major reactions are:

I. $4H_2O \xrightarrow{\text{Light}} 4(OH) + 4H$

II. $4H + CO_2 \xrightarrow{\text{Clorophyll}} (CH_2) + H_2O$ ($C=4.8 \times 10^5$ J/mole)

III. $4(OH) \longrightarrow 2H_2O + O_2$

Dark reaction is using some part of energy produced at step II and finally the total reaction can be summed up as:

$$CO_2 + 4H_2O \longrightarrow (CH_2O) + 3H_2O + O_2^{*}$$

Comprising both light and dark reaction. It must be made clear that energy required for the Calvin cycle in the form of ATP and NADPH, comes from light reaction at step I and II.

The Calvin-Benson Cycle (dark reaction)

How the NADPH and ATP formed in the light reaction help in biosynthesis of complex carbon structure, has been well explained by Melvin Calvin and Andy Benson at the University of California at Berkeley. They have elucidated the following path way.

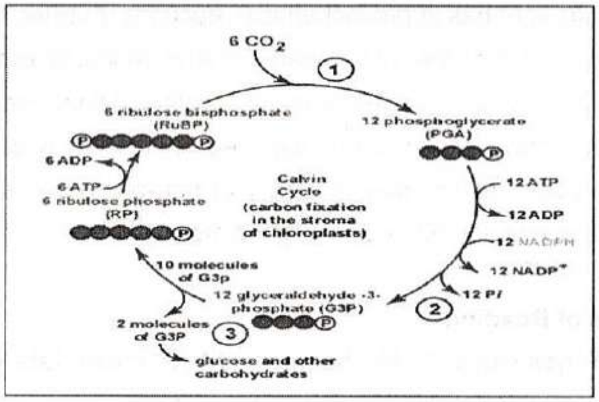

The cycle runs 6 times, each time incorporating a new carbon. Ribulose is a five-carbon sugars. Running through the cycle six times generates.

6 (5-carbon sugars) + 6 (incorporated carbon dioxides)

Those six carbon dioxides are reduced to glucose by the conversion of NADPH to NADP+. Glucose can now serve as a building block to make polysaccharides, other monosaccharides, fats, ammonia acids, nucleotides and all the molecules living things require.

Thus the above discussion clearly shows that dark reaction of thos important process on which living beings depend for energy has very significant role. It no more needs any further proof how useful the darkness is.

Conclusions:

In the above discussion it is clearly evident that all the thermal reactions which form major part of chemistry are dark reactions. It can be said that darkness has importance in chemical reactions as much as light has in photochemical reactions. Further, the biochemical processes are not hampered at all in darkness, enzymatic reactions even have no significant role of light and finally half of the photosynthesis is dependent on dark reaction. In a way darkness has very useful role to play in variety of non-photosynthetic processes in plants and other such organisms.

Sources of Reading:

1. Plant Physiology by S. Mukhergee and A.K. Ghosh, Tata Mcgraw Hill, New – Delhi (1996).

2. Dark reactions in Chemistry (internet)
3. Co-ordination Chemistry by D. Banerjea, Tata McGraw Hill (1973).
4. Basic Principles of Organic Chemistry by John D. Robert and Marjorie C. Caserio. W.A. Benjamin. Inc. New York (1965).

DARKNESS AND ITS APPLICATION IN CHEMICAL AND BIOCAMICAL PROCESSES

डॉ. अंकित गोस्वामी

व. ना. झा : When you say dark reaction what is its state? There is total absence of light?

अंकित गोस्वामी : In fact total darkness is unimaginable in terms of wave lengths. Because we are broadly dividing the spectrum of light in to three major regions. It is visible region what our eye perceives, the ultra violate region which is bellow the visible region and the infrared which is above the visible region. So to say, this is absolute darkness, to my mind its not in fact a fact. Because we have not tried in absolute darkness any chemical reaction. Of course we have such examples where we don't have any use of light as such. So this is what my thrust is that. Of course if we attempt to go for such a situation what you assume that there is no light at all. So would it be possible to achieve the situation?

व. ना. झा : If suppose there is some degree of light present. And that quantity of light is not giving any effect or that kind of light giving an effect. Is it the light that is giving effect of that quantity not the quantity where we can say that there is a light, why do you call it a dark reaction?

अंकित गोस्वामी: Dark reaction in fact for the photosynthetic itself. It is very clear that the other half of the photosynthetic procedure is conducted in night only. That is when there is no

light. As such what we perceive is visible some solar light. But when there is no light in night the other half of photosynthesis being processed. That is conversion of the carbondioxide to sugar. So that is how if there was no dark reaction perhaps the entire photosynthetic process would not have happened. So that is what it is clearly showing that in fact dark reaction has to follow the light reaction. Otherwise light reaction has no role to play. And that is important role which is basically converting the chemical in to energy form. So without which the photosynthesis would not have been possible at all.

व. ना. झा : In one of the definitions of Andhakara, one adjective has been added "Prakashaka tejo abhava". So it is not that the total absence, but absence of that light which can illumine. So that kind of absence is intended, not the total absence of that perhaps that quantity of light which does not illuminate anything. So that matches with what description he is giving, so far as the reactions are dark concerned.

अंकित गोस्वामी : I have got so many examples, of course this is a small paper, In fact the entire flora and fauna in the depth of sea is filtering out certain wave lengths from the visible region. Like that surface there is visible light where total photosynthesis on the visible region only. Below that its ultra violate or lower frequencies of light. Then in depth of the sea where there is absolute darkness in terms of our perception, there are so many processes going on. And total flora and fauna is entirely successfully managing the things. So that is why, to my mind, I don't thing that there is something like absolute darkness.

एस्. वी. बोकिल : Now Consider the example of development of an embryo in mother's womb. Is there any kind of photosyn-

thesis? Isn't it takes place in darkness?

अंकित गोस्वामी: Photosynthesis is only in plants. Because unless we have....that is not possible.

एस्. वी. बोकिल : How do you explain that phenomenon? The growth of baby in mother's womb.

अंकित गोस्वामी : If we are talking in comparison with our eye, there is no light. But the stimuli of light may have effect on the development of the baby. But the physiochemical process of respiration, digestion they are not hampered at all even if mother is in complete dark. May be the photosynthesis is equally effected similarly the respiration, the blood circulation of that fetus would not be effected if at all we are keeping mother in dark. It can be seen. Those reactions are not dependent on light at all. E.g. conversion of oxygen, oxygen is absorbed by the blood. The hemoglobin is being converted in to oxy hemoglobin and the circulation of the blood oxygen to various organs of the body. So there is no role of light as such. The blood circulation will go itself even in absence of light. So that is how we can say that of course darkness has lot of application there.

मंगला चिंचोरे :: Whether with reference to dark reactions, we can make a distinction between leaving and non leaving?

अंकित गोस्वामी : Yes. Of course chemistry as far as the ionic reactions are concerned. E.g. I have quoted some chemical reactions like precipitation, the analytical chemistry part, that is absolutely nonleaving beings. Its not a part of leaving beings.

मंगला चिंचोरे : That is why I am asking that whether there is a reaction differences in between leaving and non leaving. If it is then we can say that darkness with reference to leaving world is to be understood in a different manner al together.

अंकित गोस्वामी : No, but as far as the chemical reactions are concerned they don't differentiate leaving and non leaving beings. Because mainly any chemical reaction whether it is happening in the body or otherwise its a chemical reaction. We can call it biochemical reaction only because it is related with some biology. otherwise that is absolutely a chemical reaction. So in that term we can not differentiate that way.

तु. ह. दाते : Elvin cycle. It is run six times. So how the six time is arrived at? Whether experimentally or is there any other motivation behind that?

अंकित गोस्वामी : No, it has been experimentally proved. Because the number of ATPs, I have mentioned this that total number of ATP are kept in reserved to keep some energy in reserve. So only in six times the sufficient energy for biochemical process is over. And the remaining energy is stored. So that way it is experimentally proved by scientists that it runs six times only.

तु. ह. दाते : If the darkness is increased, time factor wise, then what are the effects on photosynthetic process? Is there any experimental evidence?

अंकित गोस्वामी : The oxygen evolution that is the consequence of photosynthesis. Because photosynthesis is simply carbon dioxide is converted in sugar and evolution of oxygen. So yield of oxygen has been found to be increased in case of gap of time of darkness has been increased. That has been mentioned here. That clearly proves that the gape of time that is dark reaction is taking place only in that particular gap when we have kept that in dark. So more the gap more is the oxygen evolution. That has been proved in that.

मंगला चिंचोरे : You said that there is threshold of visibility with refer-

ence to human beings. Whether the threshold of visibility with reference to various people varies? Say Yogins have deferent threshold, they can see little bit bellow or higher! Can they develop the threshold...

अंकित गोस्वामी : No, as far as human beings are concerned we have 380 to 780 nanometer. It is experimentally proved. Bellow that we won't be able to see.

मंगला चिंचोरे : With reference to other species whether threshold are different?

अंकित गोस्वामी : Yas, of course!

मंगला चिंचोरे : Each category of each species have a different threshold?

अंकित गोस्वामी : To my knowledge that kind of chart is not available that what kind of animal is having what threshold. There may be some available sources.

मंगला चिंचोरे : We are told that the Yogins can see even in darkness.

अंकित गोस्वामी : Perhaps that is an exception.

The Nature of Darkness From the Viewpoint of Astrophysics

Prof. V. G. Bhide

Respected chairman and friends, it's indeed a great pleasure and perhaps a rare privilege to join this seminar organised by ShreeVallabhacharya trust on concept of darkness. Darkness is normally defined as absence of light. And therefore, to understand darkness, it is necessary to understand light. What is light? Light is a special significance in the life of all living organisms. I will not go into details as to how light sustains life on this planet but I would like to emphasise that I get to know the external world of things and beings of interactions between the living and non-living through light. We see the external world, we perceive the external world and we act through the external world by the message is conveyed above the external world through my sensual organs such as an eye. We have five Jnanendriyas. The most important Jnanendriya, as far as human being is concerned, is the eye. This is a consequence of the evolutionary drive and compulsions. Because man is essentially a diurnal(active during the day) organism is not an nocturnal organism. In organisms which are concerned with night or nocturnal organisms. The sensation of vision is not that developed as that in the human beings and the primates. We see the external world. What is meant by seeing is a question which has baffled the scientists and even ordinary men. A noble prize winner Mr. Panfilled* says that we know so much about vision and we will try to understand more about it but all that does not even remotely point to what is meant by seeing. In the process of seeing there are various systems in the human body that are concerned. Of course the one is the eye. The light from any object falls on the lance of the eye it casts image on the retina, the image is inverted. But I see it, I perceive an object

up right. This is the magic of the brain that makes you feel and see. Electrical signals are produced because of the rods and cones on the retina and these signals are transmitted to the brain through the optic nerves is a profound question as to whether it is only the brain or the brain and the mind that makes you see and perceive or to get the cognition of the external world. Again I will not go into details except to say that each one of us carries his own world in his brain. And the world that I carry in my brain is not necessarily the world that lies outside. It is not in the relation to the objective reality but also in relation to subjective reality. Because there is nothing like beauty and ugliness in the universe. But I perceive beauty in some and I perceive ugliness in others. In fact, when the electric pulses go into the brain, they are analysed in the visual cortex and that too the analysis is carried out in the different regions in the cortex. And there is something which integrates the response from the various parts of the brain to give you a visual impression or cognition of what I see outside. People sometimes feel that there is some little man sitting inside my brain who sees a screen in the brain but is nothing like this. I see essentially because of the neural actions and the neural network that exists in the brain. Similarly, I act in the external world through my Karmendriyas. Psychologists have been interested in finding out merely how stimulus from external world is conveyed to the brain which leads to cognition and how that cognition results in the response or in the action that is taken. This is very fascinating area to investigate. The question that comes in is that brain is attached to my body. I have the picture of the external world in my brain. And again I will say that it is not necessary what exists in the external world. Similarly although my brain is attached to my body but my body is what is in the brain. Therefore, the brain is the basic entity not only of the human being but of all living creatures. If individual neuron is a dumb, dull but is the assembly of neurons in certain fashion that makes me see not only objects and faces but even expressions of the faces. It also enables me to find out intentions from the fine expressions of the body lan-

guage that I see. It's a very fascinating story.

The nearest comparison to the human brain is computer. But the computer is a far different from the human brain. Again I will not discuss this except to say that our brain has been evolved because of the evolutionary drives and compulsions where as the brain that conceived by man is a product of the need to crunch numbers, to do something specific. The two are absolutely different. The man made computer will never be able to recognise a face, will never be able to recognise the expressions on the faces. There are other basic differences except to emphasise that I get to know the external world because of the light that I get through my eyes. There are other sources also the sound, the smell and so forth. But as far as human being is concerned, it is a vision that is most important. The vision also plays or light also plays a very dominant role in the way the Physics looks at the universe. The whole quantum theory, the whole relatively has arisen because of one concept which Einstein suggested that nothing can travel with the velocity greater than the velocity of light. The whole theory is based on that one. This is an add hock assumption as a postulate. Later on we were find that it is true but is a postulate that comes... I see a source of light. I see objects because the light is captured by that object or it is reflected from that object. And therefore my sensation of vision depends either on an object which emits light or an object which scatters light and so and so.

The second point which I would like to mention that light as we understand in the common parlance is nothing but an electro magnetic radiation with a very narrow band wave lengths. The wave length ranges from 3000 angstroms to 6000 angstroms. That is called the visible part of the spectrum. But electro magnetic spectrum is huge spectrum. Beyond the infra red, the radio frequencies, the microwaves and so on. On this side we have violet, the ultra violet X-rays, the gamma rays and so on. Our

conception of the light is only restricted to the visible part of the spectrum. The Physicists would not agree with this. Physicists deal with the entire electromagnetic radiation spectrum. The spectrum which involves the wave lengths of the order of a millimeter or micro millimeter going down to huge wave lengths and so on. And what we see is a visible part of spectrum because my retina is sensitive only to the visible part of spectrum. If the visible light is not there, it does not mean that it is dark. And therefore, there could be a radiation which I am not capable enough to perceive. And therefore if one talks about darkness, the darkness is not merely the absence of the visible light. It would be absence of any electromagnetic radiation. But then electromagnetic radiation is emitted by anybody. This radiation spectrum is determined by the temperature of the body. What we call black body radiation. The black body radiation depends on the temperature. Say for example, I, my temperature is about 37 degree cg is 310 degree absolutely. I emit radiation. You can't see the radiation emitted by me, but possibly you can feel the radiation or you feel light emitted by me in certain situation. Say for example if you go to a cinema hall, which is a crowded cinema hall, you are sitting there and because of the efficiency of MSCV, the lights gone, the fans also gone and we have 800 people sitting there and each one is a source of infra red radiation. Therefore it becomes absolutely uncomfortable for me to see and we can even detect the radiation emitted by anybody. This microphone is emitting, this piece of glass is emitting, I am emitting and so on. So everybody in the universe emits radiation, emits light, if you call light as an electromagnetic radiation. And therefore, if I call darkness as absence of light a physicist would imply that darkness mean the absence of any kind of electromagnetic radiation. And if there is no radiation at all then there is no light source or there is no source which would scatter light from it which will go to my eyes. For example if you go in upper space, in the upper space sun's radiation is coming in. But there is nothing to scatter light in the outer space and therefore when I look at the earth from the satellite I

see complete darkness outside and see the light through the earth. So there is complete darkness in the universe, in the inter galactic spaces because there is nothing that can scatter light that will make me visible. And therefore, the concept of darkness in contrast to concept of light, the concept of light would imply a light source, a source which scatters light, reflects light and so on so forth. Darkness would, therefore mean, ideal darkness, the ideal darkness would mean absence of any kind of electromagnetic radiation. Absence of electromagnetic radiation as well as absence of any object in the space. So ideal darkness, there is no radiation, not even in the visible ultraviolet and so on and so, forth. If there is no radiation then there is no body which normally radiates and there is nobody which will scatter radiation. Therefore, absolute darkness would also imply absolute vacuum. That is nothing is there .... Therefore the darkness has to be viewed in this direction. Suppose I have a chamber which is totally dark and I shine light into the chamber, the light will go from one end to the other but I will not be able to see light going across the chamber. Because there is nothing which in the chamber which scatter light. And therefore ideal darkness a physicist would imply is nothing but a body of a different kind. I will come to that one. The enclosure in which there is no electromagnetic radiation of any kind, there are no objects of any kind or it is complete absence of radiation and complete absence of any material being inside.

Now, if that be the case, there is another concept of darkness which I will point out that I see light coming from the piece of glass because light from the tube comes is scattered and I see. Suppose I have a source like this, and the bulb emits radiation, because the atoms get to exit ...and come down and emit radiation. The light is emitted out side the source. It goes out in form of photons ... But suppose I got a body whose density becomes larger & larger, than the ray of light or a particle of light will be attracted with that body because there is gravitational force. And

the way the light will be going out will suffer or experience gravitational attraction. If the density of the body goes on increasing & increasing & increasing, becomes very large so that the gravitational attraction is so strong that even light can not escape from that body. In that case, that body is a source of light, but is not emitting radiation and therefore I perceive this is totally dark. And that body is called a black hole. A physicist called a black hole is, what you call, a sort of acemetery or a point of singularity, infinite density, infinite gravitational force. Anything that goes into resact into that one. Therefore, the concept of black-hole is a different kind of concept. It is dark, but not dark of the type that we talked about when we talked about the light source and the vacuum. Here is a tremendously dance material, density is infinite. At the same time it appears dark because even the ray of light is not allowed to pass through. The ray of light has an effective mass and as two masses are attracted similarly that effective mass of the photon of light is attracted with the body & becomes a black hole. So that the concept of darkness has two connotations in physics. One, there is an enclosure or darkness is total absence of electromagnetic radiation, which I even can not conceive because body at any temperature must radiate that is our concept. And therefore, how is this darkness produced? Therefore, in the eyes of physicists darkness is an ideal thing which is not available in the practical world. So this is one. This is a concept just as a point in nucleic geometry has no dimension, has no heights, no thickness, but its existence is manifest when one point joins another point to make a line. Similarly, an individual in the world has no existence unless individual joins to his members of the family, members of the society and so on. Therefore, as Einstein said I am in this world not for myself but for others. Therefore, the light is associate with body, as a darkness, ideal darkness is an absence of anybody. We have not been able to find out a body or a piece of matter which would not radiate, a body must radiate even there is a concept what is called zero point radiation which I will not again go into the details. But the point one wants to stress is ideal

darkness is total lack of any electromagnetic radiation which I may not perceive but other instruments can perceive, is a total absence where any material body of course even living body and therefore, is a singularity in the sense things which eye practically see it on the earth. The other extreme of darkness is a black hole. A black hole is again a thing wherefrom no light can come in and we will get, what you call...tula ...tula, even the light can not escape so it will appear dark. There is again a singularity. So darkness in the eyes of a physicist would imply two singularities and two extreme ends. One extreme end is a total absence of any matter. Total absence of any electromagnetic radiation. On this side we have got a body full of matter. The density is so infinitely large and yet it appears dark. That is a singularity, this also is a singularity.

Now, to stretch this argument further, the universe was also born out of darkness. If you look at the original universe, as people have traced, scientists have traced. And to put it in a very short way, that people measured the distances of galaxies. There are ... galaxies in this universe. We measured the distances of galaxies, we measured the velocities. And peculiar observation was made by Advin Hubbell that any two galaxies in the universe move apart from each other with the velocity proportion the distance between them. What sort of universe is that in which any two galaxies, out of 1000000000000 galaxies move apart from each other, go away from each other. Later on they found, it can only happen if the universe is an expanding universe. They came to the conclusion that what we are living in is an expanding universe. Universe is continuously expanding. That is, yesterday's universe was slightly smaller than today's universe. Universe hundred year back was smaller then today's universe. If you steeple at backwards, as you back and back, you will find the universe shrinking to a very small size. Ultimately, everything in the universe will come to a point and there the temperature will be very high. The density will also be infinitely high, something like a black hole. Therefore, people

have now more or less convincingly shown that universe was born through a mighty explosion in the darkness. In the Nasadiya Sukta they have written that at the point of the origin of universe, there was no light, there was no darkness, there was no matter and so and so. It profoundly explains the origin of the universe. And when the universe was originated, before that, and I might mention that the physicists have traced the evaluation right from the time, the universe was born till today. The strength of Science lies in the fact that I can tell you precisely what was the size of the universe, what was the temperature of the universe, what was the composition of the universe during any time during last twenty billion years. But I can not tell how the universe was born. I infer that the universe was born before this. I can not tell anything what was their prior to the birth of the universe. But inference is that there was nothing. Suddenly the explosion took place from a point and the universe was born. That's why we say it is a big origin of the universe. Universe was born out of darkness. So darkness has given raise to this total universe. This is a conjecture substantiated by large evidence, but we can not prove it. This is the inability of today's theories of quantum mechanics relativity and so on. Because a at that point of time the density of the universe was so large that my theory of relativity will break down. My theory of relativity is for flat space at that point the curvature was very great and for curved space I don't have a theory similar to theory of relativity. Secondly, I can not even visualise through experiments what might have happened at the time of the universe. So we say that we can predict exactly and precisely what happened after the universe was born right upto today but we can not say positively anything before that or how the universe was born or at the time of the birth of the universe of prior of the birth of the universe.

Stephen Hawking write beautifully on this. He says, "I don't know whether the god started the universe. But if god started the universe, I can tell positively that god checked the temptation of interfering in

the evaluation of the universe and allowed it to evolve strictly according to laws of Physics and Chemistry". So that is an arrogance of a Mathematical physicist , so that is how .....because they are convinced, I can tell right up to that place but before that I can not. Therefore, the other concept of darkness that is implied for a physicist is darkness led to the birth of this universe. And there is a concept of what you call a vacuum energy. As you go down to space, smaller and smaller the wave length becomes smaller and the energy becomes larger. So the infinite ...I will not go into details because it is highly complex Mathematic ...

But the point that one wants to stress is darkness as a performed meaning as far as physicist is concerned. It baffles physicist as to what is absolute darkness. Absolute darkness on one side is a singularity which would imply ultimate vacuum absence of anything. I can not conceive of anything where there is nothing. Or there is another singularity, which is highly dance source but nothing can come out of it. Later on I was told that Dr. Date talked about dark matter. Now the universe is expanding. It is continuously expanding. The question is how long will it expand? Or will it expand for certain time and stop expansion and contract? Will that happen? And the people have tried to find out what will happen. And now the theory suggests that the universe will continuously expand if the density of the universe is less than a certain critical density. If the density of the universe is greater than a certain critical density, then it will expand and start contract. And people now trying to measure the density of the universe. Measuring the density of the universe but finds that if I measure the density of visible matter, then the density comes out to a very small. And it would not even explain the way the universe is expanded. Therefore the people have postulated that in addition to visible matter, there is something like a Dark Matter which I think Prof. Date has talked about. So the concept of darkness as far as a physicist is concerned is a very profound concept. A concept which implies singularity. It implies two ideal

situations which are not practical, is concept which originated in the birth of the universe. So profound concept of darkness.

I am not aware, I am not a student of Vedas, of the Upanishad. But I am certainly love to understand what is the concept of darkness in our ancient scriptures. How do you perceive darkness? The physicists as I said perceive darkness and as far as they are concerned, darkness is something which is ideal, which does not exist. Singularity is on one side, singularity of other kind is on other side, darkness which gave rise to the universe and so & so. So it is still a thing which we have not been able to understand. We have been able to put it in such a language that A or something similar to that god exist or not. Therefore a physicist would say, "I don't know whether darkness exists or not. But if the darkness is of the type the physicists define, then such a darkness is not possible. We, as an ideal approximation to what we have. And so I thought I would convey how physicists look at the darkness. Physicists look at the darkness two ideal situations – absence of anything and full of something so that the gravitational field is so large that even the ray of light can not come out of it. And a darkness which gave rise to the birth of the universe. Thank you very much..

चर्चा

The Nature of Darkness From the Viewpoint of Astrophysics

प्रो. वी. जी. भीडे

कृष्णमूर्ति शास्त्री : What is the difference between brain and mind?

वी. जी. भीडे : I will explain very briefly. If you look at the brain of any living organism, it has a large number of neurons.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : It is attached to the body.

वी. जी. भीडे : It is attached to the body.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : Mind is attached to what?

वी. जी. भीडे : I am coming to that. I just give a simple example. In my eye the lance causes image on the retina. There are rods and cones on the retina. The electric pulses are conveyed to the brain through an optic nerve. The optic nerve passes through a small hole in the retina. And that hole is insensitive to any light coming in. When I get the image of a distant object, falling on to it, there is a hole. But I don't see the hole in the image that I perceive. I perceive a hole like this. But in practice, in actuality, there is a hole in the retina on which certain patch of red tile is there. The information is absent as far as it is conveyed to the brain. But this filling in process takes place. The filling in process takes place because of the mind. So mind supplements the brain both in terms of cognition and in .... Can you look at a mind? The point is if you consider human brain as a computer. The computer has two things : a hard ware and a soft ware. A hard ware is the pieces of transistors and this and that. But someone is to programme a computer. And if a human brain

is there, the question is, who programmed my computer? If you look at the whole process of evaluation you will find that each of the species their brains are prgrammed by evolutionary drives and compulsions. For example, a bird. Bird navigates from Siberia to India every year from five thousand kilometers. And precisely it comes from that place to Bharatpur. Now the question is, how does that bird know the way to come to Bharatpur so accurately? And then the people have tried to understand that they navigate looking at the sky, the positions of the constellation and so on. So they have been given wisdom for the brain faculty to navigate over such a long distance. If you take a small ant on a desert, the ant moves across, finds out a dead insect, takes the food and drives back to the ant hill. ...and you will get confused that what has happened. How does it retreads its path? Now people have shown that ants have a mechanism of path integration. That is, it goes, it measures the time required and the velocity etc. From this it measures the distance. So every living has the faculties of the brain molded, patterned or developed by the by the evolutionary drives. And, therefore, the mind which means nothing but the neuron circuits that have been formed, is a consequence of evaluation. But it is not the consciousness of it. It is fine tuned by experience through out my life. And my experience throughout life, life is nothing but a flow of experiences. And experience is what makes me rather than what happens to me. This is the difference between two.

And therefore, say for example, when I was a small child, my parents told me that if you see a snake, you should be afraid of it, you should run away. And therefore, subsequently when I see cobra on the road, I start jumping.

It's not an unprogrammed reaction. It's a programmed reaction. But a programmed reaction because it is the experience that I have got. The other person who is a snake charmer. The snake charmer's son has been told that when you see a snake, you should take a flute and play the flute. So he does that. Therefore his whole mental attitude is conditioned by the experiences that he gets. And third person who sees a cobra as a manifestation of Lord Shiva. And he starts bowing and falling flat on it. And therefore the whole mind is a consequence of ...and it is a distribute, it is a software that is created for operating the human hardware.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : What is ideal darkness and practical darkness?

व. ना. झा : He has imagined two kinds of darkness. One darkness is total absence of radiation and another, full of radiation but the radiations are not coming out. So from which darkness the universes is born that is his question.

वी. जी. भीडे : That is second part. The explosion took place. The density was very-very high beginning.

व. ना. झा : The another kind of darkness which is total absence of radiations, what makes you postulate this?

वी. जी. भीडे : When you take any body, it radiates. But if there is no radiation, there is no body. Right? I see a body because light is scattered. But I don't see light and therefore there is no body, no light. And therefore, in one concept, absence of any electromagnetic radiation, absence of any body would imply darkness. Now, this is an ideal proposition because as far as physics is concerned, there can not be any body which does not radiate, right? So this is an ideal situation which I can not ...... only in approximation I can conceive.

Secondly, I go on increasing density further and further, and gravitational attraction is so large that even light

can not come out of it. And that is a black hole. This is another singularity, right? I perceive this is black, total darkness because nothing can come out of it and anything that goes nearby, will go in deep inside into it. That is another type of darkness that we are aware of.

Third if we go into the origin of the universe. The origin of the universe, we come down as an expanding universe ... must be contracting and a stage will come when everything in the universe at a point and just as you take a balloon, you expand, it expands. If you compress that balloon, the temperature increases, right? Because you are putting your energy into the gas. And therefore as the universe gets compressing, as you go in the past, it will get heated. So yesterday's universe is hotter than today's universe. It is not the temperature in Pune but the intergalactic space. Ten years earlier, the universe was still hot, hundred years earlier it was still hot and as you go back in approximation. At the origin of the universe the temperature of the universe was infinite. It was very high temperature. High temperature means tremendous radiation. because any body that is heated, emits radiation. So that is the concept of the origin of universe. But prior to that what happened is darkness. Because there is nothing in it. At least I can not say what was there.

प्रह्लादाचार : I think it is really very fascinating narration of the quantum physicists' theory of darkness. I think it is really impressing to all the traditional schools of Indian philosophy except the Nyaya-Vaisheshika school. The Nyaya-Vaisheshika school hold that darkness is nothing but the absence of light. But Vedanta schools even the Bhatta school, they hold the theory that the darkness is a positive

entity. It has colour, it has dimension, it has movement. So these characteristics belong to only a substance a, positive entity. Therefore, darkness is a positive entity. This is the theory held by the various schools of Indian philosophy. I think, I don't know how to reconcyle. That is one thing.

व. ना. झा : Yesterday Goswamiji was telling us that creator Brahman is called Tamas. So which may come very closer to your radiation, but without any ......the big bang kind of Darkness.

प्रह्लादाचार : From the Vallabha school I think we can explain in a different manner also. Andhakar according to the Vallabha school is an illusion. Am I correct? Andhakar actually does not exist.

गो. श्या. म. : For us all the things have three aspects. आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक. "यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्, यथा देवी तथा कृष्णः". That's our stand. So we have Adhidaivic darkness, Adhyatmika darkness, Adhibhautika darkness as well as illusionary Mayika darkness. Four kinds of darkness.

प्रह्लादाचार : Between Adhibhautika darkness and Mayika darkness I don't think there is much difference.

गो. श्या. म. : There is difference because Adhibhautika darkness consists of physical reality, while the Mayika darkness is not constituted of physical reality.

प्रह्लादाचार : The darkness that we see here is Adhibhautika darkness or Mayika ?

गो. श्या. म. : It has two aspects : Adhibhautika aspect and Mayika aspect. The Mayik one is absolutely nonexistent and nonreal. Whereas Bhautika darkness is constituted of physical reality. Bhagavat says "यथार्करश्मिप्रभवो घनो हि अर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः". Clouds are considered as

Tamas. They are not illusionary. They have physical reality. So there is some darkness, physical reality also.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : चक्षुषस्तमःफ मतलब चक्षुका निरोधन करता है. लेकिन सूर्यप्रकाश...

गो. श्या. म. : सर्वाण्यपि तमांसि अन्धकारः इति उच्यते. अनन्धम् अन्धं करोति इति अन्धकारः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : बहुत अच्छा.

तु. ह. दाते : I want to bring in to kind notice of Prof. Bhide that Goswamiji presented very nice paper on Vallabha view about darkness. He has brought both objective and subjective of the universe. And what you just explained was coordinated by him in his literature. Last three days what I found is that there is a lot from Vedas which scientists can get inspiration and we can put the theories...even big bang theory is rejected at present and some new concepts are coming up. And the stagnation point is there for science development. I hope the proceedings of this conference will bring some valuable concepts to have some inspiration for scientists.

प्रह्लादाचार : The vedanta school hold that darkness has a colour. If it is absence of light, absence can not have nay colour. That is one thing. And movement is seen...

वी. जी. भीडे : Even in physics what one would associate wavelengths with colour. If you take iron rod and put it in to furness it get heated. At temperature about 800 degrees it appears red. As you heat it further the colour of radiation goes on change. So colour and radiation has a relationship between. The higher the temperature the lower is the wavelength. So we associate a radiation with colour. So if there is no radiation there will be no colour.

प्रह्लादाचार : My question is, when there is andhakara, we see blackness, is it a colour or it is just an illusion of colour?

वी. जी. भीडे : I see darkness. Now when I get old enough I see a thing and I call it dark which you will not. Your eyes are still more sensitive to perceive the light coming from...

व. ना. झा : Now let us take that example where everybody calls it is dark.

वी. जी. भीडे : That is ideal darkness. No radiation is coming from there. And therefore there is no body exists.

प्रह्लादाचार : If it is so how can it have colour?

बलिराम शुक्ल : Absence of colour is taken as black colour.

वी. जी. भीडे : Prahladachar : Are we see really a colour...

वी. जी. भीडे : No. No. We would not say, no colour means nothing. A radiation would mean colour.

प्रह्लादाचार : Ok. In the absence of any rediation...

वी. जी. भीडे : No colour.

प्रह्लादाचार : But we are seeing colour. It seems very black!

वी. जी. भीडे : You see black because you see absence of light. And you call that black.

अंकित गोस्वामी : No radiation is coming out, there is no wavelength is coming out, obviously there is no colour. You may call it a colour but there is no colour.

तु. ह. दाते : Darkness is belonging to Tamas that means it is absence of everything. So what we call dark in an objective sense is not belonging to the sense of Andhakara Vada that is what I feel.

प्रह्लादाचार : What about the movement?

वी. जी. भीडे : There is no movement. Nothing is there.

प्रह्लादाचार : When a person moves, shadow also moves. It is a Nyaya-Vaisheshika theory.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : दीपप्रसारणाप्रसारणानुविधायित्वात् तमसः औपाधिकं तत्. दीपे विद्यमाने गतिः तत्र आरोप्यते इति एषां वादः. The total ab-

sence of light can not be andhakara, because in midnight we see the constellations...

वी. जी. भीडे : Because stars are radiating. They have source of light. The light is there somewhere?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तेजःसामान्याभावाभावेपि तमसः ग्रहणात्. तेजः-सामान्याभावः तमः इति कथम्? तदनन्तरं भवद्भिः ...प्रौढप्रकाशकतेजःसामान्यभावः इत्यादि इत्यादि. परन्तु प्रौढप्रकाशे सत्यपि ...

प्रह्लादाचार : सत्यम्. तत्र विरल-निबिड-निबिडतरत्वादि उत्कर्षापकर्ष... जायते. ...परन्तु यावत् तेजोभावः एकः तदपेक्षया किञ्चित् न्यूनतेजोभावः अन्यः, तदपेक्षयापि किञ्चित् न्यूनतेजोभावः अन्यः. एवम् अभावाः भिन्नाः सन्ति प्रतियोगिभेदात्. अतएव तमसि उत्कार्षापकर्षभ्रान्तिः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्रतियोगिनिष्ठस्य तत्र भानम्.

प्रह्लादाचार : तत् प्रतियोगिनि यत् न्यूनातिरेकभावः वर्तते.

वी. जी. भीडे : I take a picture by the camera. There is a photographic plate. It is sensitive to ten photons coming in on that particular area per square millimeter then only it will ...light otherwise there is a minimum threshold. I improve this photographic plate so that I can get one photon per second. So what earlier photographic plate says dark, this will say no, there is light. I change it to CCD i.e. charged couple device which can detect even one in one minute if it is coming ....So CCD will say there is light which other two photographic plats say there is darkness. So you go on starching this and in ideal situation, which is not practical, no radiations comes at all. That is darkness. Which is not perceivable, not measurable, which you can not detect.

My humble request, because I have many occasions of talking to people who are very versed in Vedanta, Mimamsa, Nyaya etc. my humble request to these people

that you look at Vedas in the light of modern knowledge. I think we should over that whatever is written in Vedas is correct. This is a fallacy. We must get out of it. Then alone we will be able to get what real message of Vedas is. The strength of science is I can prove it. I can demonstrate that there is something which my human senses can not be able to prove. Ultraviolet radiations human senses can not see, but it still exist. Therefore one must go beyond this narrow psychology and tray to get down to what the Vedas say. And there is tremendous amount of knowledge is there. But this knowledge is not brought to the modern world. Is not interpreted to the younger generation in a language which they can understand. So the need of today is to bring out our philosophy in a language which younger generation can understand. And the younger generation is brought up in the tradition of science. Therefore we must sit down together, analyse our scriptures, take in to consideration the modern revolutions of science and synthesises science and the Vedas.

प्रह्लादाचार : You said that universe is expanding. This universe is inclusive of the space. So to expand it needs some space, isn't it?

वी. जी. भीडे : Yas.

प्रह्लादाचार : That space is not a part of this universe.

वी. जी. भीडे : Total vacuum. In vacuum it is expanding.

प्रह्लादाचार : Vacuum and space. I don't think there is difference between the two. But if the universe consists of everything, including the space, vacuum, then where can it expand? Suppose there is vacuum outside the universe, then your concept of universe is very much limited, I think.

तु. ह. दाते : That is the paradox which is not resolved by science.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : यद्यपि आकाशः विश्वस्मिन् अन्तर्भूतः परन्तु आकाशभिन्नपदार्थानामेव एवम् एवम् विस्तारः इति तु वक्तुं शक्यते इति अहं मन्ये, तथा चेत्.

मंगला चिंचोरे : Especilly from the point of view of Buddhism I am asking that if at all we are saying that the entire universe is started from no matter or darkness. Is it like Buddhist Shunya?

वी. जी. भीडे : Universe started with the big bang. Temperature was very high. At that point of time non of us could be there because temperature was so high. No atoms could be there. The nucleolus can not be there. There is nothing except radiation. So it was a radiation dominated universe. Radiation is ...particles collide...when the two collide, matter can be created. So energy gave rise to matter. Matter when it combined in a peculiar form gave rise to light. And in light consciousness evolved. That is how the evolution is ...